स्वामी श्री निश्चलदासजी विरचित

वृत्ति प्रभाकर

(सरल हिन्दी भाषा में वेदान्त का अनुपम ग्रन्थ)

●

सम्पादक :

डॉ० चमनलाल गौतम

रचयिता—तत्वानुसंधान, पञ्चदशी, विचार सागर, विचार चन्द्रोदय, ब्रह्मसूत्र, सौंदर्य लहरी, उपदेश साहस्री, पञ्चीकरण आदि

●

प्रकाशक :

संस्कृति संस्थान

ख्वाजाकुतुब, (वेद नगर) बरेली—२४३००१ (उ०प्र०)

फोन नं० ४२४२

प्रकाशक :

डॉ० चमनलाल गौतम

संस्कृति संस्थान,

ख्वाजा कुतुब (वेद नगर)

बरेली–२४३००३ (उ० प्र०)

फोन : ४२४२

●

सम्पादक :

डॉ० चमनलाल गौतम

●

●

द्वितीय संस्करण

१९८१

●

मुद्रक :

शैलेन्द्र बी० माहेश्वरी

नव ज्योति प्रेस,

भीकचन्द मार्ग, मथुरा।

मूल्य :

बाइस रुपये मात्र

दो शब्द

प्रस्तुत ग्रन्थ महात्मा निश्चलदास जी द्वारा रचित है। इसके आरम्भ में वृत्ति क्या है ? उसका कारण और प्रयोजन क्या है ? इन शंकाओं को व्यक्त करते हुए ग्रन्थ की प्रवृत्ति की गई है। वृत्ति के दो भेद किये हैं—यथार्थ और अयथार्थ। यथार्थ को षट् प्रमाणों में बांट कर उसके प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द उपमान अर्थापत्ति और अनुपलब्धि नामक भेद बताये गए हैं। इन पर छः प्रकाशों में विस्तृत रूप से प्रकाश डाला गया है और अयथार्थ का निरूपण भी सातवें प्रकाश में विस्तार पूर्वक किया गया है।

वेदान्त मत के अनुसार ससार यथार्थ नहीं, भ्रमरूप होने से अयथार्थ ही हैं। इसमें रस्सी और सर्प के दृष्टान्त से जगत् की यथार्थ-अयथार्थ से विलक्षण अनिर्वचनीयता का प्रतिपादन यथार्थ के जिज्ञासुओं के लिए अवश्य ही सत्य दिशा का प्रदर्शक सिद्ध हो सकता है।

वेदान्त के ग्रन्थ प्रायः संस्कृत भाषा में तो हैं परन्तु हिन्दी वालों के लिए उनका अनुपयोग है यह ग्रन्थ मूल रूप में प्राचीन बोलचाल की भाषा में उपलब्ध था, जिसे ठीक प्रकार से हृदयंगम करने में आज के जिज्ञासु के लिए कठिनाई प्रतीत होती थी, इसी को दृष्टिगत रखते हुए हमने वर्तमान सरल सुबोध हिन्दी भाषा में इसे प्रस्तुत किया है। हमें आशा है कि हिन्दी पढ़ लिखे सामान्य पाठक भी इसके अध्ययन में आनन्द की अनुभूति लाभ करेंगे।

—प्रकाशक

विषय सूची

प्रथम प्रकाश (प्रत्यक्ष प्रमाण निरूपण)

द्वितीय प्रकाश (उपमान प्रमाण निरूपण)

तृतीय प्रकाश (शब्द प्रमाण निरूपण)

चतुर्थ प्रकाश (अर्थापत्ति प्रमाण निरूपण)

पंचम प्रकाश (अर्थापत्ति प्रमाण निरूपण)

षष्ठ प्रकाश (अनुपलब्धि प्रमाण निरूपण)

सप्तम प्रकाश (स्वतः प्रमात्व प्रमाण निरूपण)

अष्टम प्रकाश (कल्पितनिवृत्तिस्वरूप निरूपण)

—□—

ॐ

वृत्ति प्रभाकर

प्रथम प्रकाश

प्रत्यक्ष प्रमाण निरूपण

वृत्ति के भेद

वेदान्त के सिद्धान्तानुसार 'अहं ब्रह्मास्मि' वृत्ति से अज्ञान अपने कार्य सहित निवृत्त होजाता है और तब परमानन्द की सहज उपलब्धि होती है । यहाँ यह शंकाएँ उत्पन्न होती है कि 'वृत्ति' है कौन-सी वस्तु ? उसका कारण और प्रयोजन क्या है ? इन शंकाओं के निवारणार्थ यह 'वृत्ति प्रभाकर' ग्रन्थ रचा जाता है, जो कि अंधकार को नष्ट करने वाले प्रभाकर के समान वृत्ति को यथावत् प्रकाशित करने में समर्थ है ।

विषय को प्रकाशित करने वाले अन्त:करण और अज्ञान के परिणाम को वृत्ति कहते हैं । यद्यपि अन्त:करण के परिणाम क्रोध और सुखादि भी हैं और अज्ञान के परिणाम आकाशादि । पर, वे 'वृत्ति' नहीं कहलाते, क्योंकि क्रोधादि से कोई पदार्थ व्यक्त नहीं होता और न आकाशादि से ही कोई विषय प्रकाशित हो सकता है, वरन् विषय का प्रकाश ज्ञान-रूप परिणाम से होना सम्भव है, इसीलिए अन्त:करण और अज्ञान का परिणाम वृत्ति कहलाता है ।

यद्यपि अनेक स्थानों पर अन्तःकरण के सुख, दुःख का तृप्ति, क्रोध, क्षमा, धृति, अधृति, लज्जा, भय आदि सभी परिणामों को वृत्ति कहा है, क्योंकि वे भी अन्तःकरण के परिणाम हैं। तो भी तत्वानुसंधान आदि ग्रन्थों में 'वृत्ति' नाम से उसी को कहा है जो विषय के प्रकाशक परिणाम हैं। उस वृत्ति-ज्ञान के दो भेद माने गए हैं—(१) प्रमा, और (२) अप्रमा। इनमें जो प्रमाणजन्य ज्ञान है वह प्रमा और उससे विपरीत को अप्रमा कहते हैं। इनमें से प्रमा ज्ञान वास्तविक है,पर,अप्रमा ज्ञान के दो प्रकार हैं वास्तविक और भ्रम जो ज्ञान किसी दोष से उत्पन्न हो वह भ्रम और जो ज्ञान निर्दोष रूप से उत्पन्न हो वह वास्तविक है तथा वह प्रमाण भी वास्तविक है, जो इन्द्रियजन्य अनुमान से उत्पन्न न हो, वरन् किसी कारण से उत्पन्न हो। जैसे सीपी में चांदी का ज्ञान समानता दोष से उत्पन्न होने के कारण भ्रम है, वैसे ही मिश्री में कड़वेपन का ज्ञान पित्तदोष से उत्पन्न तथा चन्द्रमा में लघुता का ज्ञान एवं अनेक वृक्षों में ऐक्य का ज्ञान दूरी रूप दोष से उत्पन्न है। इस प्रकार जो-जो ज्ञान जिस किसी दोष से उत्पन्न हो, उस सब को भ्रम ही समझना चाहिए।

यद्यपि स्मृतिज्ञान, सुख-दुःख का प्रत्यक्ष ज्ञान और ईश्वर वृत्तिका ज्ञान दोष से उत्पन्न न होने के कारण भ्रम नहीं हैं, किन्तु उन्हें प्रमाणजन्य भी नहीं कह सकते इसलिए वे प्रमा भी नहीं हैं,वरन् भ्रम और प्रमा से विपरीत एवं वास्तविक ही है। सांसारिक अवस्था में ज्ञान का जो विषय बाधित न हो, वही वास्तविक ज्ञान है। इसे इस प्रकार समझना चाहिए-पूर्व अनुभव के संस्कार से स्मृति ज्ञान होता है, इसलिए वास्तविक अनुभव से जो स्मृति हो वह वास्तविक और भ्रान्तिमय अनुभव से हो वह अवास्तविक है, फिर भी दोनों में किसी भी प्रमाण से उत्पन्न नहीं है।

प्रतिकूल और अनुकूल पदार्थ का धर्मादि के कारण से सम्बन्ध होने पर अन्तःकरण के सतोगुण का परिणाम सुख रूप और रजोगुण का परिणाम दुःख रूप होता है उसी को सुख-दुःख के प्रत्यक्ष ज्ञान का हेतु समझना चाहिए। उन्हीं धर्मादि के कारण से सुख-दुःख को विषय करने वाली अन्तःकरण की वृत्ति में आरूढ़ जो साक्षी है, वही सुख-दुःख को प्रकाशित करता है। यह सुख-दुःख रूप अन्तःकरण की वृत्ति किसी प्रमाण से उत्पन्न न होने से प्रमा नहीं, वरन् वास्तविक है।

श्रुति ने ईश्वर के ज्ञानादि का उत्पन्न होना कहा हैं, इसलिए उन्हें नित्य तो नहीं मान सकते, पर सृष्टि के आदि से सर्व पदार्थों का विषय कर्त्ता ईश्वरीय ज्ञान प्राणियों के कर्म के अनुसार उत्पन्न होता है और वह ज्ञान तीनों काल के सर्व पदार्थों के सामान्य और विशेष भावों का विषय करने वाला तथा प्रलय काल तक के लिए स्थायी होने से एक तथा नित्य कहलाता है। वैसे ही ईश्वर की इच्छा और प्रयास भी उत्पन्न होने वाले तथा स्थायी होने से प्रलय-पर्यन्त दोनों ही एक-एक हैं। इसमें शंका है कि ईश्वरेच्छा के प्रलय पर्यन्त स्थायी होने पर वर्षा, शीत, गर्मी का प्रयल-पर्यन्त रहना बनेगा क्योंकि यह तीनों ईश्वरेच्छा से ही होते हैं तो इसके उत्तर में कहते हैं कि यह दोष तभी बन सकता था, जबकि ईश्वरेच्छा रूप व्यक्ति अनेक और नित्य हों, पर वह एक ही है तो एक इच्छा से जिस प्रकार सब पदार्थ विषय किये हैं, उसी प्रकार उनका व्यवहृत होना सिद्ध है। जैसे कि इतनी अवधि तक वर्षा, इतनी तक शीत और इतनी तक गर्मी, इस प्रकार सभी पदार्थ अपनी-अपनी अवधि और अपने-अपने काल से होते है और इच्छा प्रलय पर्यन्त एक ही रहती है, इसमें कोई दोष नहीं बनता।

ईश्वर के ज्ञान, इच्छा और कर्म की श्रुति ने उत्पत्ति बताई है, इसलिए वे उत्पत्ति वाले होते हुए भी महा प्रलय तक आकाशादि के समान स्थायी हैं। जबकि कुछ लोग जगत् प्रपंच की स्थिति के समान ईश्वर के ज्ञानादि का बहुत बार उत्पन्न होना और नष्ट होना मानते हैं। उनसे हम यह पूछ सकते हैं कि क्या स्थिति काल में उन बहुत ज्ञानों में से कोई एक ज्ञान सदा रहता है अथवा उस स्थिति काल में कोई समय ऐसा भी होता है,जिसमें कि ईश्वर में ज्ञान नहीं रहता ? यदि कहें कि कोई एक समय ऐसा भी होता है जबकि ईश्वर में ज्ञान का अभाव होता है तो ऐसा नही कह सकते क्योंकि ज्ञान का अभाव होने पर उस समय वह ईश्वर अज्ञानी होजायगा,जो कि कोई भी स्वीकार नहीं कर सकता। यदि कहो कि कोई एक ज्ञान सदा रहता है तो उससे अनेक ज्ञानों का अनेक रूप में उत्पत्ति-विनाश का कथन मिथ्या होगा। इसलिए यही मानना ठीक है कि सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुआ एक ही ज्ञान प्रलय पर्यन्त बना रहता है।

जीव के ज्ञान, इच्छा व कर्म के दो भेद हैं,—विसम्वादी और सम्वादी, जो ज्ञान निष्फल प्रवृत्ति का उत्पन्न करने वाला हो उसे विसम्वादी और उससे भिन्न ज्ञान को सम्वादी कहते हैं। ईश्वर के ज्ञान, इच्छा और कृतित्व व्यर्थ प्रवृत्ति को उत्पन्न करने वाले न होने से संवादी ही है और यह संवादी ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है, जबकि इससे भिन्न असंवादी ज्ञान को भ्रम कहते हैं। संवादी में जो प्रमाण से उत्पन्न यथार्थ ज्ञान होता है वह प्रमा है। इस प्रकार प्रमाणजन्य ज्ञान को को प्रमा कहते है, यह सिद्ध हुआ। जी का ज्ञान अन्त:करण की वृत्ति स्वरूप ओर ईश्वर का ज्ञान माया अर्थात् अज्ञान की वृत्ति स्वरूप है, किन्तु जीवों के अदृष्ट से उत्पन्न होने के कारण उसे प्रमाण—जन्य, दोषजन्य या निष्फल प्रवृत्ति को उत्पन्न करने वाला

नहीं कह सकते, इसलिए वह प्रमा भी नहीं है, क्योंकि प्रमाण-जन्य ज्ञान ही प्रमा है।

प्रमाण के भेद

प्रमाण के छः भेद हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। प्रत्यक्ष प्रमा का कारण प्रत्यक्ष प्रमाण अनुमति प्रमा का करण अनुमान प्रमाण, शाब्दी प्रगा का करण शब्द प्रमाण' उपमिति प्रमा का करण उपमान प्रमाण, अर्थापत्ति प्रमा का करण अर्थापत्ति प्रमाण और अनुपलब्धि प्रमा का करण अनुपलब्धि प्रमाण कहलाता है। इस प्रकार भट्ट के मत में छः प्रमाण ही योग्य हैं। क्योंकि वेदान्तपरिभाषादि ग्रन्थों ने भी छः प्रमाणों का ही वर्णन किया है। जबकि न्याय शास्त्र के रचयिता गौतम के चार प्रमाण ही माने है उन्होंने अर्थापत्ति और अनुपलब्धि को प्रमाण भेद नें ग्रहण नहीं किया है। भट्ट के शिष्य ने अनुपलब्धि को नहीं माना, वह केवल पाँच प्रमाण मानते है। कणाद और सुगत प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण मानते तथा चार्वाक एक प्रत्यक्ष प्रमाण के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण को नहीं मानता।

करण का वर्णन

व्यापार युक्त असाधारण कारण 'करण' कहलाता है। कार्य से नियत अव्यवहित पूर्व वृत्ति कारण कही जाती है, वह कारण साधारण और असाधारण के भेद से दो प्रकार का है। साधारण कार्य के नौ भेद हैं—ईश्वर, ईश्वरीय ज्ञान, ईश्वर की इच्छा ईश्वर की कृति, देश, काल, अदृष्ट प्रागभाव और प्रतिबन्ध का भाव। इस प्रकार सभी कार्यों के कारण को 'साधारण' कारण

कहते हैं और इससे भिन्न अर्थात् किसी एक कार्य का कारण होता है। जो कि उपादान और निमित्त के भेद से दो प्रकार का है। इनमें एक को व्यापारयुक्त और दूसरे को व्यापार-रहित भी कहते हैं। व्यापारयुक्त वह है जो स्वयं कारण से उत्पन्न हो और कार्य को उत्पन्न करे। जैसे दो कपालों के मिलने से घट बनता है, तो कपाल घट का उपादान कारण हुआ और कुम्हार दण्ड आदि निमित्त कारण ! दो कपाल मिलने से घट बना, यहां कपाल की कारणता में जो संयोग है, वही व्यापार है। क्योंकि कपाल का संयोग कपाल से उत्पन्न होकर कपाल के कार्य घट को उत्पन्न करता है, इसलिए घट के निमित्त वाले व्यापार से युक्त कपाल ही है। यह व्यापार युक्त कारण की व्याख्या हुई। किन्तु किसी अन्य के द्वारा कार्य को उत्पन्न न करा कर स्वयं ही उत्पन्न करे वह व्यापार-रहित कारण है। इस प्रकार उप—र्युक्त नौ प्रकार के साधारण कारणों से भिन्न कारण ही 'करण' कहलाता है। जैसे कि कपाल है, यही घट का कारण माना जायगा और कपाल-संयोग असाधारण कारण होते हुए भी व्यापारयुक्त न होने से घट का कारण तो होगा, पर, उसे 'करण' नहीं कह सकते।

प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद

नेत्र आदि इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष प्रमा को करण होती हैं, क्योंकि नेत्र आदि के अपने-अपने विषय से सम्बन्ध होने पर ही प्रत्यक्ष प्रमा उत्पन्न हो सकती है तथा इन्द्रिय से उत्पन्न, इन्द्रिय और विषय का सम्बन्ध ही प्रत्यक्ष प्रमा को उत्पन्न करता है। उस सम्बन्ध रूप व्यापार वाले प्रत्यक्ष प्रमा के असाधारण कारण जो इन्द्रियाँ हैं, उन्हें न्याय शास्त्रियों ने प्रत्यक्ष प्रमाण और इन्द्रिय से उत्पन्न यथार्थ ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमा माना है। इन्द्रिय प्रमा

के करण श्रोत्र, त्वक् चक्षु, रसन, घ्राण, और मन यह छः इन्द्रियाँ हैं। इन्हीं से प्रत्यक्ष प्रमा के छः प्रकार बने हैं—श्रोत्र जन्य ज्ञान श्रोत्रज प्रमा, त्वचाजन्य ज्ञान त्वाच प्रमा, चक्षुजन्य ज्ञान चाक्षुष प्रमा, रसनेन्द्रिय जन्य ज्ञान रासन प्रमा, घ्राणेन्द्रिय जन्य ज्ञान घ्राणज प्रमा और मननेन्द्रिय जन्य ज्ञान मानस प्रमा है। इसमें प्रमुख रूप से ज्ञातव्य यह है कि इन्द्रिय जन्य तथार्थ ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमा है। किन्तु रस्सी में सर्प का या सीपी में चांदी का ज्ञान इन्द्रिय जन्य होते हुए भी यथार्थ नहीं है इसलिए रस्सी में सर्प या सीपी में चाँदी का ज्ञान चाक्षुषज्ञान तो हुआ, पर उसे चाक्षुष प्रमा नहीं कह सकते। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न होने वाला भ्रम ज्ञान भी प्रमा नहीं हो सकता।

किन्तु भट्टाचार्य के मत में इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष प्रमा की करण नहीं हो सकतीं। वरन् इन्द्रियों के व्यापार ही करण होते हैं। जिससे कार्य की उत्पत्ति से देर न लगे वही कारण 'कारण' होना चाहिए। जैसे कि इन्द्रिय का विषय से सम्बन्ध होने पर प्रत्यक्ष प्रमा रूप कार्य में देर नहीं लगती, किन्तु अगले ही क्षण प्रत्यक्ष प्रमा रूप कार्य उत्पन्न हो जाता है। इसलिए इन्द्रियाँ नहीं वरन् इन्द्रियों का सम्बन्ध प्रत्यक्ष प्रमाण है। इनके अनुसार सपाल घट का कारण होते हुए भी करण नही हो सकता, वरन् कपालों का मिलना ही करण है। इस प्रकार भट्टाचार्य व्यापार रूप कारणों का कारण न मान कर करण और करण को करण न मान कर कारण मानते हैं।

यह भी ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त छः प्रकार की प्रत्यक्ष प्रमा में श्रोत्रज, त्वाच, चाक्षुष, रासन और घ्राणज, यह पांच तो बाह्य प्रत्यक्ष प्रमा मानी गई हैं और छटवीं मानस प्रत्यक्ष, प्रमा आन्तर है। यह भी ब्रह्मगोचर और ब्रह्म-अगोचर के भेद से दो प्रकार की हैं, इसका यथा स्थान निर्धारण करेंगे।

श्रोत्रज प्रमा का वर्णन

श्रोत्र से ही शब्द का और शब्दत्व जाति का ज्ञान होना सम्भव है। शब्दत्व में जो व्यापकत्वादि और तारत्वादि ज्ञान होता है वह भी श्रोत्र के बिना नहीं हो सकता। श्रोत्र इन्द्रिय से ग्राह्य गुण शब्द कहलाता है,वह ध्वनि रूप और वर्ण रूप के भेद से दो प्रकार का है। ध्वनि रूप शब्द भेरी आदि देश में दण्डादि के योग द्वारा उत्पन्न होता है और वर्ण रूप शब्द कण्ठादि देश में वायु के योग से उत्पन्न होता है। इन दोनों प्रकार के शब्दों का प्रत्यक्ष ज्ञान श्रोत्र से ही हो सकता है, अर्थात् शब्द के अभाव अथवा शब्द में तारत्वादि के अभाव का ज्ञान भी श्रोत्र से ही हो सकता है। इस प्रकार श्रोत्र से जो-जो विषय जाना जाय उस का सम्बन्ध उससे होगा। न्यायमत में चक्षु, त्वक् रसन और घ्राण यह चार इन्द्रियां क्रमशः अग्नि, वायु, जल और पृथिवी से उत्पन्न है, तथा श्रोत्र और मन अनुत्पन्न अर्थात् नित्य होते हैं। कर्ण गोलक में स्थित जो आकाश है वह श्रोत्र है। अग्नि आदि से चक्षु आदि इन्द्रियों के उत्पन्न होने के समान ही आकाश से श्रोत्र इन्द्रियों की उत्पत्ति होना वे मानते हैं। उनके अनुसार गुण का गुणी से समवाय सम्बन्ध होता है, जैसे कि आकाश का गुण शब्द है और श्रोत्र से शब्द का समवाय सम्बन्ध है। जैसे दंड के संयोग से जो शब्द भेरी आदि उपहित प्रकाश में होता है, उसकी गूँज वाले शब्द दिशा-उपहित आकाश में उत्पन्न होते हैं वैसे ही वह शब्द फैलता हुआ कर्ण उपाहित आकाश में उत्पन्न होता है, श्रोत्र से उसी का प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव है, अन्य का ज्ञान सम्भव नहीं है इस प्रकार श्रोत्र करण और शब्द की प्रत्यक्ष प्रमा फल होगी त्वाचादिप्रत्यक्ष प्रमा में जो अपने २ विषयों से इन्द्रियों का संबंध रूप व्यापार बनता है,वैसा श्रोत्र प्रमा में नहीं बनता क्यों-

कि अन्य इन्द्रियों के समान श्रोत्रेन्द्रिय का संयोग-सम्बन्ध न होकर समवाय सम्बन्ध होता है और नैयायिक लोग समवाय सम्बन्ध को नित्य मानते हैं। जैसे त्वचा आदि का घटादि से उत्पन्न संयोग सम्बन्ध प्रमा को उत्पन्न करने के कारण व्यापार बनता है, वैसे श्रोत का शब्द से जो समवाय सम्बन्ध होता है वह श्रोत्र जन्य न होने के कारण व्यापार नहीं बन सकता। पर श्रोत्र और मन को संयोग-सम्बन्ध होने से व्यापार होता है, क्योंकि दो के आश्रय से होने वाला संयोग दोनों का ही उपादान कारण होना प्रकट करता है। इस प्रकार श्रोत्र और मन के संयोग के उपादान कारण स्वयं वे दोनों ही हुए। इसलिए श्रोत और मन का संयोग श्रोत्र जन्य होने के कारण ज्ञान का भी उत्पन्न करने वाला होकर व्यापार बनता है। इसमें शंका हो सकती है कि श्रोत्र और मन का संयोग श्रोत्र से उत्पन्न होता हुआ भी श्रोत्र जन्य प्रमा को उत्पन्न करने वाला कैसे हो सकता है ? इसका समाधान हैं कि आत्मा और मन का संयोग सब ज्ञानों का साधारण कारण होने से वह आत्मा और मन का संयोग ज्ञान की साधारण सामग्री तथा प्रत्यक्षादि ज्ञानो की विशेष सामग्री हैं। इसलिए श्रोत्र उत्पन्न होने वाले प्रत्यक्ष ज्ञान से पहिले आत्मा और मन का संयोग होकर मन और श्रोत्र का सम्बन्ध होता है, क्योंकि मन और श्रोत्र के संयोग बिना श्रोत्र जन्य ज्ञान किसी प्रकार सम्भव नहीं है। क्योंकि एक समय में सब इन्द्रियों के निज-निज विषयों से सम्बन्ध रहे आने पर भी एक ही समय में सब विषयो का ज्ञान नही होता। जैसे कि मन से संयोग को हुई इन्द्रिय का विषय से सम्बन्ध होने पर ज्ञान हो सकता है, पर, मन से संयोग को प्राप्त न हुई इन्द्रियों का अपने विषय से संयोग रहने पर भी ज्ञान नहीं होता। नैयायिक लोग मन को परम अणु मानते है, इसलिए एक ही समय में उसका संयोग अनेक इन्द्रियों से नहीं

हो सकता, क्योंकि मन-इन्द्रिय का संयोग से ज्ञान होता है, यदि ऐसा न होता तो एक काल में अनेक ज्ञान हो सकते थे। इस प्रकार श्रोत्र और मन के संयोग से श्रोत्र में स्थित शब्द का प्रमा ज्ञान होना युक्त है।

इस प्रकार चक्षु आदि का मन से योग चाक्षुषादि ज्ञानों का असाधारण कारण होता है। पर सभी ज्ञानों में हेतु आत्मा और मन का संयोग है और इसके होने पर ही इन्द्रिय जन्य ज्ञान की उत्पत्ति सम्भव है। तदनन्तर बाह्य विषय से इन्द्रिय का सम्बन्ध होने पर ही प्रयत्क्ष ज्ञान हो सकता है पर इन्द्रिय का विषय से संयोग भी एक प्रकार का नहीं, नाना प्रकार का होता है। श्रोत्र से शब्द के प्रत्यक्ष ज्ञान में केवल शब्द ही नहीं बरन् उसके धर्म शब्दत्वादि भी उस ज्ञान के विषय हैं, क्योंकि वहां श्रोत्र से शब्द का समवाय सम्बन्ध और शब्दत्वादि का समवेत समवाय संबंध बनता है। समवाय संबंध से रहने वाले को समवेत कहा जाता है, इसलिए श्रोत्र में समवाय सम्बन्ध से स्थित शब्द को श्रोत्र समवेत कहेंगे। उसमें भी जो शब्दत्व का समवाय है उसके कारण शब्दत्व से श्रोत्र का समवेत समवाय सम्बन्ध ही बनेगा।

इसी प्रकार श्रोत्र में शब्द की अप्रीति हो तब शब्दाभाव होता है, वहां शब्दाभाव का श्रोत्र से विशेषणता-सम्बन्ध कहा जायगा। यह नियम है कि जहाँ पदार्थ का अभाव हो वहां उसके अभाव का विशेषणता सम्बन्ध ही माना जायगा जैसे कि वायु में रूप का अभाव। इस प्रकार शब्दाभाव का श्रोत्र से विशेषणता सम्बन्ध शब्द के अभाव की प्रत्यक्ष प्रतीति का हेतु होता है। इस प्रकार श्रोत्रजन्य प्रमा के हेतु तीन सम्बन्ध बनते हैं—(१) शब्द—ज्ञान का हेतु समवाय सम्बन्ध, (२) शब्द के धर्म शब्दत्व के ज्ञान का हेतु समवेत-समवाय सम्बन्ध, और (३) श्रोत्रजन्य अभाव के ज्ञान का हेतु विशेषणता-सम्बन्ध। यद्यपि

विशेषणता के अनेक प्रकार हैं, तो भी शब्दाभाव की प्रतीति में शुद्ध विशेषणता सम्बन्ध ही बनता है।

अब शब्द के उपर्युक्त दोनों भेदों के विषय में बताते हैं—ध्वनि-रूप शब्द के तारत्व-मन्दत्व आदि धर्म का जैसे समवेत-समवाय सम्बन्ध से प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही वर्ण रूप शब्द के कत्वादि का भी प्रत्यक्ष होना समझना चाहिए। पर ध्वनि रूप शब्द के तारत्वादि धर्म उपाधि रूप हैं, जबकि वर्ण रूप शब्द के कत्वादि धर्म जाति रूप हैं, इसलिए ध्वनिरूप शब्द से तारत्वादि का समवाय सम्बन्ध न होकर स्वरूप सम्बन्ध है तथा जबकि वर्ण रूप शब्द के धर्म कत्वादि का ककारादि रूप शब्द से सम—वाय-सम्बन्ध होता है। उपाधि और अभाव के स्वाश्रय में सम्बन्ध को स्वरूप सम्बन्ध और उसी को विशेषणता कहते हैं। इस प्रकार श्रोत्र में समवेत ध्वनि से तारत्वादि का विशेषणता-सम्बन्ध होने के कारण श्रोत्र का तारत्वादि से श्रोत्र समवेत विशेषणता सम्बन्ध होता है। इससे श्रोत्र-प्रत्यक्ष-प्रमा का करण श्रोत्र—श्रोत्र और मन का योग व्यापार तथा जो शब्दादि का प्रत्यक्ष स्वरूप ज्ञान है वह फल माना गया है।

त्वाचा प्रमा का वर्णन

त्वचा से स्पर्शज्ञान तो होता ही है। स्पर्श के जो आश्रय या आश्रित स्पर्शत्व जाति और स्पर्श के अभाव का भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। क्योंकि जो इन्द्रिय जिस पदार्थ के ज्ञान में हेतु हो वही इन्द्रिय उस पदार्थ के भी जाति और अभाव के ज्ञान में भी हेतु होगी। पृथिवी जल और तेज का त्वक् इन्द्रिय से ज्ञान होने के समान वायु का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, क्योंकि उसमें प्रत्यक्ष

सकता है, जिसमें प्रत्यक्ष योग्य रूप और स्पर्श दोनों ही हैं। वायु के स्पर्श गुण का जो प्रत्यक्ष त्वक् से होता है, वह वायु का अनुमिति ज्ञान कहलाता है।

परन्तु मीमांसक वायु का प्रत्यक्ष मानते हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष योग्य द्रव्य का त्वाच प्रत्यक्ष होता है. इसका कारण त्वक् इन्द्रिय जन्य द्रव्य के प्रत्यक्ष में स्पर्श की ही अपेक्षा है, रूप की नहीं। वैसे ही चाक्षुष प्रत्यक्ष में रूप की अपेक्षा होती है. स्पर्श की नहीं।

चाक्षुष प्रमा का वर्णन

चाक्षुष प्रमा के हेतु नेत्र सयोग, नेत्र सयुक्त समवाय, नेत्र संयुक्त समवेत समवाय और नेत्र संयुक्त विशेषणता यह चार सम्बन्ध व्यापार भी हैं। नेत्र से घटादि द्रव्य का चाक्षुष-प्रत्यक्ष होने पर नेत्र क्रिया का द्रव्य से संयोग सम्बन्ध नेत्र से उत्पन्न और चाक्षुष प्रमा का उत्पन्न करने वाला होने से व्यापार है। द्रव्य की घटत्वादि जाति और रूप संख्यादि गुणों का जहाँ नेत्र से प्रत्यक्ष होता हो, वहाँ नेत्रयुक्त द्रव्य में उक्त जाति और गुणों का समवाय सम्बन्ध होने से द्रव्य की जाति और गुणों के चाक्षुष प्रत्यक्ष में नेत्र युक्त समवाय सम्बन्ध होता है तथा गुण में स्थित जाति का चाक्षुष-प्रत्यक्ष होने पर नेत्र का रूपत्वादि जाति से संयुक्त समवेत समवाय सम्बन्ध समझना चाहिए। यद्यपि नेत्र से सभी द्रव्यों का संयोग हो सकता है, तो भी नेत्र का उत्पन्न रूप युक्त द्रव्य से सयोग होना चाक्षुष प्रत्यक्ष का हेतु हैं रूपयुक्त द्रव्य तीन हैं—पृथिवी, जल और तेज इसलिए इन तीनों का ही चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। यद्यपि घ्राण, रसन और नेत्र पृथिवी जल और तेज स्वरूप एवं रूपयुक्त हैं, किन्तु अनुद्भूत रूप वाले होने के कारण इनका चाक्षुष प्रत्यक्ष संभव नहीं।

पृथिवी, जल और तेज तीनों में कोई गुण चाक्षुण-प्रत्यक्ष के योग्य है, कोई नहीं है। जैसे कि पृथिवी में चौदह गुण हैं—रूप, रस गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिणाम, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरत्व, द्रवत्व और संस्कार। इन चौदह में मे एक गन्ध छोड़कर उसके स्थान पर स्नेह को मिला दें तो यह चौदह गुण जल के होंगे। यदि इनमें से गन्ध रस, गुरुत्व और स्नेह को पृथक् कर दें तो यह ग्यारह गुण तेज के होंगे। किन्तु चाक्षुष-प्रत्यक्ष के योग्य तो रूप, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व संयोग, विभाग, परत्व अपरत्व, और द्रवत्व यह नौ गुण ही हैं। पर, सभी गुणों में नेत्र संयुक्त समवाय सम्बन्ध अवश्य होता है।

चाक्षुष प्रत्यक्ष के योग्य जो नौ गुण हैं, उन्हीं का नेत्रसंयुक्त समवाय सम्बन्ध से प्रत्यक्ष होता है। स्पर्श में त्वचा की योग्यता तो है पर नेत्र की नहीं है, वैसे ही रूप में नेत्र की योग्यता है, त्वचा की नहीं। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग परत्व अपरत्व, और द्रवत्व इन आठों में त्वचा और नेत्र दोनों की योग-यता होने से त्वक् संयुक्त समवाय और नेत्र संयुक्त समवाय दोनों ही इन आठों के त्वाचप्रत्यक्ष और चाक्षुष प्रत्यक्ष के हेतु होते हैं जिस गुण में जिस इन्द्रिय की योग्यता है, उसी का उससे प्रत्-यक्ष होता है, इसलिये यह समझाना चाहिए कि नेत्र के सँयोग से उत्पन्न रूप का ही चाक्षुष-प्रत्यक्ष संभव है और उत्पन्न रूपयुक्त द्रव्य की जाति और गुण का संयुक्त समवाय सम्बन्ध से और गुणों की जाति का नेत्रयुक्त समवाय सम्बन्ध से चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार नेत्र से सम्बन्ध के अभाव का भी चाक्षुष प्रत्यक्ष होना समझना चाहिए। जहाँ पृथिवी में घट के अभाव का चाक्षुष-प्रत्यक्ष हो वहाँ पृथिवी से नेत्र का संयोग—सम्बन्ध होने से नेत्र से सम्बन्धित पृथिवी में घट के अभाव का

योग्यरूप का अभाव में और त्वाच प्रत्यक्ष उसी पदार्थ का ही विशेषणता सम्बन्ध होता है। इस प्रकार नेत्र संयोगादि जो चारों सम्बन्ध चाक्षुष प्रमा के हेतु एवं व्यापार हैं, नेत्र करण चाक्षुष प्रमा फल है।

रासन प्रमा का वर्णन

रासन-प्रमा के हेतु रासन संयुक्त समवाय, रसन संयुक्त समवेत समवाय और रसन-संयुक्त विशेषणता यह तीन सम्बन्ध माने गए हैं। रसनेन्द्रिय से द्रव्य के मधुर रस रासन-प्रत्यक्ष होने में द्रव्य-रसन का परस्पर संयोग सम्बन्ध होता है। इसलिए रस-गुण का समवाय होने से रासन-प्रत्यक्ष में संयुक्त समवाय सम्बन्ध ही व्यापार है। क्योंकि उनमें जो समवाय अंश है वह और संयोग अंश है वह रसन जन्य होने से अनित्य तथा रासन-प्रत्यक्ष से उत्पन्न एवं व्यापार है। उसका असाधारण रसनेन्द्रिय होने से वह करण एवं प्रमाण है, तथा रासन प्रमा फल है। रसनेन्द्रिय से मधुरत्व, अम्लत्व, लवणत्व, कटुत्व, कषायत्व और तिक्तत्व धर्मों का रासन-प्रत्यक्ष होता है और रसना से संयुक्त द्रव्यः द्रव्य में समवेत रस, रसत्व और मधुरत्वादि का समवाय सम्बन्ध होने से, रसत्व आदि से रसन का संयुक्त समवेत समवाय संबंध होता है। इसी प्रकार मधुर रस में अम्लत्व के अभाव का रासन प्रत्यक्ष होने पर उस अम्लत्व के अभाव से रसनेन्द्रिय का स्व-संबंध-विशेषणता-सम्बन्ध होता है।

घ्राणज प्रमा का वर्णन

घ्राणज प्रमा के हेतु भी तीन हैं, जैसे घ्राण संयुक्त समवाय घ्राण संयुक्त समवेत समवाय और घ्राण संयुक्त विशेषणता। घ्राणेन्द्रिय से गंध का ही प्रत्यक्ष हो सकता है, द्रव्य का नहीं

हो सकता। गन्ध का घ्राण से साक्षात् सम्बन्ध न होने से समवाय सम्बन्ध ही होना है, किन्तु घ्राण से पुष्पादि का संयोग सम्बन्ध होने के कारण घ्राण संयुक्त समवाय सम्बन्ध से ही गन्ध का घ्राणजप्रत्यक्ष हो सकता है.वैसे ही गन्ध के अभाव का भी घ्राणजप्रत्यक्ष होता है। जिसका हेतु घ्राणसंयुक्त-समवेत-समवाय-सम्बन्ध होता है। पुष्पादि के दूर होने और गन्ध के प्रत्यक्ष होने पर भी पुष्पादि में क्रिया दिखाई न देने से पुष्पादि से घ्राण का सम्बन्धाभाव होता है, इसलिए उनमें घ्राणसंयुक्त समवाय सम्बन्ध नहीं बन सकता क्योंकि घ्राणसंयुक्त पुष्पादि के सूक्ष्म अवयवों में क्रिया होने पर ही घ्राण से संयोग बनता है और उन अवयवों में गन्ध का जो समवाय है, उसके कारण घ्राण संयुक्त समवाय सम्बन्ध गन्ध के घ्राणज प्रत्यक्ष का हेतु होना समझना चाहिये इस प्रकार घ्राणज प्रत्यक्ष के तीनों हेतु व्यापार,घ्राणेन्द्रिय करण और घ्राणज प्रत्यक्ष प्रमा फल है। इस प्रकार बाह्य प्रत्यक्ष प्रमा के पांच भेद कहे गए, अब आन्तर प्रत्यक्ष प्रमा पर प्रकाश डालेंगे

मानस प्रत्यक्ष प्रमा का वर्णन

आत्मा, आत्मा के सुख-दुःखादि धर्म,आत्मत्वादि जाति एवं सुख-दुःखत्वादि जाति के प्रत्यक्ष का हेतु केवल मन ही हैं। क्यों कि इनका प्रत्यक्ष चक्षु आदि इन्द्रियों से सम्भव नहीं। आत्मा और उसके धर्मों को आन्तर तथा उसके विपरीत को बाह्य कहते हैं। जैसे बाह्य प्रत्यक्ष प्रमा के कारण चक्षुरादि इन्द्रिय हैं वैसे ही आन्तर प्रत्यक्ष प्रमा का करण मन है, इसलिए विद्वानों ने मन को भी इन्द्रिय ही माना है। जब मन में क्रिया उत्पन्न होने पर आत्मा से उसका संयोग होना है,तब आत्मा का मानस

प्रत्यक्ष बनता है। वह मानस प्रत्यक्ष रूप फल प्रमा और आत्मा तथा मन का संयोग व्यापार है। आत्मा और मन का यह सयोग मन से उत्पन्न होकर आत्मा की प्रत्यक्ष प्रमा को उत्पन्न करता है मन ही प्रमाण है तथा आत्मा के छ: गुण हैं-ज्ञान, इच्छा प्रयत्न सुख, दु:ख और द्वेष। इन गुणों के प्रत्यक्ष का हेतु मन रूप प्रमाण ही हो सकता है। किन्तु, ज्ञानादि का सीधा सम्बन्ध मन से नहीं वरन आत्मा से है। मन से तो परम्परा सम्बन्ध ही बनता है। इस प्रकार मन-संयुक्त आत्मा में ज्ञानादि का समवाय सम्बन्ध समझना चाहिए, इसी प्रकार ज्ञानत्वादि जातियों का भी मन से ही प्रत्यक्ष होता है। क्योंकि ज्ञानत्वादि और ज्ञानादि गुण के समवायी आत्मा का मन से संयोग सम्बन्ध और मन का ज्ञान—त्वादि से मनसंयुक्त शमवेन समवाय सम्बन्ध है। इसी प्रकार आत्मा में सुख-दु:ख का अभाव प्रत्यक्ष होने पर मनसंयुक्त विशेषता सम्बन्ध होता है। यदि सुख में दु:ख का अभाव हो तो मन संयुक्त सुख में दु:खाभाव का विशेषणता सम्बन्ध बनेगा, क्योंकि मनोमय आत्मा में सुखादि गुणों का समवाय सम्बन्ध है। इस प्रकार अभाव के प्राकट्य का हेतु मनसंयुक्त विशेषणता सम्बन्ध होता है। इसी प्रकार दु:ख में सुख के अभाव की प्रतीति हो तो मनसंयुक्त आत्मा में सुख के अभाव आदि का विशेषता सम्बन्ध बनेगा। इस प्रकार कहीं प्रत्यक्ष और कहीं परम्परा केसम्बंध से अभाव का मनसंयुक्त विशेषतता सम्बन्ध समझना चाहिए।

मन-संयोग, मनसंयुक्त समवाय, मनसंयुक्त समवेत समवाय और मन से सम्बन्धित विशेषणता यह चार सम्बन्ध मानस प्रत्यक्ष के हेतु होते हैं। यहाँ यह चारों व्यापार हैं मन करण है, इसलिए वही प्रमाण है और सुखादि की मानस-प्रत्यक्ष रूप प्रमा

फल है। आत्मा के सुखादि गुणों के साक्षात् के हेतु संयुक्त समवाय सम्बन्ध के समान ही धर्माधर्म रूप संस्कार भी आत्मा के गुण माने जाते हैं। पर, उन गुणों के प्रत्यक्ष योग्य न होने से उनका मानस प्रत्यक्ष सम्भव नहीं। क्योंकि संयोग के आश्रय का प्रत्यक्ष होने से ही संयोग का प्रत्यक्ष हो सकता है। जैसे दो अंगुलियाँ ही अपने संयोग की आश्रय होती हैं, जिनके चाक्षुष प्रत्यक्ष या त्वाच प्रत्यक्ष होने पर ही उनके संयोग का चाक्षुष प्रत्यक्ष अथवा त्वाचप्रत्यक्ष सम्भव है। किन्तु इस प्रकार आत्मा और मन के संयोग का मानस-प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि संयोग के दोनों द्रव्यों के प्रत्यक्ष होने पर ही संयोग का प्रत्यक्ष संभव है। जैसे कि दो घट के प्रत्यक्ष से उनका संयोग प्रत्यक्ष है किन्तु घट और आकाश में संयोग में घट प्रत्यक्ष है और आकाश प्रत्यक्ष नहीं हैं, इसलिए घट और आकाश का संयोग प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इस प्रकार इन्द्रियों से उत्पन्न प्रत्यक्षप्रमा के हेतु इन्द्रिय संयोग व्यापार, इन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण और प्रत्यक्षप्रमा फल है।

ज्ञान का आश्रय वर्णन

आत्मा ही प्रत्यक्ष ज्ञान का आश्रय, ज्ञान का कर्त्ता प्रमाता एवं ज्ञाता कहलाता है इनमें जो प्रमाज्ञान का कर्त्ता है, उसे प्रमाता और केवल ज्ञान का कर्त्ता है, उसे ज्ञाता कहते हैं। वह ज्ञान भ्रम रूप हो या प्रमा रूप। न्यायमत में प्रमाज्ञान के समान भ्रमज्ञान भी इन्द्रिय जन्य है किन्तु भ्रमज्ञान का कारण इन्द्रिय भ्रमज्ञान का कारण कहलाती हुई भी प्रमाण नहीं कहलाती क्योंकि प्रमाज्ञान का असाधारण कारण ही प्रमाण कहलाता है।

भ्रम-ज्ञान निरूपण

न्यायमत में भ्रमज्ञान को इस प्रकार माना है कि सदोष चक्षु का [illegible] होने [illegible] धर्म से चक्षु का संयुक्त समवाय संबंध

होने पर भी दोष के प्रभाव से रस्सी में रस्सीपने का भान न होकर सर्पपने का भानहोने लगता है। यद्यपि सर्पपने से चक्षु का संयुक्त समवाय सम्बन्ध नहीं तो भी दोष के प्रभाव से बिना सम्बन्ध के ही रस्सी में सर्प की प्रतीति होने लगती है और यदि पहिले कभी की लकड़ी आदि की स्मृति हो तो रस्सी में में सर्पपना प्रतीत न होकर दण्डापन दिखाई देने लगता है,क्योंकि किसी भी वस्तु के जानने में हेतु पहिले उसके विशेषण का ज्ञानही होताहै

यदि निर्दोष इन्द्रिय से यथार्थ ज्ञान हो तो भी विशेषण का ही ज्ञान उसका हेतु होगा। क्योंकि किसी श्वेत पगड़ी-कुर्त्ते वाले हाथ में बेत लिए हुए ब्राह्मण से चक्षु का संयोग होने पर पहिले यह ज्ञान होगा। कि यह मनुष्य है, फिर यह ब्राह्मण है या हाथ में लकड़ी धारी ब्राह्मण है अथवा श्वेत पगड़ी धारी है,या कभी श्वेत कुर्त्ता पहने हुए है, ऐसे-ऐसे विलक्षण ज्ञान हो सकते है। उनमें नेत्र-संयोग सभी ज्ञानों का साधारण कारण है, किन्तु मनुष्यत्व रूप विशेषण का ज्ञान और नेत्र से सयोग होने पर यह मनुष्य है' ऐसा चाक्षुष ज्ञान ही ज्ञानों की विलक्षणता में हेतु होता है। पर जहां ब्राह्मणत्व के ज्ञान के सहित नेत्र संयोग हो, वहां 'यह ब्राह्मण है, ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसी प्रकार पगड़ीपन, कुर्त्तापन लकड़ीपन अथवा श्वेतता विशिष्ट वस्त्रों आदि के विषय मे भी समझना चाहिए। इन सब में इन्द्रिय-सम्बन्ध की सर्वत्र समानता होते हुए भी विशिष्ट प्रत्यक्ष की विलक्षणता को उत्पन्न करने वाली विशेषण के ज्ञान की विलक्षण के अतिरिक्त कुछ नहीं है। यदि पृथक्-पृथक् विलणक्ष विशेषणों के ज्ञानों को विलक्षणता के प्रत्यक्ष होने में कारण स्वीकार न करे तो नेत्र संयोग द्वारा तो ब्राह्मण के सभी ज्ञान समान होने युक्त हैं।

इसी प्रकार नेत्र और त्वचा का घट से संयोग कभी 'यह पृथिवी है, और कभी 'यह घट हैं, या पुन: 'कभी यह पृथिवी है

इस-इस प्रकार से ज्ञान कराता है। इसमें घटत्व रूप विशेषण के ज्ञान सहित नेत्र का संयोग होने पर 'यह घट है' और पृथिवी त्व विशेषण ज्ञान के सहित नेत्र संयोग होने पर यह पृथिवी है' ऐसा विलक्षण ज्ञान होता है तथा घटत्व और पृथिवीत्व दोनों विशेषणों के ज्ञान से होने वाला संयोग दोनों का ही ज्ञान कराने लगता है । इस प्रकार घट और नेत्र का संयोग रूप एक ही कारण है और बिषय रूप एक ही घट है और घट में घटत्व और पृथिवीत्व रूप जाति भी सदा रहती हैं। तो भी यह घट है' ऐसा ज्ञान घटत्व सहित केवल घट को ही विषय करता है पृथिवीत्वादि जाति या रूपादि को विषय नहीं करता। पर घट में यह पृथिवी है, ऐसा ज्ञान घट में घटत्व को विषय न करके घट और पृथिवीत्व का जो संयोग है उसी को विषय करता है। परन्तु यह घट और पृथिवी है' यह ज्ञान घटत्व, पृथिवीत्व, घट और सम्बन्ध सभी को विषय करता है। इसी प्रकार ज्ञानों का भेद तभी संभव है जब कि सामग्री का भेद उप-स्थित हो, क्योंकि वही विलक्षणता का हेतु है। 'यह घट है' ऐसे ज्ञान में घट घटत्व और घट में घटत्व का समवाय सम्बन्ध प्रतीत होता है । किन्तु यह पृथिवी है, ऐसे घट-ज्ञान में घट पृथिवीत्व और घट में पृथिवीत्व का समवाय सम्बन्ध और यह घट एवं पृथिवी है ऐसे ज्ञान में घट घटत्व, पृथिवीत्व तथा घट में घटत्व-पृथिवीत्व का समवाय सम्बन्ध भासमान होता है।

विशेषण और विशेष्य का भेद

उक्त प्रकार से घटत्व और पृथिवीत्व विशेषण एवं घट विशेष्य है, क्योंकि सम्बन्ध का प्रतियोगी विशेषण और उसका अनुयोगी विशेष्य होता है। जिसका सम्बन्ध हो, उसे प्रतियोगी और जिसमें सम्बन्ध हो उसे अनुयोगी कहते है । घट में घटत्व

और पृथिवीत्व का समवाय सम्बन्ध प्रतीत होने तथा घटत्व और पृथिवीत्व समवाय सम्बन्ध के प्रतियोगी होने से विशेषण एवं समवाय सम्बन्ध का अनुयोगी होने से घट विशेष्य है। जहाँ 'यह पुरुष दण्डधारी है, ऐसा ज्ञान दण्डत्व की विशेषता वाले दण्ड के संयोग सम्बन्ध से पुरुषत्व की बिशेषता वाले पुरुष में प्रतीत होता है, उसी का ऐसा ज्ञान भी होता है कि 'यह मनुष्य काष्ठधारी है, वहाँ काष्ठत्व की विशेषता वाल दण्ड मनुष्यत्व की विशेषता वाले पुरुष में संयोग सम्बन्ध से भासता है। प्रथम ज्ञान में संयोग का प्रतियोगी होने से दण्डत्व विशिष्ठ दण्ड विशेषण और संयोग का अनुयोगी होने से पुरुषत्व विशिष्ट पुरुष विशेष्य है। जबकि द्वितीय ज्ञान में काष्ठत्व विशिष्ट दण्ड विशेषण और मनुष्यत्व विशिष्ट पुरुष विशेष्य है तद्यपि दोनों ज्ञानों में दण्ड विशेषण और पुरुष विशेष्य है तो भी प्रथम में दण्ड में दण्डत्व की ही प्रतीति है काष्ठत्व की नहीं, वैसे ही पुरुष में पुरुषत्व की है, मनुष्यत्व की नहीं। पर द्वितीय ज्ञान में दण्ड में काष्ठत्व और पुरुष के मनुष्यत्व ही भासता है, न तो दण्ड में दण्डत्व और न पुरुष में पुरुषत्व ही भासता है। दण्डत्व और काष्ठत्व दोनों का ही दण्ड में समवाय सम्बन्ध है, उसके दण्डत्व और काष्ठत्व के प्रतियोगी होने से दोनों दण्ड के विशेषण तथा सम्बन्ध का अनुयोगी होने के कारण दण्ड विशेष्य है। किन्तु पुरुष में दण्ड के संयोग सम्बन्ध का प्रतियोगी दण्ड है, इसलिए वह पुरुष का विशेषण तथा पुरुष उसी संयोग का अनुयोगी होने से विशेष्य है। दण्ड के ही समान पुरुषत्व और मनुष्यत्व भी पुरुष के विशेषण हैं, क्योंकि पुरुष में भी पुरुषत्व और मनुष्यत्व का समवाय सम्बन्ध प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध के प्रतियोगी पुरुषत्व मनुष्यत्व विशेषण और अनुयोगी पुरुष विशेष्य है। किन्तु इसमें यह भेद भी है कि पुरुष के पुरुषत्वादि धर्म तो केवल

पुरुष व्यक्ति के विशेषण हैं, पर, दण्डादि पुरुषत्वादि धर्म विशिष्ट पुरुष व्यक्ति के विशेषण होते हैं। यद्यपि दण्ड भी दण्डत्वादि धर्म का विशेष्य और पुरुषव्यक्ति का विशेषण है, किन्तु दण्डत्वादि विशेषण सम्बन्ध से ही दण्ड बाद में पुरुष रूप विशेष्य का सम्बन्धी हो जाता है। इस प्रकार पुरुष व्यक्ति मात्र का विशेषण तो पुरुषत्वादि और पुरुषत्वादि विशिष्ठ पुरुष व्यक्ति का विशेषण दण्डत्वादि विशिष्ट दण्ड है। और केवल दण्ड व्यक्ति के विशेषण दण्डत्व और काष्ठत्व हैं। इससे सिद्ध हुआ कि विशेष ज्ञान ही विशिष्ठ ज्ञान की बिलक्षणता का हेतु हैं।

न्यायमत के भ्रमज्ञान का निराकरण

विशेष ज्ञान कहीं स्मृति रूप है तो कहीं निर्विकल्प और कहीं विशेषण मात्र से इन्द्रिय का सम्बन्ध होने पर जो विशिष्ट ज्ञान होता है,वह विशिष्ट प्रत्यक्ष होता है जैसे कि पुरुष के विना दण्ड मात्र से ही इन्द्रिय-सम्बन्ध होने के अनन्तर-पुरुष से सम्बन्ध हो ता दण्डरूप विशेषण का ज्ञान विशेषण मात्र के सम्बन्ध से उत्पन्न होने पर भी दूसरे ही क्षण यह दण्डधारी पुरुष है, ऐसा बिशिष्ट ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। कहीं 'यह घट है, पहिले ही ऐसा जो बिशिष्ट ज्ञान होता है, उससे भी पहिले इन्द्रिय के सम्बन्ध से घटत्व विशेषण का अविकल्प ज्ञान होकर 'यह घट है, ऐसा घट का घटत्व विशिष्ट ज्ञान सविकल्प होता है। उस घटत्व के अविकल्प ज्ञान में इन्द्रिय करण तथा उसका संयुक्त समवाय सम्बन्ध व्यापार है। पर, घटत्व विशिष्ट घट के विकल्प युक्त ज्ञान में जो इन्द्रिय का संयुक्त समवाय सम्बन्ध है, वह करण और विकल्प-रहित ज्ञान व्यापार है।

सविकल्प ज्ञान वह है जो धर्मसहित धर्मी के सम्बन्ध को विषय करे। जैसे यह घट है, ऐसे ज्ञान से घट में घटत्व का

समवाय प्रतीत होता है इसलिए इस विकल्पयुक्त ज्ञान के विषय धर्म, धर्मी और समवाय तीनों ही हैं। इस प्रकार यह घट है, ऐसा विशिष्ट ज्ञान धर्म-धर्मी का विषयकर्त्ता होने से सविकल्प होता है और इससे विपरीत ज्ञान को निर्विकल्प कहते हैं। इस प्रकार से निर्विकल्प-सविकल्प के ज्ञान में करण का भेद किसी एक नैयायिक ने कहा है, जो कि न्याय सम्प्रदाय के अनुकूल नहीं। क्योंकि नैयायिक लोग व्यापार वाले असाधारण कारण को ही प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण मानते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान का करण जो इन्द्रिय है, वही उनके मत में प्रत्यक्ष प्रमाण है और यद्यपि निर्विकल्प ज्ञान में इन्द्रिन्य-सम्बन्ध मात्र व्यापार हैं, तथा सविकल्प ज्ञान में इन्द्रिय-सम्बन्ध और निर्विकल्प ज्ञान दोनों ही व्यापार हैं, तो भी दोनों भाँति के प्रत्यक्ष ज्ञानों में करण जो इन्द्रियाँ हैं वही प्रत्यक्ष प्रमाण है।

इस प्रकार विशिष्ट ज्ञान का उत्पन्न करने वाला विशेषण ज्ञान ही निर्विकल्प ज्ञान है। किन्तु पहले 'यह घट है' ऐसा विशिष्ट ज्ञान होकर जब पुन; वैसा ही विशिष्ट ज्ञान हो, तब घट से इन्द्रिय का सम्बन्ध होते ही पूर्व अनुभव किये हुए घटत्व की स्मृति होती है, उसके तुरन्त बाद 'यह घट हैं' ऐसा विशिष्ट ज्ञान होता है। इस प्रकार दूसरे आदि विशिष्ट ज्ञानों का हेतु जो विशेषण ज्ञान है, वह स्मृति रूप है। पर, भ्रमज्ञान के विषय में जहां सदोष नेत्र का रस्सी या सीपी से संयोग सम्बन्ध हो, वहाँ दोष के प्रभाव से सर्पपने या चांदीपने की ही स्मृति होती है, रस्सीपने या सीपीपने की नहीं। विशिष्ट ज्ञान का हेतु विशेषण ज्ञान जिस धर्म को विषय करे, उसी धर्म विशिष्ट ज्ञान के कारण वैसा ही विषय प्रतीत होता है। यहाँ दोष के बल से सर्पपने या चांदीपने का स्मृति ज्ञान रस्सी या सीप को विषय नहीं कर सकता, वरन् सर्प या चांदी को ही विषय करता है। अतएव

रस्सी में सर्प के विशिष्ट ज्ञान से रस्सी में सर्प की ही प्रतीति होती है और वैसा ही सीपी में चाँदी के विशिष्ट ज्ञान से होता है। यह सर्प है, इस विशिष्ट भ्रम में रस्सी विशेष्य और सर्पपना विशेषण है। क्योंकि रस्सी में सर्पपने का समवाय सम्बन्ध भासता है उस समवाय का सर्पपना प्रतियोगी और रस्सी अनुयोगी है। वैसे ही चांदी के भ्रम में सीपी विशेष्य और चांदीपना विशेषण है, क्यों कि सीपी में चांदीपना का जो समवाय संबन्ध प्रतीत होता है, उसका प्रतियोगी चांदीपना और अनुयोगी सीपी है। इस प्रकार सर्व भ्रमज्ञानों से विशेषण-रहित में विशेषण की प्रतीति होती है, इसलिए न्यायानुसार विशेषण-रहित में विशेषण की प्रतीति ही भ्रम है, वही मिथ्या ज्ञान एवं अन्यथा ख्याति है। इस प्रकार वे जैसे प्रत्यक्षरूप प्रमाज्ञान इन्द्रिय जन्य है, वैसे ही भ्रमज्ञान भी इन्द्रिय जन्य हैं।

इन्द्रिय अजन्य भ्रमज्ञान

वेदान्त सिद्धान्त में सर्प-भ्रम का विषय रस्सी नहीं वरन अनिर्वचनीय सर्प है और भ्रमज्ञान इन्द्रियजन्य भी नहीं है। न्यायमत में आत्मा सर्व ज्ञानों का आश्रय है, किन्तु वेदान्तमत में अन्तःकरण ही ज्ञानों का उपादान कारण और ज्ञानों का आश्रय भी है। न्यायमत में आत्मा के गुण सुख-दु:खादि है जबकि वेदान्त में सुख-दु:खादि गुण अन्तःकरण के ही परिणाम एवं धर्म हैं, आत्मा के नहीं हैं और भ्रमज्ञान अन्तःकरण का परिणाम न होकर अविद्या का ही परिणाम होता है।

वेदान्त मत के अनुसार सर्प के संस्कार युक्त पुरुष के सदोष नेत्रों का रस्सी से सम्बन्ध होने पर रस्सी के विशेष धर्म रस्सीपने की प्रतीति नहीं होती और न रस्सी के मूंज रूप अवयव ही

भासते हैं, वरन् रस्सी का सामान्य धर्म इदता ही भासती है। वैसे ही सांपों के विषय में समझो। इस प्रकार नेत्र के द्वारा रस्सी-देश में प्रविष्ट हुआ अन्तःकरण इदमाकार परिणाम को प्राप्त होता है और उस इदमाकार वृत्युपहित चेतन में स्थित अविद्या के सर्प और ज्ञान के आकार वाले दो परिणाम होते हैं वैसे ही दण्ड संस्कार वाले पुरुष के सदोष नेत्रों का रस्सी से सम्बन्ध होने पर अविद्या के परिणाम दण्ड और दण्ड ज्ञान होते हैं। यही बात माला संस्कार वाले पुरुष के सदोष नेत्रों के विषय में होती है। इस प्रकार एक रस्सी से तीन पुरुषों के दोषयुक्त नेत्रों का सम्बन्ध होने पर उन तीनों को सर्प,दण्ड और माला के पृथक पृथक् भ्रम होने पर, जिस-जिसकी वृत्युपहित चेतन में स्थित अविद्या में जो-जो विषय उत्पन्न होता है उसी-उसी का आभास होता है, अन्य का नहीं होता। इस प्रकार वेदान्त सिद्धान्त में भ्रमज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं, वरन् अविद्या की वृत्तिरूप ही है। पर जिस वृत्युपहित चेतन में स्थित अविद्या का परिणाम भ्रमरूप होता है वह इदमाकार वृत्ति नेत्र और रस्सी आदि के संयोग-सम्बन्ध से ही हो सकता है और इसीलिए भ्रमज्ञान के इन्द्रियजन्य होने का भ्रम होता है।

इसी प्रकार वेदान्त में अभाव का ज्ञान भी इन्द्रियजन्य नहीं वरन् अनुपलब्धि प्रमाणजन्य है। इसलिए न्याय मत में अभाव के प्रत्यक्ष का हेतु जो विशेषणता सम्बन्ध माना है,वह ठीक नहीं। तथा जहां व्यक्ति-जाति,गुण-गुण,क्रिया-क्रिया युक्त और उपादान कार्य का जो समवाय सम्बन्ध नैयायिकों ने स्वीकार किया है, वहां वेदान्त के अनुसार उन सभी का तादात्म्य सम्बन्ध है। वेदान्त मत में स्वामी विद्यारण्य ने मन को पंचभूतों का गुण माना है, किन्तु इसी मत के अनुयायी वाचस्पति ने मन को इन्द्रिय माना है। जो वेदान्ती मन को इन्द्रिय नहीं मानते, उनके

अनुसार सुखादि ज्ञानप्रमाणजन्य न होने से प्रमा नहीं, वरन् दुख-दु:खादि साक्षीभास्य हैं, पर, वाचस्पति सुखादि के ज्ञान को मन-रूप, प्रमाणजन्य और प्रमा मानते हैं। यद्यपि दोनों मतों में ब्रह्म का प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमा है, पर वाचस्पति के मत में वह मनरूप प्रमाण से उत्पन्न है, जबकि अन्य मत में शब्दरूप प्रमाणजन्य होता है।

जिन वेदान्तियों ने मन को अनिन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान के लक्षण को इन्द्रिय-अजन्य मान कर वृत्ति चेतन और विषय चेतन के अभेद को हीं प्रत्यक्ष ज्ञान का लक्षण कहा है, उनके अनुसार वाचस्पति का मत समीचीन नहीं है। क्योंकि अन्य इन्द्रियों के अपने-अपने असमान्य विषयों के समान मन का अपना कोई असामान्य विषय नहीं है और वैसा मानने में स्मृति से भी विरोध होता है, जैसे 'इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्य: पर मन इत्यादि (गीता ३।४२) के अनुसार मन को ईन्द्रियों से परे बताया है और सभी श्रुति स्मृति कहती हैं कि ब्रह्म मन के ज्ञान का विषय नहीं है। फिर, मन तो अन्त:करण की विशेष अवस्था को कहते हैं, और अन्त:करण प्रत्यक्ष ज्ञान का आश्रय होने से ज्ञान का कर्त्ता भी है, तो कर्त्ता कभी करण हो नहीं सकता, इसलिए मन को इन्द्रियाँ नहीं मान सकते।

यद्यपि मन के इन्द्रिय होने में उक्त दोष है, तो भी विचार पूर्वक देखें तों इन दोषों में तथ्य नहीं, क्योंकि मन का असा-मान्य विषय सुख, दु:ख, इच्छिादि होते हैं और जीव अन्त:करण विशिष्ट इन्द्रियों का ग्रहण होता है, इसलिए नेत्रादि इन्द्रियों से मन-इद्रिय परे होना मानने में कोई विरोध नहीं बनता। ब्रह्म मानस ज्ञान का विषय नहीं है इस कथन का तात्पर्य यह है कि शमादि संस्कारों से रहित विक्षुब्ध मन से जन्य ज्ञान का विषय

ब्रह्म नहीं हो सकता। श्रुति-स्मृति में ब्रह्म में मन की विषयता का निषेध है, वैसे ही शब्द की विषयता का भी निषेध किया गया है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' अर्थात् 'मन सहित वाणी जिस ब्रह्म तक न जाकर लौटती है' यह निषेध वचन है। यदि इस श्रुति का यह अर्थ लगावें कि ब्रह्म शब्द से उत्पन्न ज्ञान का विषय नहीं तो फिर शब्द रूप जो महावाक्य हैं, उनसे उत्पन्न ज्ञान का विषय भी ब्रह्म नहीं हो सकेगा और उससे सिद्धान्त से विरोध होगा। तथा मन के इन्द्रिय होने में यह दोष बताया है कि अन्तःकरण ज्ञान का आश्रय होने से कर्त्ता है और जो कर्त्ता है वह कारण नहीं हो सकता, यह दोष बनता नहीं है। क्योंकि अन्तःकरण रूप धर्मी ज्ञान का आश्रय होने से कर्त्ता हो ही सकता है, पर, अन्तःकरण का परिणाम रूप मन ज्ञान का करण हो, इसमें कोई दोष नहीं बनता। इस प्रकार मन भी प्रमाज्ञान का करण होने से प्रमाण है।

न्याय और वेदान्त का मतभेद

इन्द्रिय से द्रव्य के प्रत्यक्ष होने में तो न्याय और वेदान्त दोनों समान मत रखते है, पर, द्रव्य की जाति या गुण का प्रत्यक्ष होने में न्यायानुसार संयुक्त समवाय सम्बन्ध और वेदान्तानुसार संयुक्त तादात्म्य सम्बन्ध होता है। क्योंकि न्याय मत में माने गये समवाय सम्बन्ध के स्थान पर वेदान्त ने सर्वत्र तादात्म्य सम्बन्ध ही अंगीकार किया है। गुण की जाति में भी न्याय ने जहाँ संयुक्त समवेत समवाय सम्बन्ध माना है, वहाँ वेदान्त ने संयुक्त तादात्म्यवत् तादात्म्य अथवा संयुक्त-अभिन्न तादात्म्य सम्बन्ध कहा है। न्यायमत में श्रोत्र से शब्द का साक्षात्कार होने में श्रोत और शब्द का समवाय सम्बन्ध होता है, पर वेदान्त में श्रोत्र आकाश का कार्य होने से क्रिया होकर शब्दयुक्त द्रव्य से श्रोत्र का संयोग होता है। इसलिए श्रोत्रसंयुक्त द्रव्य में शब्द का

तादात्म्य सम्बन्ध है, क्योंकि शब्द पंचभूतों का गुण होने से भेरी आदि में भी है अतः श्रोत्रसंयुक्त तादात्म्य सम्बन्ध से शब्द का प्रत्यक्ष होता है और जहाँ शब्दत्व का प्रत्यक्ष हो वहाँ श्रोत्रसंयुक्त तादात्म्यवत् तादात्म्य सम्बन्ध होना मानते है। शब्दत्व जाति के समान तारत्वादि भी जाति है, इसलिए श्रोत का शब्दत्व जाति से सम्बन्ध ही तारत्वादि का है। वेदान्त में न्याय के समान जाति की कोई भिन्न उपाधि अंगीकार नहीं की गई है तथा अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से होता है, इसलिए इन्द्रिय से अभाव का सम्बन्ध नहीं बनता। प्रत्यक्ष प्रमा के सम्बन्ध में न्याय और वेदान्त में विचारों का जो भेद है, उस पर प्रकाश डाला गया और इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमा के छः भेद और छः ही उनके करण हैं, इसीलिए चक्षु आदि छः इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष प्रमाण मानी गई हैं। पर, पद्मपादाचार्य के अनुयायियों ने मन को प्रमाण न मान कर सुख-दुःख को साक्षी भास्य कहा है। इसलिए सुख-दुःख का जो ज्ञान है, वह प्रमा नहीं है। अन्तःकरण विशिष्ट चेतन जीव में जो अन्तःकरण भाग है, वह साक्षिभास्य और जो चेतन भाग है, वह स्वयं प्रकाश है, इसलिए आत्मज्ञान भी मानस नहीं और ब्रह्मविद्यारूप अपरोक्ष ज्ञान प्रमा है, फिर भी उसका करण शब्द होने से मन उसका प्रमाण नहीं है। इस प्रकार उनके सिद्धान्त से प्रत्यक्ष प्रमा के छः भेद ही बनते हैं, क्योंकि वे ब्रह्म की शब्दजन्य छटवीं प्रमा मानते हैं। अभावज्ञान के अनुपलब्धि प्रमाण जन्य होने पर भी वह प्रत्यक्ष है, इससे तो प्रत्यक्ष प्रमा के सात भेद बन सकते हैं। फिर भी इस ग्रन्थ के अनुसार अभाव ज्ञान में प्रत्यक्षता न होने से प्रत्यक्ष प्रमा के छः भेद ही होते हैं, सात नहीं होते। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमा का यह निरूपण संक्षेप रूप में किया गया है।

॥ प्रथम प्रकाश समाप्त ॥

द्वितीय प्रकाश

अनुमान प्रमाण निरूपण

अनुमिति की सामग्री का स्वरूप

अनुमिति प्रमा का कारण 'अनुमान प्रमाण' और लिंगज्ञान जन्य ज्ञान 'अनुमिति' कहलाता है। जैसे कि पर्वत में धुएँ के प्रत्यक्ष ज्ञान से वहाँ अग्नि होने का ज्ञान हो, इसमें धुँए का ज्ञान लिंगज्ञान है, उससे अग्नि का ज्ञान उत्पन्न होता है, इस प्रकार अग्नि का ज्ञान अनुमिति रूप है, अनुमितिज्ञान का विषय 'साध्य' और जिसके ज्ञान से साध्य का ज्ञान हो वह ,लिंग' कहलाता है, यहाँ अनुमिति ज्ञान का विषय अग्नि है, वह साध्य है और धुँआ लिंग है। अग्नि के बिना धुँआ नहीं रह सकता, इससे धुएँ में अग्नि की प्राप्ति बनती है, इसलिए धुँआ अग्नि का व्याप्य है तथा अग्नि व्याप्तिरूप सम्बन्ध का निरूपण करने वाला होने से अग्नि ही धुँए का व्यापक है। यहाँ अग्नि के बिना धुँआ नहीं हो सकता, इसलिए धुँए में अग्नि का अविनाभाव रूप सम्बन्ध बनता है, किन्तु अग्नि में धुएँ का अविनाभाव रूप सम्बन्ध नहीं बन सकता। क्योंकि तपते हुये लोहे के गोले में अग्नि को बिना धुएँ के रहता हुआ देखते हैं। इसलिए अग्नि का व्याप्य धुँआ है, धुँए का व्याप्य अग्नि नहीं है। वैसे ही रूप का व्याप्य रस है, क्योंकि पृथिवी, जल, तेज में रूप और पृथिवी तथा जल में रस भी रहता है, इसलिए रूप का रस में अविनाभाव रूप सम्बन्ध है इसलिए रूप का व्याप्य रस है। तात्पर्य यह है कि तेज में रस के बिना भी रूप का अस्तित्व है,

इसलिए रूप का व्याप्य रस ही हो सकता है। जो अधिक देश में रहे उसे व्यभिचारी कहते हैं, इसलिए धुँए से अधिक देश में रहने वाला अग्नि धुँए का व्यभिचारी हुआ। इसी प्रकार रस से अधिक देश में रहने वाला रूप रस का व्यभिचारी है, इस प्रकार रूप से न्यून देश में रहने वाले रस में रूप की व्याप्ति है और रस व्याप्य है।

जैसे अधिक देश में रहने वाले की न्यून देश में रहने वाले में व्याप्ति है, वैसे ही समान देश में रहने वाले दो पदार्थों में भी परस्पर व्याप्ति होती है। जैसे गन्धगुण और पृथिवीत्व जाति दोनों पृथिवी में रहते हैं, तो यहाँ गन्धगुण और पृथिवीत्व की और पृथिवीत्व में गन्ध की व्याप्ति बनेगी। वैसे ही स्नेहगुण और जलत्वजाति दोनों जल में रहते हैं, इसलिए दोनों समान देश वाले परस्पर व्याप्ति से युक्त और एक दूसरे के व्याप्य हैं। इस प्रकार न्यून देशवर्ती में अविनाभाव सम्बन्ध होने के समान ही समदेशवर्ती पदार्थों में भी परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध रहता है। प्रथम क्षण में गुण-रहित द्रव्य उत्पन्न होता है और द्वितीय क्षण में उसमें गुण की उत्पत्ति होती है, पर, द्रव्य में द्रव्यत्व जाति तो पूर्व क्षण में भी रहती है। इसलिये पृथिवी के प्रथम क्षण में गन्ध का अभाव रहता है, इससे गन्ध का व्यभिचारी पृथिवीत्व के होने से पृथिवीत्व में गन्ध का अविनाभाव रूप व्याप्ति अभाव रहता है, पर गन्ध में पृथिवीत्व की व्याप्ति बनती है। इस प्रकार यद्यपि पृथिवीत्व का व्याप्य गन्ध और जलत्व का व्याप्य स्नेह है, तो भी गन्धत्व और पृथिवीत्व तथा स्नेहत्व और जलत्व परस्पर में व्याप्य हैं। क्योंकि जिसमें जो पदार्थ कभी हो उसमें उस पदार्थ की अधिकरता सदा रहती है।

भट्टाचार्यादि ने व्याप्ति निरूपण में कहा है कि अव्याप्यवर्ती पदार्थ का अधिकरण व्याप्यवर्ती पदार्थ है, इससे अधि-

करणता व्याप्यवर्ती होती है। जैसे अव्याप्यवर्ती धुँए का अधिकरण व्याप्यवर्ती अग्नि होता है। अव्याप्यवर्ती के दो प्रकार हैं— देशकृत और कालकृत। जो पदार्थ केवल एक देश में हो वह देशकृत अव्याप्यवर्ती और जो किसी काल में हो, किसी में न हो उसे कालकृत अव्याप्यवर्ती कहते हैं। जैसे कि संयोग सदा ही पदार्थ के एक देश में होता है सर्वदेश में नहीं वह देशकृत अवाप्यवर्ती है। पर, शंयोग वाले पदार्थ के एक देश में होने पर भो संयोग की अधिकरणता सर्वदेशवर्ती ही होगी।

अनुमिति में व्याप्तिज्ञान की अपेक्षा

इस प्रकार व्याप्य धुँए का जिसे पर्वतादि में प्रत्यक्षज्ञान या शब्द ज्ञान हो, उसे वहाँ अग्नि का अनुमिति ज्ञान होता है। ऐसे ही रस का प्रत्यक्षज्ञान हो तो रूप का अनुमिति ज्ञान होगा। पर जिसे पहले यह अनुभव हुआ हो कि धुँआ अग्नि का व्याप्य है अथवा रस रूप का व्याप्य है उसे धुँए या रस के प्रत्यक्ष होने से इनके व्याप्यत्व का स्मरण होने पर अग्नि या रूप की अनुमिति होती है। व्याप्यत्व को ही व्याप्ति कहते हैं और जिसे पहले व्याप्यत्व का ज्ञान न हुआ हो, उसे धुँए आदि के ज्ञान से अग्नि की अनुमिति भी नहीं हो पाती। इससे व्याप्ति ज्ञान को अनुमिति का करण समझना योग्य है। धुँआ अग्नि की व्याप्ति वाला है या नहीं ? ऐसा संदेह रूप ज्ञान हुआ हो तो उसे धुँए के ज्ञान से अग्नि का अनुमिति ज्ञान नहीं हो सकता, वरन्, धुँआ अग्नि की व्याप्ति वाला है उसे ही अनुमिति ज्ञान होता है. इसलिये व्याप्ति के निश्चय को अनुमिति का हेतु समझना चाहिए। महानसादि में धुँआ-अग्नि का बाम्बार सहचार देखकर अग्नि

का व्याप्य धूम है, यही ज्ञान होता है, यही कभी नहीं होता कि धूम का व्याप्य अग्नि है । पर, अग्नि में धूम के सहचार और व्यभिचार दोनों की प्रतीत होने से यह निश्चय नहीं होता कि धूम का व्याप्य अग्नि है। किन्तु ऊँची धूम-रेखा में अग्नि का व्यभिचार न होने से उनमें अग्नि की व्याप्ति का प्रत्यक्ष निश्चय होता है।

अनुमिति क्रम विषयक नैयायिक मत

सर्व न्याय मत में अनुमिति का यह क्रम यह है कि पहले तो महानसादि में हेतु जो साध्य है उसका सहचार दिखाई देने से हेतु में साध्य की व्याप्ति बनती और फिर पर्वतादि में हेतु का प्रत्यक्ष होकर संस्कारों के उत्पन्न होने पर व्याप्ति की स्मृति होती है। तत्पश्चात् जो साध्य का व्याप्ति विशिष्ट हेतु पक्ष में प्रत्यक्ष होता है, वही 'परामर्श' कहलाता है। 'अग्नि का व्याप्य धूम वाला पर्वत' यह कथन अनुसार में परामर्श का आकार तथा 'साध्य व्याप्य हेतुमान पक्ष' यह परामर्श का साधारण रूप है। तदनन्तर 'पर्वत अग्नियुक्त है' यह अनुमिति ज्ञान होता है।

किन्तु पुरातन नैयायिकों के मत में 'करण ही परामर्श हैं दूसरे सभी ज्ञान व्यर्थ हैं। इनके अनुसार परामर्श ही अनुमान है, इस प्रकार यह व्यापार-रहित कारण को भी करण कहते हैं।, अतएव अनुमिति का करण परामर्श होने से वही अनुमान प्रमाण है। किसी नैयायिक के मत में ज्ञान का हेतु अनुमान प्रमाण है तो कोई व्याप्ति के स्मृति ज्ञान को अनुमान प्रमाण कहते हैं। इस प्रकार अनुमिति, करण और व्यापार विषयक अनेक मत होते ए भी सभी नैनायिक परामर्श का अंगीकार करते हुए परामर्श के बिना अनुमिति का होना नहीं मानते ।

अनुमिति विषयक मीमांसक मत

मीमांसा के अनुसार पर्वत में धूम की प्रत्यक्षता से व्याप्ति की स्मृति होने पर अग्नि की अनुमिति हो, वहाँ परामर्श के बिना भी अनुमिति अनुभव में आती है, इसलिए जहाँ परामर्श होकर अनुमिति हो, वहाँ भी अनुमिति का कारण परामर्श नहीं हो सकता। जैसे दैवयोग से समागत गधा या कुम्हार की पत्नी की घट में अन्यथा सिद्धि है। जो वस्तु कारण-सामग्री में न हो वह 'अन्यथासिद्ध' मानी जाती है। इस प्रकार मीमांसा में भी न्याय-मत के समान एक परामर्श के अतिरिक्त अनेक पदार्थ अनुमान प्रमाण कहलाते हैं।

अनुमिति विषयक अद्वैतमत

अविरोध की स्थिति में अद्वैत ग्रन्थ भी मीमांसा की प्रक्रिया के अनुसार हैं। इस मत में भी परामर्श करण नहीं है, वरन् महानसादि में व्याप्ति का होने वाला प्रत्यक्ष रूप अनुभव ही अनुमिति का कारण है तथा व्याप्ति के अनुसार के उभरते हुए संस्कार व्यापार और पर्वत में धुँए का प्रत्यक्ष संस्कारों का उद्बोध करने वाला है। जहाँ व्यप्ति की स्मृति हो, वहाँ स्मृति की उत्पत्ति से संस्कार नष्ट नहीं होते, इसलिए स्मृति और संस्कार दोनों के व्यापार बनते हुए भी अनुमिति के व्यापार रूप कारण संस्कार ही हैं, व्याप्ति की स्मृति नहीं। क्योंकि अनुमिति में व्याप्ति की स्मृति को व्यापार रूप कारण मानें तो भी संस्कार ही स्मृति के कारण मानने होंगे, और तब स्मृति में भी अनुमिति की व्यापार रूप कारणता का अंगीकार करना होगा, जिससे कि दोनों में कारणता की कल्पना होगी। किन्तु स्मृति के कारण रूप संस्कार को ही अनुमिति का व्यापार रूप

कारण मान लेने पर स्मृति में कारणता की महत्ता होगी। इस प्रकार अनुमिति में व्याप्ति का अनुभव करण, संस्कार व्यापार और अनुमिति फल है। नैयायिकों के समान वेदान्त मत में भी अनुमिति का कारण परामर्श नहीं माना।

संस्कार को अव्यापारता

यदि संस्कार को अनुमिति का व्यापार न मान कर स्मृति को ही व्यापार मान लें तो भी सिद्धान्त नष्ट नहीं होता। यद्यपि इस मान्यता से वेदान्त परिभाषादि ग्रन्थों से विरोध होगा, पर, युक्त अर्थ के निर्णय में आधुनिक ग्रन्थों से विरोध होने में भी कोई दोष नहीं है। यदि अनुमिति और स्मृति दोनों ज्ञानों में परस्पर प्रतिबध्यता और प्रतिबन्धकता मानें तो अयुक्ति दोष एवं अनुभव में भी विरोध होगा। क्योंकि पर्वत में धुँआ दिखाई देने से धुएँ में अग्नि की व्याप्ति का स्मरण होते ही अनुमिति होती है, यह अनुभव सिद्ध है। जहाँ दो ज्ञानों की सामग्री में भिन्नता हो वहाँ एक सामग्री दूसरे ज्ञान में प्रतिबन्धक हो सकती है, किन्तु यहाँ जब स्मृति और अनुमिति दोनों की सामग्री एक संस्कार ही है, तब उनका प्रतिबन्धक-प्रतिबन्धयक भाव भी नहीं बनता। यदि यह कहें कि अनुमिति से स्मृति का प्रतिबन्ध होता है तो अनुमिति आगे होने वाली है, वह तो अभी उत्पन्न ही नहीं हुई, तब वह स्मृति की प्रतिबन्धक कैसे हो सकती है? वेदान्त परिभाषा के अनुसार जहाँ स्मृति होती है, वहाँ संस्कार नष्ट नहीं होता, वरन् संस्कार और स्मृति दोनों रहते हैं, यह पक्ष संस्कारों को अनुमिति का व्यापार रूप कारण नहीं मानता।

इस प्रकार व्याप्ति का अनुभव अनुमिति का करण और व्याप्ति की स्मृति को व्यापार मानने वाला पक्ष ही दोष-रहित

है। इस प्रकार से अनुमिति होना स्वार्थानुमिति कहलाती है। किन्तु नैयायिक लोग धर्म के प्रत्यक्ष और व्याप्ति की स्मृति होने पर भी अग्नि की अनुमिति नहीं होती, वरन् परामर्श संज्ञक तृतीय ज्ञान होने पर अनुमिति होती है।

परार्थ अनुमान, अनुमिति और तर्क

दो पुरुषों में एक तो पर्वत में अग्नि का अनुमान प्रमाण से निश्चय करे और दूसरा उसे न माने तो अग्नि के निश्चय वाला पुरुष अपने प्रतिवादी का जो समाधान करे उसे 'परार्थ अनुज्ञान' कहते हैं। ऐसे समाधान के वेदान्त में प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण यह तीन अवश्य माने गए हैं। जैसे 'पर्वतोवह्निमान्' अर्थात् पर्वत अग्नि युक्त है, 'धूमात्' अर्थात् धुँए से और 'यो यो धूमवान् सोऽग्निमान् यथा महानसः' इस महावाक्य में उक्त तीन अवान्तर वाक्य हैं, जिनमें—

'प्रतिज्ञा वाक्य' साध्य विशिष्ट पक्ष का बोध कराने वाला है, जिससे अग्नि विशिष्ट पर्वत का बोध होता है। इसमें अनुमिति का विषय अग्नि साध्य और पर्वत पक्ष है, क्योंकि अनुमिति का विषय साध्य कहलाता है। वेदान्त मत में 'पर्वतो वह्निमान्' यद्यपि एक ज्ञान है, किन्तु पर्वत अंश में इन्द्रियजन्य और वह्नि अंश में अनुमानजन्य है। इस प्रकार इस ज्ञान में चाक्षुषता और अनुमितिता दो धर्म हैं, वहाँ पर्वत में चाक्षुषता अंश की विषयता और अग्नि में अनुमिति अंश की विषयता है, अतएव अनुमिति का विषय पर्वत नहीं, वरन् अग्नि ही है।

लिंग-बोधक वाक्य को 'हेतु वाक्य' कहते हैं। महावाक्य का द्वितीय अवान्तर वाक्य 'धूमात्' है। यद्यपि 'धूमात्' और 'धूमेन

दोनों समानार्थक हैं, फिर भी 'धूमेन' वाक्य के सम्प्रदाय में मान्य न होने से 'धूमात्' वाक्य ही हेतु वाक्य है।

हेतु और साध्य के सहचार का बोध कराने वाला दृष्टान्त प्रतिपादक वाक्य 'उदाहरण' कहा जाता है। वादीप्रतिवादी का विवाद न रहने पर जो निर्णीत अर्थ हो उसे दृष्टान्त कहते हैं, यह महानस है।

इस प्रकार तीनों अवान्तर वाक्यों का समुदाय रूप महावाक्य विवाद के निवारण में सिद्ध है। इस पर भी प्रतिवादी का आग्रह हो कि पर्वत में धूम ही है, अग्नि नहीं है तो उसकी निवृत्ति इस प्रकार के तर्क से की जाती है कि यदि पर्वत में अग्नि के बिना ही धूम हो तो फिर धूम अग्नि का कार्य नहीं रहेगा, क्योंकि कारण के बिना कार्य नहीं हो सकता। यह सबल तर्क सन्देह निवारण में समर्थ है। इस प्रकार महावाक्य को 'परार्थानुमिति' कहलाती है और तर्क को अनुमान प्रमाण का सहकारी मानते हैं।

परार्थानुमान का स्वरूप वर्णन

वेदान्त वाक्यों में जीव-ब्रह्म का अभेद निश्चित है, जिसकी सिद्धि अनुमान प्रमाण से भी होती है। इसमें महावाक्य के तीन अवयव है—(१) जीवो ब्रह्माभिन्नः, (२) चेतनत्वात्, (३) यत्र-यत्र चेतनत्वं तत्रतत्र ब्रह्माभेदः यथा ब्रह्मणि अर्थात् जीव ब्रह्म से अभिन्न है, चेतन होने के कारण, जहाँ-जहाँ चेतनत्व है, वहाँ-वहाँ ब्रह्म का अभेद ब्रह्म के समान ही है।

इस महावाक्य में जीव पक्ष, ब्रह्म-अभेद साध्य, चेतनत्व हेतु और ब्रह्म दृष्टान्त है। अथवा इस प्रकार समझो कि 'जीवों ब्रह्माभिन्नः

अर्थात् 'जीव ब्रह्म से अभिन्न है, यह प्रतिज्ञा, चेतनत्वात्' हेतु और 'यत्र-यत्र चेतनत्व' इत्यादि उदाहरण है। यदि प्रतिवादी कहे कि जीव में चेतनत्व रूप हेतु के होते हुए भी ब्रह्म-अभेद रूप साध्य नहीं है, इस शंका का समाधान यह होगा कि यदि जीव में चेतनत्व रूप हेतु तो मानें और ब्रह्म-अभेद रूप साध्य न मानें तो चेतन को अद्वितीय कहने वाली श्रुति से विरोध होगा। इसमें अन्य दृष्टान्त भी है कि ज्ञान-रहित होने से व्यावहारिक प्रपंच असत्य है, क्योंकि ज्ञान की निवृत्ति होती है, जहाँ-जहाँ वहाँ-वहाँ सीपी में चाँदी आदि के समान मिथ्यात्या ही होता है।

इस प्रकार वेदान्त के अनुमान अनेक अनुसार होने पर भी अद्वितीय ब्रह्म का जो निश्चय वेदान्त वाक्यों से होता है, उससे जीव-ब्रह्म के असंभावित अभेद का निवारण और सभावित की सिद्धि का हेतु अनुमान प्रमाण ही होता है और स्वतंत्र अनुमान प्रमाण ब्रह्मसाक्षात्कार का हेतु इसलिए नहीं होता कि ब्रह्म में वेदान्त वाक्य के अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं है। इस प्रकार यह संक्षेप से अनुमान प्रमाण का निरूपण किया गया।

॥ द्वितीय प्रकाश समाप्त ॥

तृतीय प्रकाश

शब्द प्रमाण निरूपण

शाब्दी प्रमा का वर्णन

शाब्दी प्रमा का करण 'शब्द प्रमाण' कहलाता है। यह प्रमा व्यावहारिक और पारमार्थिक के भेद से दो प्रकार की है। व्यावहारिक शाब्दी प्रमा के भी दो भेद हैं—लौकिक वाक्यजन्य और वैदिक वाक्यजन्य। जैसे 'नीला घट' यह लौकिक वाक्य है और 'वज्रहस्त पुरन्दर' यह वैदिक वाक्य है। वर्णों के समुदाय को 'पद' और पदों के समुदाय को 'वाक्य' कहते हैं। व्याकरण के अनुसार 'नीलो घट' वाक्य में दो पद हैं, जबकि न्यायानुसार चार पद है। किन्तु व्याकरण वाले भी चारों के समुदाय में ही अर्थबोधकता अंगीकार करते हैं।

'नीलो घट' इस वाक्य के सुनने पर श्रोता को वाक्य के सभी पद प्रत्यक्ष सुनाई देते हैं और पदों की प्रत्यक्षता से पदार्थों की स्मृति होती है। इसमें शंका है कि पदों का अनुभव पदों की स्मृति का और पदार्थों का अनुभव पदार्थों की स्मृति का सेतु है, किन्तु पदों की प्रत्यक्षता उनकी स्मृति की सेतु नहीं बन सकती। क्योंकि जो वस्तु पहिले अनुभव में आ चुकी हो, उसी की स्मृति होती है।

इस स्मृति का हेतु होते हुए भी स्मृति तो उत्पन्न संस्कारों से
उसकी स्मृति का हेतु होते हुए भी स्मृति तो उत्पन्न संस्कारों से

ही हो सकती है, अनुत्पन्न संस्कारों से नहीं हो सकती। यदि अनुत्पन्न संकारों से स्मृति हो जाती हो तो अनुभूत पदार्थ की स्मृति सदैव होती रहनी चाहिए। संस्कारों का उद्बोध सम्बन्धी के ज्ञान से या सादृश्य पदार्थ के ज्ञान से अथवा चिन्तन से ही हो सकता है। जैसे पुत्र को देख कर पिता की या पिता को देख कर पुत्र की स्मृति हो, यह सम्बन्धी का ज्ञान संस्कार के उद्बोध में कारण है, वैसे ही एक संन्यासी को देखकर पूर्व परिचित सन्यासी की स्मृति वाला सादृश्य ज्ञान सम्कारोद्बोध' का कारण बनता है और एकान्त स्थान में अनुभूत पदार्थ का चिन्तन भी संस्कारों के उद्बोध में हेतु हो जाता है। इस प्रकार उद्बुद्ध और पूर्व अनुभूत यह दो संस्कार ही स्मृति के कारण होते हैं। इस प्रकार जहां एक सम्बन्धी के ज्ञान से दूसरे सम्बन्धी की स्मृति हो, वहाँ जिसे दोनों पदार्थों का सम्बन्ध ज्ञान हो उसे एक के ज्ञान से ही दूसरे की स्मृति होना संभव है। परन्तु जिसे दोनों में से किसी एक का भी ज्ञान न हो, उसे एक के ज्ञान से दूसरे की स्मृति हो ही नहीं सकती वैसे ही जिसे पद और अर्थ के परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान हो उसे अर्थ की स्मृति पद के ज्ञान से ही होती है, पर जिसे पदार्थ के सम्बन्ध का ज्ञान न हो उसे पद का ज्ञान होने पर भी अर्थ की स्मृति नहीं हो सकती। इससे वृत्तियुक्त पद का ज्ञान पदार्थ की स्मृति का हेतु होना सिद्ध होता है।

शाब्दी शक्ति वृत्ति

शब्द की वृत्ति के दो भेद हैं—(१) शक्ति रूप और (२) लक्षणा। नैयायिकों के अनुसार तो ईश्वर की इच्छा ही शक्ति है, पर मीमांसकों के मत में शक्ति संज्ञक कोई भिन्न पदार्थ भी

है। वैयाकरण और पातंजल के मत में वाच्य-वाचकता के मूल पद और अर्थ को शक्ति कहा जाता है। किन्तु वेदान्त सिद्धान्त में सर्वत्र स्वकार्य करने के सामर्थ्य को शक्ति माना है । जैसे कि धागे में वस्त्र और अग्नि में दाह की सामर्थ्य ही शक्ति होती है, वैसे ही पदों में निज अर्थ के ज्ञान की सामर्थ्य शक्ति कहलाती है। पर, अग्नि की दाहक शक्ति में ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती, जब कि शक्ति वृत्ति के विषय में पद की शक्ति के ज्ञान से ही अर्थ की स्मृति रूप कार्य बन सकता है। यदि कहें कि पद की जो स्मृति होने पर पद के ज्ञान से ही अर्थ की स्मृति होती है, वह नहीं होनी चाहिए, क्योंकि शक्ति वाले पद का वर्तमान में क्षय होने से वर्तमान में अर्थ की स्मृति के हेतु पद का अभाव है। इस का समाधान यह है—

मीमांसा में सर्व पद नित्य हैं, अतएव पद का क्षय संभव नहीं। यदि पदों को अनित्य मानो तो वैसा नहीं मान सकते, क्योंकि पद में पद-अर्थ की स्मृति की सामर्थ्य नहीं, वरन् पदज्ञान में ही वह सामर्थ्य है। अतएव, पद का क्षय हो तो भी वर्तमान में पद का स्मरण रूप ज्ञान होता ही है तथा वर्तमान पद हो तो पद का सुनना प्रत्यक्ष ज्ञान ही है, उन ज्ञानों में जो पद-अर्थ की स्मृति का सामर्थ्य है, उसे ही शक्ति मानना चाहिए। इस पक्ष में शक्तियुक्त पद नहीं, वरन् पद का ज्ञान है, भट्टाचार्य ने अपने ग्रन्थ में यह मत व्यक्त किया है । इस प्रकार पद को या पदज्ञान की सामर्थ्य को शक्ति मानना ही समीचीन है।

शक्ति विषयक शंका-समाधान

शक्तियुक्त पदज्ञान की स्मृति होने में, जितने पदार्थों की स्मृति हो, उतने पदार्थों के पदों के साथ सम्बन्ध का ज्ञान

'वाक्यार्थज्ञान' है. यही शाब्दी प्रभा कहलाती है। जैसे नीलो,-घट:' वाक्य में 'नील' पद' 'ओंकार' पद, 'घट' पद और 'विसर्ग' पद' यह चार पद हैं। इनमें से 'नील' पद की शक्ति नोल रूप विशिष्ट में है और 'ओंकार' पद व्यर्थ है, या ओंकार पद की अभिन्नता है। 'घट' पद की शक्ति घटत्व विशिष्ट में और 'विसर्ग' पद की शक्ति एकत्व संख्या में है। कोश और व्याकरण आदि से शक्ति का ज्ञान हो सकता है, क्योंकि कोश के अनुसार नील-पीतादि वर्ण या वर्ण वाले में शक्ति होती है और व्याकरण के अनुसार एकत्व में शक्ति मानी जाती है गौतम के मत आकृति जाति और व्यक्ति में सभी पदों की शक्ति होती है। अवयवों का संयोग आकृति, अनेक पदार्थों में नित्य स्थित एक धर्म जाति और जाति का आश्रय व्यक्ति होता है।

शिरोमणि भट्टाचार्य ने सर्व पदों की शक्ति केवल व्यक्ति में ही मानी है। इनके अनुसार 'घट' पद का वाच्य घट-व्यक्ति ही है, घटत्व जाति या कपाल-संयोग नहीं। इस मत में यह शंका बनती है कि वैसा मानने पर 'घट' पद के उच्चारण से घट-त्व की जो प्रतीति होती है, वह नहीं होनी चाहिए, क्योंकि यह नियम है कि लक्षणा के बिना पद से अवाच्य अर्थ की प्रतीति मान लें तो जैसे घट पद से घट पद के अवाच्य घटत्व की प्रतीति मानी है, वैसे ही घट पद से घट पद के अवाच्य पटादि का भी ज्ञान होना चाहिए। इस शंका का सवाधान भट्टाचार्य के मत में ही इस प्रकार किया गया है—

वाच्य और वाच्य में स्थित जाति, दोनों की पद से प्रतीति होती है, इसलिए जाति से भिन्न आवच्य की प्रतीति पद से नहीं होती। अतएव घटादि पदों से घटत्वादि अवाच्य तो प्रतीत होते

हैं, पर, अवाच्य पटादि की प्रतीति नहीं होती। यदि शंका करें कि पदों से वाच्यवर्ती अवाच्य जाति की प्रतीति मान लें तो 'घट' पद से पृथिवीत्व जाति की भी प्रतीति माननी होगी और ब्राह्मण पद में ब्राह्मणत्व के समान मनुष्यत्व भी इसलिए ब्राह्मणत्व मानना होगा तो इसका समाधान यह है कि पद से वाच्य की और वाच्यतावच्छेदक अवाच्य जाति की ही प्रतीति होती है। जैसे कि 'घट' पद का वाच्य घट व्यक्ति और वाच्यतावच्छेदक घटत्व जाति दोनों का ही 'घट' पद से भान होता है। 'घट' पद का पृथिवीत्व न तो वाच्य है और न वाच्यतावच्छेदक ही है, अतः घट पद से पृथिवीत्व की प्रतीति संभव नहीं। वाच्यता से न्यूनवर्ती और अधिकवर्ती न होकर जितने देश में वाच्यता हो उतने ही सीमित देश में हो, वह वाच्यतावच्छेदक कहलाता है। इस प्रकार घट पद की वाच्यता सर्व घट व्यक्ति में है और घटत्व भी सर्व घट व्यक्ति में है,इसलिए घट पद की वाच्यता से घटत्व कण या अधिक देश में स्थित नहीं, वरन् समान देश में स्थित होने से घट पद की वाच्यता की अवच्छेदक घटत्व है, पृथिवीत्व नहीं। इसी प्रकार ब्राह्मणत्व ही ब्राह्मण पद का वाच्यता अवच्छेदक होता है, मनुष्यत्व नहीं हो सकता। इससे यह सिद्ध हुआ कि घटादि पदों से घटत्वादि की ही प्रतीति हो सकती है, पटत्वादि की नहीं होती।

इसके विपरीत मीमांसा के अनुसार घटादि पदों की शक्ति जाति मात्र में है, व्यक्ति में नहीं। इसमें शंका हो सकती है कि जिस अर्थ में जिस पद की शक्ति का ज्ञान हो, उस अर्थ को उसी पद से स्मृति होने पर शाब्दी प्रमा उत्पन्न होती है। यदि व्यक्ति में पद की शक्ति न हो तो पद से व्यक्ति की स्मृति और शाब्दी प्रमा नहीं होनी चाहिए ।

उक्त शका का समाधान है कि शब्द प्रमाण से मात्र जाति का ज्ञान होते हुए भी अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा व्यक्ति का भी ज्ञान होता है। जैसे दिन में भोजन न करने वाला पुरुष यदि रात्रि में भोजन न करे तो स्थूल नहीं रह सकता, वैसे ही व्यक्ति के बिना जाति में क्रिया नहीं हो सकती। अतएव अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा व्यक्ति का बोध होना बनता है। जैसे गाय को लाओ इस वाक्य में गाय के लाने का ही बोध है पर, गाय-व्यक्ति के लाये बिना उसका लाना सम्भव नहीं है क्योंकि क्रिया जाति में नही वरन् व्यक्ति में होती है। इस प्रकार गाय व्यक्ति का लाना सम्पादक और गायत्व का लाना सम्पाद्य है, क्योंकि सम्पादक-ज्ञान का हेतु सम्पाद्य ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण कहलाता है। इसमें सम्पादक व्यक्ति का ज्ञान प्रमा और सम्पाद्य जाति का ज्ञान प्रमाण है।

वाक्य भेद

'नीलोघटः' वाक्य का अर्थ 'नील से अभिन्न घट' है,, यह लौकिक वाक्य है और 'वज्रहस्तः पुरन्दरः' अर्थात् 'वज्रहस्त से अभिन्न पुरन्दर है' यह वैदिक वाक्य है। जैसे नीलोघटः में नील पद विशेषण का और घट पद विशेष्य का बोधक है, वैसे ही वज्रहस्तः पुरन्दरः में वज्रहस्त पद विशेष्य का बोधक होता है। इसमें विशेषण पद के आगे लगा विसर्ग निरर्थक या अभेद व्यक्त करने वाला और विशेष्य पद के आगे का विसर्ग एकत्व बोधक है। इस प्रकार लौकिक और वैदिक दोनो वाक्य समान हैं। पर वैदिक वाक्य व्यावहारिक अर्थ बोधक और परमार्थतत्व बोधक के भेद से दो प्रकार के हैं। जो ब्रह्म है वही परमार्थ तत्व और जो ब्रह्म से भिन्न है वह सब व्यावहारिक अर्थ है।

ब्रह्मबोधक वाक्य के भी दो भेद हैं(१)अवान्तर वाक्य, और (२)ब्रह्म बोधक वाक्य,इनमें जो तत्पदार्थ या त्वंपदार्थ के स्वरूप

का बोध करावें वे अवान्तर वाक्य हैं। जैसे कि 'सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म' अर्थात् 'ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त स्वरूप है, यह वाक्य तत्पदार्थ के स्वरूप का बोध कराने वाला और 'य एष ह्यन्त-ज्योतिः पुरुषः अर्थात् 'यह जो हृदय में ज्योतिमय पुरुष है' यह वाक्य त्वंपदार्थ का स्वरूप बोधक है। द्वितीय भेद के ब्रह्मबोधक वाक्य तत्पदार्थ और त्वंपदार्थ के अभेद का बोध कराने वाले 'तत्वमसि' आदि हैं जो कि महावाक्य कहलाते हैं।

शाब्दी शक्ति और लक्षणावृत्ति

वृत्ति के दो भेद 'शक्ति' और 'लक्षणा' के विषय में पहले कह चुके हैं। इनमें ईश्वरेच्छा या वाच्य वाचक भाव का मूल तादात्म्य सम्बन्ध अथवा पदार्थ बोध की हेतु सामर्थ्य 'शक्ति' और जिस अर्थ में पद-शक्ति हो वह अर्थ उस पद का 'शक्य होता है। वही शक्य सम्बन्ध लक्षणा है।

जैसे 'गङ्गायां ग्रामः' अर्थात् 'गङ्गा में गाँव है' इसमें पद की शक्ति प्रवाह में होने से प्रवाह गंगा पद का शक्य होता है, उस प्रवाह से तट का संयोग सम्बन्ध भी है। इस प्रकार पद का तट से परम्परा सम्बन्ध ही गंगा पद की तट में लक्षणा होती है, क्योंकि साक्षात् सम्बन्ध वाले से सम्बन्ध ही परम्परा सम्बन्ध हैं। इससे यह मानना ठीक है कि जिस पद का जिस अर्थ से प्रत्यक्ष शक्ति रूप सम्बन्ध हो, वही अर्थ उस पद का 'शक्य' और जिस अर्थ से जिस पद के शक्य का सम्बन्ध हो, वह अर्थ उस पद का लक्ष्य कहलाता है। जैसे कि गंगा पद के शक्य प्रवाह का तटरूप अर्थ से सम्बन्ध होने के कारण गंगा पद का शक्य प्रवाह और तट लक्ष्य है।

इस प्रकार पद के अर्थ से साक्षात् सम्बन्ध वाली और परम्परा सम्बन्ध वाली, दो प्रकार की वृत्ति है, जिसे जिस पद की वृत्ति का ज्ञान न हो, उसे उस पद का सुनना प्रत्यक्ष होने पर भी पदार्थ की स्मृति और शब्द का बोध नहीं होता, अतएव वृत्ति के शक्ति व लक्षणा रूप भेद-ज्ञान पदार्थ की स्मृति और शब्द-बोध का कारण बनता है।

शब्द बोध का क्रम

जिसे पद की वृत्ति का बोध हो उसे प ले तो वाक्य के सभी पदों का श्रवण प्रत्यक्ष होता है, तब जिस पद की जिस अर्थ में वृत्ति का ज्ञान हो, उस पद से उसी अर्थ की स्मृति हो जाती है। फिर परस्पर सम्बन्ध वाले सब पदार्थों का या सब पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध का जो ज्ञान होता है, वह वाक्यार्थ ज्ञान है। जैसे गामानय त्व' वाक्य में गाय आदि पद होने पर पहले उसकी स्व-स्व अर्थ में वृत्ति का ज्ञान इस प्रकार होना चाहिए कि गाय पद की गोत्व विशिष्ट पशु विशेष में भक्ति, द्वितीया विभक्ति के कर्त्तृत्य में शक्ति, 'आ' पूर्व 'नी' पद की आनय में शक्ति यकार के बाद अकार की कृति और प्रेरणा में शक्ति तथा त्वंपद की सम्बोधन योग्य चेतन में शक्ति है,

इस प्रकार जिसे शक्ति-ज्ञान है, उसे 'गामानय त्वं' वाक्य श्रोत्र से योग होने के अनन्तर गाय आदि सब पदों का श्रवण प्रत्यक्ष होकर उन पदों के शक्य रूप अर्थ की स्मृति हो जाती है जैसे कि हाथी पालक वाले के ज्ञान से उसके सम्बन्धीं हाथी की स्मृति हो जाती है, वैसे ही पदों के ज्ञान से उनके सम्बन्धी शक्यार्थ की भी स्मृति होती है। जो हाथी—पालन को यह न जाने कि वह हाथी पालने वाला है या उसका हाथी से कोई

सम्बन्ध है तो उसे यही ज्ञान होगा कि यह मनुष्य है और उसे देखकर हाथी की स्मृति भी नहीं होगी। इस प्रकार वृत्तिमय पद का ज्ञान ही पदार्थ-स्मृति का हेतु है, केवल पद का ज्ञान ही स्मृति का हेतु नहीं हो सकता। पदों के ज्ञान से सब पदार्थों की स्मृति होने पर ही सर्व पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान सम्भव है।

'गामानय त्वं' वाक्य में गाय पदार्थ का दूसरे अर्थ में कर्त्तृत्व में आधेयत्व सम्बन्ध है, आधेयत्व ही वृत्तित्व है। 'आ' पूर्व 'नी' के अर्थ आनय में कर्त्तृत्व का निरूपकत्व सम्बन्ध है और यकारान्तर अकार के दो अर्थ हैं—'कृति' और प्रेरणा' कृति में आनयान अनुकूलता-सम्बन्ध, कृति का त्वं पदार्थ में आश्रयता सम्बन्ध और प्रेरणा का त्वं पदार्थ में विषयता सम्बन्ध होता है। यहाँ वृत्तिविशिष्ट सर्व पदार्थों का ज्ञान शब्द-प्रमाण, पद-ज्ञान से पदार्थ की स्मृति व्यापार और वाक्यार्थ का ज्ञान शाब्दी प्रमा एवं फल है।

लक्षणा का वर्णन

पद के शक्य से सम्बन्ध होना 'लक्षणा' कहलाता है। जहां पद के साक्षात् सम्बन्ध रूप शक्ति का अभाव हो, वहां परम्परा सम्बन्ध रूप लक्षणा वृत्ति होती है। केवल लक्षणा और लक्षित लक्षणा के भेद से लक्षणा के दो प्रकार हैं। पद के वाच्य से सम्बन्ध होने पर 'केवल लक्षणा' बनती है। जैसे कि गङ्गा पद की लक्षणा तट में होती है, क्योंकि गङ्गा पद के शक्य प्रवाह का तट से साक्षात् संयोग सम्बन्ध होता है, इसलिए गङ्गा पद की तट में केवल लक्षणा ही बनेगी।

अब लक्षित लक्षणा के विषय में कहते हैं—'द्विरेफौ रौति' का पदों की शक्ति से 'दो रेफ ध्वनि करते हैं यह अर्थ होता है।

परन्तु रेफ में ध्वनि करना संम्भव नहीं है, इसलिए वक्ता का तात्पय शक्यार्थ में न होना समझा जाता है। लेकिन दो रेफ वाला भ्रमर पद उस भ्रमर पद के शक्य में 'द्विरेफ' पद की लक्षणा होती है। इसे लक्षणा मात्र नहीं, वरन् यह समझना चाहिए कि जिसका पद के शक्यार्थ से साक्षात् सम्बन्ध हो उस में लक्षणा बनती है । किन्तु यहां द्विरेफ पद का शक्य दो रेफ अथवा दो प्रकार हैं लक्षणा द्वारा उनका अवयविता सम्बन्ध भ्रमर पद में और भ्रमर पद की शक्ति वृत्ति मधुप में है। इस प्रकार द्विरेफ पद का शक्द्ध दो रेफ, उसका लक्ष्य भ्रमर पद, उसका शक्य मधुप है और उस मधुप में लक्षणा द्वारा द्विरेफ का परम्परा सम्बन्ध होने से यह लक्षित लक्षणा कहलाती है।

यद्यपि द्विरेफ का अर्थ दो रेफ होते हुए भी उसका प्रयोग दो रेफ वाले के लिए होता है और दो रेफ वाला भ्रमर पद है, इसलिए द्विरेफ पद के शक्य भ्रगर पद का मधुप से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होने के कारण शक्य सम्बन्धी केवल-लक्षणा ही बननी चाहिए। नो भी व्याकरण में समास की शक्ति मानने से द्विरेफ पद का शक्य दो रेफ वाला बनने पर भी नैयायिक और वैशेषिक आदि समास की शक्ति को अ गीकार नहीं करने, वरन् समास-समुदाय के पद रूप अवयवों की लक्षणा वृत्ति द्वारा समास से अधिक अर्थ में तात्पर्य रखते है। इनके मत में पद की हीं लक्षणा मानते हैं, वाक्य की नहीं मानते । पर, मीमांसक और वेदान्ती वाक्य की भी लक्षणा स्वीकार करते हुए उनके दोष का इस प्रकार निवारण करते है—

पद समूदाय ही वाक्य है,वह समु.ाय प्रत्येक पद से अभिन्न होने के कारण पदों का शक्य ही वाक्य का शक्य होता है। इस प्रकार शक्य सम्बन्ध को ही नहीं, वरन् बोध्य सम्बन्ध को भी

लक्षणा कहना उचित है। जैसे पद का शक्य शक्तिवृत्ति से बोध के योग्य है, वैसे ही पदों के परस्पर सम्बन्ध वाले पदार्थ अथवा पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध वाले वाक्यार्थ भी वाक्य-बोध्य ही हैं। अतएव, पदों की पद-बोध्य सम्बन्ध वाली लक्षणा के समान वाक्य की वाक्य-बोध्य सम्बन्ध वाली लक्षणा भी मानी जाती है।

इस प्रकार द्विरेफ पद या वाक्य से लक्षित भ्रमर पद की मधुप में लक्षिता-लक्षणा कहीं जाने पर भी यथार्थ में तो वह लक्षणा के ही अन्तर्गत है। क्योंकि द्विरेफ पद के शक्य दो रेफ का भ्रमर पद से प्रत्यक्ष और भ्रमर पद के द्वारा मधुप से परम्परा सम्बन्ध होने से शक्य सम्बन्ध वाली लक्षणा से लक्षित-लक्षणा अभिन्न ही है। वैयाकरण मत में द्विरेफ पद के शक्य दो रेफ वाले भ्रमर पद का मधुप से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होने से यह उदाहरण के केवल लक्षणा का है, लक्षित—लक्षणा का नहीं। क्योंकि 'सिंहो देवदत्तः इत्यादि उदाहरण लक्षितलक्षणा का है, जिसमें पदों की शक्ति वृत्ति से वाक्य का अर्थ देवदत्त का सिंह से अभिन्न होना प्रतीति होता है जो कि सम्भव नहीं। क्यों कि पशुत्व और मनुष्यत्व की परस्पर विरुद्धता प्रयक्ष देखीजाती है। अतएव 'सिंह' पद की लक्षणा शूरता-क्रूरता धर्म से विशिष्ट पुरुष में हुई है। यहाँ उस पुरुष से सिंह पद के प्रत्यक्ष सम्बन्धाभाव से केवल-लक्षणा तो सम्भव नहीं है, पर, सिंह पद के शक्य से शूरता-क्रूरता का आधेयता सम्बन्ध और शक्य में स्थित शूरता-क्रूरता का पुरुष से आश्रयता सम्बन्ध होता है, यदि सिंह और पुरुष की शूरतादि को अभिन्न मानें तो देवदत्त में सिंह की शूरता का अधिकरणता सम्बन्ध अंगीकार करना होगा। यदि दोनों को अभिन्न न मानें तो स्वसजातीय शूरताधिकरणता

सम्बन्ध मानना पड़ेगा । पर, यहाँ सिंह की शूरता स्व' शब्द के अभिप्राय से है, जिससे कि शक्य के परम्परा सम्बन्ध के कारण सिंह पद की लक्षितलक्षणा शूरतादि गुण विशिष्ट पुरुष में बनती है ।

पर, उक्त अर्थ की सिद्धि भी लक्षित लक्षणा पद से स्पष्ट नहीं क्योंकि इस पद की शक्य परम्परा के विषय में न तो कोशादि ने ही यह रूढ़ि बताई है और न इस पद का उक्त अर्थ योगवृत्ति से ही बनता है। योग वृत्ति से लक्षितस्य लक्षणा' अर्थात् 'जो लक्षित हो उसकी लक्षणा' यह लक्षित पद का अर्थ है, पर, द्विरेफो रौति' या सिंहो देवदत्त:' इत्यादि उदाहरणों में लक्षित लक्षणा का उपर्युक्त स्वरूप बन नहीं सकता । यह तो तभी बनेगा, जबकि 'द्विरेफो रौति' वाक्य में 'द्विरेफ पद से भ्रमर पद लक्षित हो और मधर उसकी लक्षणा हो । पर, यहाँ तो वैसा कुछ है ही नहीं, क्योंकि द्विरेफ पद के शक्य का भ्रमर पद से सम्बन्ध होते हुए भी द्विरेफ पद से भ्रमर पद लक्षित नहीं होता क्योंकि वक्ता के तात्पर्य का शक्य सम्बन्धी विषय ही लक्षित कहलाता है ।

यदि लक्षित लक्षणा पद का तृतीय तत्पुरुष समास मान कर 'लक्षितेन लक्षणा' अर्थ करें तो इष्ट अथ सिद्ध हो सकता है। तात्पर्य यह कि 'लक्षितेन' अर्थात् शक्य सम्बन्धी के द्वारा लक्षणा से शक्य सम्बन्धी द्वारा शक्य का सम्बन्ध होना बनेगा। वहाँ शक्य का सम्बन्ध कहीं सीधा और कहीं शक्य सम्बन्धी के द्वारा होता है। द्विरेफ पद का शक्य दो रेफ का मधुप से सीधा संबंध नहीं है, वरन् शक्य सम्बन्धी भ्रमर पद के द्वारा ही मधुप संबंध बनता हैं। इससे, षष्ठी समास मानने में लक्षित लक्षणा पद में भाग त्याग लक्षणा मान्य होगी और तृतीया समास मानने में

उसका मुख्य अर्थ रहेगा। इसके साथ यदि कर्म धारय समास मान लें तो लक्षित और लक्षणा का मुख्य यौगिक अर्थ साक्षात् होने के कारण भागत्याग लक्षणा का टिकना ही असंभव होता है। इसमें 'लक्षिता चासौ लक्षणा' ऐसा कर्मधारय समास का रूप बन कर उससे लक्षण वाली लक्षणा' इस अर्थ की सिद्धि होती है। वहाँ असाधारण कर्म लक्षण और शक्य संबंध लक्षणा होने से लक्षणा का असाधारण धर्म एवं लक्षण शक्य-सम्बन्धत्व ही है। यद्यपि साक्षात् और परम्परा भेद से शक्य का सम्बन्ध दो प्रकार का मानते हैं, तो भी अनेक स्थानों में लक्षणा का रूप शक्य का प्रत्यक्ष सम्बन्ध ही कहा गया है। यद्यपि द्विरेफो रौति और 'सिंहो देवदत्तः' दोनों में ही शक्य का साक्षात् सम्बन्ध संदिग्ध होने पर भी लक्षणा का असाधारण धर्म शक्य सम्बन्धत्व ही वनता है।

गौणी वृत्ति का वर्णन

अनेक ग्रन्थों में 'सिंहो देवदत्तः' वाक्यों में सिंहादि पद को गौणी वृत्ति से पुरुषादि को बोधक कहा है। उनके अनुसार पद की वृत्ति शक्ति और लक्षणा के समान तृतीय गौणी वृत्ति भी होती है। जैसे सिंह पद के शक्य में शूरतादि गुणों वाले सिंह पद के अशक्य पुरुष में सिंह पद की गौणी वृत्ति है। इस प्रकार पद के शक्यार्थ में विद्यमान गुण वाले अशक्यार्थ में पद की गौणी वृत्ति कही जाती है। यथार्थ में तो यह लक्षणा के ही अन्तर्गत समझनी चाहिए।

व्यंजना वृत्ति का वर्णन

अलंकार ग्रन्थों ने एक चौथी व्यजना वृत्ति का वर्णन किया है। शत्रु के घर में भोजन के लिए बैठे हुए पुरुष से कोई अन्य

पुरुष कहे कि 'विषंभुंक्ष्व' जिसका वाक्यार्थ शक्ति वृत्ति से यह होता है कि विष भक्षण कर । वाक्य से वक्ता का अभिप्राय उसे भोजन करने से रोकना है। इसमें भोजन में शक्ति युक्त पदों का भोजन के अभाव में सम्बन्धाभाव होने के कारण इन पदों की लक्षणा न बनने से शत्रु के घर में भोजन से निवृत्ति वाला व्यांग्य अर्थ बनता है। जो अर्थ व्यंजना वृत्ति से प्रतीत होता हो वह व्यंग्य अर्थ कहलाता है ।

इसका अन्य उदाकरण 'सूर्योस्तं गतः' वाक्य का उच्चारण है। किसी पुरुष ने अनेक पुरुषो को अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होने के उद्देश्य से कहा कि 'सूर्य छुप गया जिसे सुन कर वे सब पुरुष अपने-अपने कार्य में लग गए। यहां अनेक पुरुषों को अपने अनेक कर्त्तव्यों का जो बोध हुआ वह व्यंजना वृत्ति से ही हुआ इस प्रकार के अनेक उदाहरण मम्मट भट्ट आदि ने अपने ग्रन्थों में वर्णन किये हैं। न्याय मत में व्यंजना वृत्ति का लक्षणावृत्ति में अन्तर्भाव भाव माना है । उनके अनुसार शक्य सम्बन्धी अर्थ का बोध तो लक्षणावृत्ति से हो सकता है। यदि कहें कि शक्यार्थ के असम्बन्धी अर्थ में लक्षणा नहीं बन सकती, इसलिए उसकी प्रतीति के लिए व्यंजना वृत्ति की मान्यता है तो हम कहेंगे कि सम्बन्ध तो साक्षात् और परम्परा के भेद से दो प्रकार के ही हैं, उनमें साक्षात् सम्बन्ध सब का नहीं होता पर, परम्परा सम्बन्ध सभी पदार्थों का हो सकता है। इसलिए व्यंग्यार्थ भी शक्य सम्बन्धी होने के कारण लक्ष्य के ही अन्तर्गत इस प्रकार न्यायमत व्यंजना न मान कर लक्षणा वृत्ति को ही मानता है, पर व्याकरण मत में कहीं इसका खण्डन और कहीं मण्डन मिलता है। किन्तु अद्वैत मत में न तो इसके खण्डन में ही कोई आग्रह है और न मण्डन में ही ।

लक्षणा के भेद वर्णन

महावाक्य के अर्थ निरूपण में शक्ति और लक्षणा दोवृत्तियों का उपयोग हैं और यही दो वृत्तियाँ सर्व मान्य भी हैं। उनमें से शक्ति वृत्ति का निरूपण कर चुके और केवल-लक्षणा एवं लक्षित लक्षणा के रूप में दो भेदों का भी वर्णन किया गया। अब उसके अन्य तीन भेदों पर प्रकाश डालते हैं—

(१) जहल्लक्षण, (२) अजहल्लक्षणा, और (३) भाग-त्याग लक्षणा । इनमें केवल शक्य, सम्बंधी की प्रतीति तो हो पर शक्य की प्रतीति न हो वह जहल्लक्षणा कहलाती है। जैसे कि 'विष भक्षण कर' में शक्य विषाक्त भोजन को छोड़ने में शक्य सम्बन्धी भोजन-निवृत्त की प्रतीति होती है, इसलिए यहाँ जह—ल्लक्षणा बनती है। यद्यिप पद के शक्यार्थ के सम्बन्ध की असंभावना होने पर ही जहल्लक्षणा मानी जाती है, जैसे कि गंगायां ग्रामः' में पदों के शक्यार्थो का परस्पर अन्वय नहीं बनता, पर विषंभुंक्ष्व' अर्थात् 'विष भक्षण कर' में शाक्यार्थों को परस्पर अन्वय वनता है। क्योंकि विष के मारक होने पर भी भोजन में विष को मिलाया जा सकता है, इसलिए उनका अन्वय रूप सम्बन्ध संभव है, पर 'गंगायां ग्रामः' अर्थात् गंगा में ग्राम है, इसका अन्वय कदापि संभव नहीं। तो भी ग्रन्थकारों का कथन है कि लक्षणा में बीजरूप अन्वयानुपपत्ति नहीं वरन् तात्पर्यानुपपत्ति ही है।

अब तात्पर्यानुपपत्ति की व्युत्पत्ति कहते हैं—'तात्पर्य' का अर्थ है वाक्य कहने वाले की इच्छा और अनुपपत्ति' का अर्थ है शक्यार्थ में असम्भवता, यहीं लक्षणा की मान्यता में बीज अर्थात् हेतु हैं। 'यष्टी:प्रवेशय' में यष्टी प्रवेश रूप शक्यार्थ में भोजनकाल में वक्ता का तात्पर्य न होनें से यष्टीधर पुरुष में यष्टी पद की

लक्षणा होती है। वैसे ही पिता का तात्पर्य मारक विष भोजन में नहीं, वरन् भोजन-निवृत्ति में ही जहल्लक्षणा बनेगी। इसी प्रकार 'गङ्गायां'ग्राम में गङ्गा पद के शक्य नदी-प्रवाह को त्याग कर शक्य सम्बन्धी तट की ही प्रतीति हो सकती है, इसलिए यहाँ भी जहल्लक्षणा बनती है।

अब अजहल्लक्षण के विषय में विचार करते हैं—इसके 'काकेभ्योदधि रक्ष्यताम्' अर्थात्' 'कौओं से दही की रक्षा करो इत्यादि असाधारण उदाहरण हैं। क्योंकि शक्यहहित शक्य—सम्बन्धी की प्रतीति होने पर ही अजहल्लक्षणा बनती है। उक्त वाक्य में वक्ता का तात्पर्य दही की रक्षा में है और दही की रक्षा तभी संभव है जब कि कौओं के साथ ही बिल्ली आदि से भी उसे बचाया जा सके। इसलिए जितने भी दही के लोलुप पशु पक्षी आदि हो सकते हैं, उन सभी में 'काक' पद की अजह—ल्लाक्षणा होती है। न्याय मत के अनुसार नीलादि की गुण मात्र में शक्ति होने हुए भी 'नीलो घटः' इत्यादि में नीलादि पद नील रूप वाले को बोध कराते हैं, जिनमें शक्य सम्बन्धी की प्रतीति होती है, इसलिए यहाँ अजहल्लक्षणा बनेगी। पर, कोशकार यहाँ लक्षणा इसलिए नहीं मानते कि नीलादि पदों की गुण और गुणी में शक्ति है।

अब भागत्याग लक्षणा का स्वरूप बताते हैं—यह लक्षणा वहाँ होती है, जहाँ वक्ता का तात्पय शक्यार्थ के एक देश के त्याग और अन्य देश के ग्रहण में हो। जैसे कि 'सोऽयं देवदत्ता-में भागत्याग लक्षणा होती है। क्योंकि तत्पद से परोक्ष वस्तु और 'इदं' पद से अपरेक्ष वस्तु का ग्रह है तथा देवदत्त' पद का अर्थ दकारादि वर्ण—विशिष्ट नाम का पुरुष देह है। यहाँ तत्पद के अनन्तर विभक्ति का अर्थ तत्पदार्थ की इदं-पदार्थ से अभिन्नता और इदंपद के अनन्तर विभक्ति का अर्थ

देवदत्त रूप पदार्थ से इदंपदार्थ का अभेद बनता है। इस प्रकार वाक्य के पदों का शक्यार्थ बनेगा—परोक्ष वस्तु से भिन्नता—रहित प्रत्यक्ष वस्तुरूप देवदत्त नामक-देह। वह 'गर्म-ठण्डा है' इस वाक्य के समान बाधित होने से तात्पर्य-रहित है, क्योंकि बाधित अर्थ में वक्ता का तात्पर्य सम्भव नहीं है। अतएव तत्पद और इदंपद के शक्य से परोक्षता-प्रत्यक्षता भाग को छोड़ने पर केवल वस्तु भाग में लक्षणा होने के कारण ही इसे भागत्याग लक्षणा कहते हैं।

इस प्रकार तीनों प्रकार की इन लक्षणाओं को प्रयोजनवती और निरूढ के रूप में दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। उनमें से एक शक्तियुक्त पद के त्यागने पर लाक्षणिक पद के प्रयोजन वाली को 'प्रयोजनवती लक्षणा और पद की शक्ति-वृत्ति रहित अर्थ वाले पद से उस अर्थ की प्रतीति सभी को शक्य के समान हो, उस पदार्थ में प्रयोजन-रहित को 'निरूढ़ लक्षणा कहते हैं। इनमें प्रयोजनवती लक्षणा तो 'गङ्गा' पद के तट में बनती है। 'तीरे ग्रामः कहने मात्र से तट में शीतलता-पवित्रता आदि की प्रतीति नहीं हो सकती, पर 'गङ्गा' पद से तीर अर्थात् तट का बोधन करे तो गङ्गा के धर्मशीतलता-पवित्रता आदि की प्रतीति तट में भी होने लगेगी। इसीलिए व्यजनावृत्ति को लक्षणा पक्ष में आलंकारिक माना जाता है। पर, नैयायिकों के मत में शीतलता-पवित्रादि शब्दबोध के विषय न होकर अनुमति के ही विषय हैं।

'नीलो घटः' इत्यादि के श्रवण प्रत्यक्ष होते ही सभी को गुणी की प्रतीति होना सर्वत्र प्रसिद्ध है, इसलिए गुणी में नीलादि पदों की प्रयोजन शून्य लक्षणा बनने से यह 'निरूढ' कहलाती है। यह शक्ति लक्षणा के समान 'निरूढ़ लक्षणा तभी होती है, जबकि कोई विलक्षण अनादि तात्पर्य प्रकट होता हो।

प्रयोजन और अनादि दोनों तात्पर्यो का अभाव हो और ग्रन्थकारों ने स्वेच्छा से ही निष्प्रयोजन लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया हो तो वह तृतीय 'ऐच्छिक लक्षणा' कहीं जायगी। किन्तु विद्वज्जन प्रयोजन और अनादि तात्पर्यों के बिना लाक्षणिक शब्द का प्रयोग उपयुक्त नहीं मानते,इसलिए काव्य प्रकाश आदि साहित्यिक ग्रन्थों में उक्त दो ॰ क्षणाओं के ही सोदाहरण भेद मिलते हैं, तृतीय ऐच्छिक लक्षणा के नहीं मिलते । पर, गदाधर भट्टाचार्य ने इसकी संभावना मात्र व्यक्त की है और मम्मट आदि ने लक्षणा के अनेक अवान्तर भेद कहे हैं, पर, वेदान्त ग्रन्थों में उनकी चर्चा भी नहीं मिलती इसलिए उनके विषय में कुछ लिखना यहाँ अनुपयोगी ही है।

शाब्दबोध की हेतुता का वर्णन

शब्दार्थ-निर्णय सम्बन्धी ग्रन्थों के अनुसार लक्षणा वृत्ति तो व्यक्ति मात्र में संभव है,पर पद की वृत्ति न होते हुए तो लक्ष्यता अवच्छेद की स्मृति एवं शाब्द बोध होता है। इसके विपरीत मीमांसको के अनुसार लाक्षणिक प ः से लक्ष्यार्थ की स्मृति होने पर भी ल.क्षणिक पद लक्ष्यार्थ के शाब्दबोध का नहीं, वरन् लाक्षणिक पद का निकटस्थ पदोत्तर ही निज शक्यार्थ एवं उस लक्ष्यार्थ के शाब्द बोध में हेतु बनता है। जैसे कि गंगायां ग्रामः' वाक्य में गंगा पद तट में लाक्षणिक होने से तट की स्मृति में हेतु होता हुआ भी तट में शाब्दबोध का हेतु नहीं होता, वरन् तट में और स्व शक्य में ग्राम पद ही उसका हेतु होता है। इनके ही अनुसार यदि लाक्षणिक पद में शाब्दबोध उत्पन्न करने की शक्ति मान लें तो शक्ति सम्पन्न सर्व पदों में बोध की जनकता वाले अवच्छेदक धर्म का लाभ नहीं हो सकेगा

क्योंकि शाब्दबोध की जनकता लाक्षणिक पदों में नहीं, वरन् शाक्त पदों में है, इसलिए शाब्दबोध की जनकता के अवच्छेदक शक्तियुक्त पद ही हो सकते हैं । अब यदि लाक्षणिक पदों में भी जनकता मान लें तो लाक्षणिक पदों में शक्ति का अभाव होने से शक्ति भी न्यून देशवर्ती होकर शाब्दबोध की जनकता की अवच्छेद नहीं रह सकती । इस प्रकार मीमांसा के मत में लाक्षणिक पद में शाब्दबोध की जनकता नहीं बनती ।

उक्त मत से अद्वैतवाद का मत विपरीत बैठता है । क्योंकि महावाक्यों में सभी पद लाक्षणिक है, जिनमें शाब्बोध की उपपत्ति नहीं हो सकती, इसलिए इस मत का खण्डन आवश्यक है । यदि 'गङ्गायां ग्राम:' में ग्राम पद से तट शाब्दबोध मान ले तो तट में भी ग्राम पद की शक्ति होनी चाहिए, क्योंकि लक्षणा रहित जो पद जिस अर्थ में शाब्दबोध का जनक हो उस पद की उस अर्थ में शक्ति होने का नियम है । यदि ग्राम पद से तट का बोध होना मान लें तो फिर ग्राम पद से ग्राम विशयक बोध नहीं हो सकेगा । क्योंकि हरि आदि एक पद की शक्ति अनेक अर्थों में होने पर भी एक पुरुष को एक समय में एक अर्थ का ही बोध होता है । यदि एक समय में एक पद से अनेक पदार्थों को बोध हो सकता हो तो 'हरि' कहने से बन्दर के ऊपर सूर्य होने का भी बोध होना चाहिए । पर, एक समय में एक पद से उस पद के शक्यों का बोध हो ही नहीं सकता, इसलिए एक पद से अपने शक्य के सम्बन्धी मात्र अशक्य और अलक्ष्य का बोध भी असंभव है ।

पद में शक्ति और लक्षणा के भेद से जो दो प्रकार की वृत्ति कही हैं, उनमें अर्थ का बोध कहीं शक्ति वृत्ति से और कहीं

लक्षणा वृत्ति से होता है, किन्तु बोध की जनकता और वृत्ति दोनों ही प्रत्येक पद में होने से शाब्दबोध की जनकता के समान स्थान में विद्यमान होने से उसका अवच्छेद करने वाली वृत्ति बन सकती है। इसलिए मीमांसा का मत समीचीन नहीं है।

महावाक्य में लक्षणा का उपयोग कथन

महावाक्यों में के भागत्याग लक्षणा ही मानी गई है। वहाँ भागत्याग लक्षणा भी केवल-लक्षणा है, लक्षित लक्षणा नहीं है। क्योंकि वाच्य का लक्ष्य चेतन से परम्परा सम्बन्ध नहीं, वरन् साक्षात् सम्बन्ध है। महावाक्य से अखण्ड ब्रह्म का बोध होने विषयक ब्रह्म का अनादि तात्पर्य होने से निरूढ़ लक्षणा बनती है, प्रयोजनवती लक्षणा नहीं बनती। इसमें शंका है कि यदि वाक्यार्थ का सम्बन्ध लक्ष्य चेतन से सम्बन्ध मानें तो लक्ष्यार्थ में असंगता नहीं बनेगी और यदि सम्बन्ध न मानें तो लक्षणा भी नहीं होगी। क्योंकि शक्य सम्बन्ध या बोध्य सम्बन्ध ही लक्षणा है जो कि असंगता में असम्भव है।

उक्त शंका का समाधान यह है कि वाच्यार्थ में दो भाग होते हैं—जड़ और चेतन। अपने स्वरूप में सब पदार्थों का तादात्म्य सम्बन्ध होने के नियम से वाच्य के चेतन भाग का लक्ष्यार्थ से तादात्म्य सम्बन्ध है तथा जड़ भाग का लक्ष्य-चेतन से अधि—ष्ठानता सम्बन्ध बनता है। क्योंकि कल्पित के सम्बन्ध से अधि-ष्ठान का स्वरूप नहीं बिगड़ता, जैसे कि कल्पत सर्प के सम्बन्ध से रस्सी विषाक्त नहीं हो जाती।

यदि शंका करें कि अखण्ड चेतन में तत्पद और त्वंपद दोनों की ही लक्षणा मान लें तो पुनरुक्ति दोष बनेगा और तब वह

'घटो घटः' के समान प्रामाण्य नहीं होगा और यदि दोनों पदों का पृथक्-पृथक लक्ष्यार्थ मानें तो अभेद बोधकता का अभाव हो जायगा।

उक्त शंका का समाधान यह है कि तत्पद का शक्य माया-विशिष्ट चेतन और त्वंपद का शक्य अन्तःकरण विशिष्ट चेतन होता है, तथा उन दोनों का लक्ष्य तत्तद् उपहित चेतन है। पुनरुक्ति दोष तभी होता, जबकि दोनों पदों का लक्ष्य ब्रह्मचेतन ही ही होता। पर, वैसा न होने से वह दोष नहीं बनता उपाधि-भेद से भिन्न, किन्तु परमार्थ से दोनों पदों का उपहित चेतन अभिन्न होने से दोनों वाक्यों में अभेद बोधकता हो सकती है। इस प्रकार अभेद बोधकता में कोई दोष नहीं है। कोई ग्रन्थकार यह भी कहते हैं कि यदि दोनों पद भिन्न-भिन्न अर्थ लक्ष्य कराने वाले माने जाँय तो पुनरुक्ति दोष का सन्देह हो सकता है, किन्तु यहाँ जब दोनों पद एक अखण्ड ब्रह्म को ही लक्ष्य करते हैं, तब पुनरुक्ति का संदेह नहीं हो सकता। महावाक्यों का अलौकिक अर्थ होने से उनमें दोष का रंचमात्र भी सम्भव नहीं। जैसे लोक में अप्रसिद्ध होने पर भी महावाक्य में असंग ब्रह्म की बोधकता है, वैसे ही उद्देश्य एवं विधेय भाव-रहित अखण्ड अर्थ की बोधकता भी बन सकती है।

महावाक्यों में अद्वैत ब्रह्म की बोधकता

अनेक आधुनिक ग्रन्थकारों ने लक्षणा-रहित शक्तिवृत्ति से ही महावाक्यों को अद्वितीय ब्रह्म का बोधक माना है। जहाँ एक विशेषण युक्त वाचक पद का अर्थ दूसरे पद के विशेषणयुक्त अर्थ से न मिल सकता है, वहाँ पद की शक्ति वृत्ति द्वारा ही विशेषण को छोड़ कर विशेष्य की प्रतीति सम्भव है। जैसे 'अनित्यो घटः'

में घट पद को घटत्व विशिष्ट घटव्यक्ति का वाचक मान कर अनित्यत्व विशिष्ट अनित्य पदार्थ से अभेद-सम्बन्ध का बोधक होता है। पर, घटत्व जाति के नित्य होने से घटत्व विशिष्ट का अनित्य घट से अभेद न होने से उसका अनित्य पदार्थ से अभेद सम्बन्ध नहीं बन सकता। इसलिए यहाँ घटत्व विशेषण को छोड़ कर घट पद से केवल घटव्यक्ति की स्मृति एव अनित्य पदार्थ से सम्बन्ध का बोध होता है। इसी प्रकार 'घटे रूपं' वाक्य में भी घटत्व को छोड़कर व्यक्ति मात्र की प्रतीति होती है। क्योंकि घट पदार्थ की आधेयता वाला पदार्थ रूप है, यहाँ घटत्व की आधेयता किसी में नहीं है, इसलिए घटत्व को छोड़ कर घट पद का अर्थ केवल घटव्यक्ति है, जिसकी आधेयता रूपजाति में नहीं वरन् रूपव्यक्ति में है। पर रूपत्वजाति में रूपव्यक्ति की आधेयता होने से रूपपदार्थ में रूपत्व का भी त्याग होता है। इसी प्रकार उत्पन्नो घटः' नष्टो घटः वाक्यों में भी जातिरूप विशेषण को छोड़ कर घटादि पदों का अर्थ केवल व्यक्ति ही होता है। क्योंकि जाति तो नित्य है, उसका उत्पत्ति-नाश कभी सम्भव नहीं। इस प्रकार उक्त वाक्यों में विशिष्ट वाचक पदों की शक्ति से ही विशेष्य का बोध होने के समान महावाक्यों में भी विशिष्ट वाचक पदों की शक्ति से ही अन्तःकरण रूप विशेषण को छोड़ कर चेतन-विशेष्य की ही प्रतीति हो सकती है। पर, विशिष्ट वाचक पद के वाच्य का एक देश देशेष्य और दूसरा देश विशेषण होता है। उनमें से शक्तिवृत्ति से विशेष्य भाग का ही बोध होता है, जातिरूप विशेषण का नहीं। इस प्रकार विशिष्ट वाचक पद की शक्ति से केवल विशेष्य की ही प्रतीति होती है। इससे भगत्याग लक्षणा का कोई उदाहरण नहीं मिलता।

धर्मराज ने भी महावाक्यों में लक्षणा न मान कर भागत्याग यक्षणा का अन्य स्वरूप बताया है। उनके अनुसार वाच्य के

एक देश में स्थित वृत्ति भागत्याग लक्षणा का रूप नहीं, वरन् शक्ति का ही रूप है, क्योंकि शक्य और अशक्य में जो वृत्ति हो, वही भागत्याग लक्षणा है। यद्यपि शक्य-अशक्य में अजहल्लक्षणा भी हो सकती है, तो भी शक्यार्थ का विशेषणता से और अशक्यार्थ का विशेष्यता से बोध होने पर ही उसका होना संभव है। जैसे कि 'नीलो घटः' में नील पद के शक्य रूप का विशेषणता से और नीलरूप के आश्रय-द्रव्य अशक्य का विशेष्यता से बोध होने के कारण नील पद की नील रूप के आश्रय स्वरूप नील वाले में अजहल्लक्षणा है।

यदि शक्य और अशक्य दोनों ही विशेष्य हों तथा शक्यता के अवच्छेदक से व्यापार लक्ष्यता के अवच्छेदक धर्म विशेषण हो वहाँ भागत्याग लक्षणा बनेगा। क्योंकि 'कौए से दही की रक्षा करो' में काक पद का शक्य कौआ और अशक्य बिल्ली इत्यादि दोनों ही विशेष्य और शक्यता के अवच्छेदक काकत्व का व्यापक बिडालत्वादि दहीनाशकत्व लक्ष्यतावच्छेदक धर्म विशेषण है। क्योंकि इस वाक्य का अर्थ दही को नष्ट करने वाले कौए-बिल्ली आदि से दही की रक्षा करो, बनता है। इसमें काकत्व विशिष्ट व्यक्ति 'कौआ' पद का शक्य है, उसमें से काकत्व का त्याग करके कौआ-बिल्ली आदि का लक्षणा से बोध होने के कारण काकपद वाच्य के एक भाग काकत्व जाति का त्याग और व्यक्ति भाग का ग्रहण होता है। वैसे ही बिडालत्वादि जाति का त्याग और बिडालादि व्यक्तियों का ग्रहण होने से यहाँ भागत्याग लक्षणा बनना स्वाभाविक है।

इस प्रकार वेदान्त-परिभाषा में वर्णित भागत्याग लक्षणा के सभी उदाहरण अजहल्लक्षणा के ही हैं। क्योंकि साम्प्रदायिक रीति से अजहल्लक्षणा के उदाहरण में कहीं शक्यार्थ विशेषण

होता है और कहीं विशेष्य होजाता है। पर, कहीं दोनों ही मतों में विशेष्य एवं शक्य सहित अशक्य की प्रतीति समान होती है। इस प्रकार स्वल्प भेद से ही लक्षणा का भेद मान लेना समीचीन नहीं है।

धर्मराज का कथन है कि विशिष्टवाचक पद की शक्ति से केवल विशेष्य का बोध्य होता है। पर, विद्वानों ने इसे युक्त नहीं माना, क्योंकि शक्तिवाद में स्पष्ट है कि कोई पद एक धर्मविशिष्ट धर्मी का और कोई पद अनेक धर्मविशिष्ट धर्मी का वाचक होता है, किन्तु जिस पद की शक्ति जिस अर्थ में हो वह पद उसी अर्थ का वाचक होगा, अन्य का कदापि नहीं हो सकता। यदि कहें कि शक्ति तो व्यक्तिमात्र में है, विशिष्ट में नहीं, तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि वैसा होता तो यह कहना पड़ता कि व्यक्ति मात्र में पद की शक्ति से व्यक्तिमात्र का बोध होता है। किन्तु धर्मराज ने ऐसा न कहकर यह कहा है कि विशिष्टवाचक पद की शक्ति से विशेष्य का बोध होता है। फिर किसी भी मत ने व्यक्तिमात्र में शक्ति का होना स्वीकार नहीं किया है। यद्यपि शिरोमणि भट्टाचार्य ने वैसा माना है, तो भी उन्होंने पद से अर्थ की स्मृति और शाब्दबोध जातिविशिष्ट का ही स्वीकार किया हैं।

यदि कहें कि घटादि पदों की शक्ति जाति विशिष्ट और केवल व्यक्ति दोनों में ही है, इसलिए कहीं जाति विशिष्ट का बोध होता है तो कहीं केवल व्यक्ति का ही, तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि लक्षणा से निर्वाह होने पर अनेक अर्थों में शक्ति को त्याग कर एक अर्थ में शक्ति और दूसरे अर्थ में लक्षणा होती है। अनित्यो घटः इत्यादि वाक्यों में यथार्थ में तो घटादि पदों की भागत्याग लक्षणा व्यक्तिमात्र में है, शक्ति में नहीं है।

यदि कहें कि अनेक प्रयोगों में व्यक्तिमात्र का बोध होता है, इस लिए शक्ति से ही बोध की मान्यता बनती है तो हम कहेंगे कि यदि प्रयोग की अधिकता से ही अर्थ में शक्यता स्वीकार करें तो नीलादि पदों के प्रयोग की अधिकता गुणी में ही होने से नीलादि पदों का शक्य गुणी ही होना चाहिए। पर श्रीधर्मराज वेदान्त चूडामणि टीका में नीलादि पदों का गुणी को शक्य न मानकर, लक्ष्य मानते हैं। इसलिए यह मानना उचित है कि विशिष्ट बाचक पद से विशेष्यमात्र का बोधक होने पर सर्वत्र भाग त्याग लक्षणा होती है। परन्तु, शक्ति से ईषत् भेद होने और प्रयोग की बहुलता होने से वह निरूढ़ लक्षणा मानी जाती है॥

इस सब से यही मान्यता बनती है कि लक्षणा के बिना विशिष्ट वाचक पद से विशेष्य मात्र का बोध नहीं होता तथा महावाक्यों में लक्षणा है, यह मत ही जिज्ञासु के लिए उपयुक्त एवं मान्य है। अद्वैतवाद का यही सिद्धान्त है कि वेदान्तवाक्यों से संग-रहित ब्रह्म का साक्षात्कार आत्मरूप से होता है और उसी से प्रवृत्ति एवं निवृत्ति से परे ब्रह्मरूप में स्थिति होती है।

मीमांसा मत के अनुयायियों की शंका है कि सभी वेदप्रवृत्ति-निवृत्ति का ही बोध कराने वाले हैं, पर, यदि वेद से ऐसा बोध होता हो तो फिर वेद निष्फल अर्थ का बोध कराने वाले होने से प्रमाण-रहित होजाँयगे। इसलिए विधि-निषेध शून्य-वेदान्त वाक्यों का विधि-वाक्यों से सम्बन्ध होने के कारण वे वाक्य यथार्थ में तो विधि वाक्यों के ही शेष हैं। उनमें से कोई तो कर्मकर्त्ता का स्वरूप बोध कराते हैं, जैसे कि त्वं पदार्थ का बोध कराने वाले पंचकोश वाक्य और कोई वाक्य तत्पदार्थ के बोधक हैं, जिनसे कर्मशेष देवता के स्वरूप का बोध होता है।

इस प्रकार कर्मफल की स्तुति करने वाले अभेद-बोधक वाक्य भी अर्थवाद स्वरूप हैं। यद्यपि मीमांसा मत के देवता विग्रहयुक्त नहीं, वरन् मन्त्रमय ही हैं, इसलिए देवभाव की प्राप्ति न कह सकने पर भी संभावना वश कर्मफल की स्तुति ही मानी जायगी। इस प्रकार मीमांसा मत में सभी वेद प्रवृत्ति-निवृत्ति का बोध कराने वाले होने से वेद वाक्यों से प्रवृत्ति में अनुपयोगी ब्रह्मज्ञान सम्भव नहीं है।

प्राचीन वृत्तिकार के मत का समाधान

प्राचीन वृत्तिकार भो अपने को वेदान्ती ही मानत हैं, उनके मत पर प्रकाश डालना भी आवश्यक है। उनके अनुसार वेदान्त वाक्यों के कर्मविधि प्रकरण में न होने से, कर्म-विधि के शेष भी नहीं माने जा सकते। पर, वे उपासना-विधि के प्रकरण में होने से उपासना विधि के ही शेष हैं। इस प्रकार त्वंपदार्थ बोधक वाक्य उपासक के स्वरूप का और तत्पदार्थ बोधक वाक्य उपास्य के स्वरूप का बोध कराते हैं और त्वंपदार्थ-तत्पदार्थ के अभेद का बोध कराने वाले वाक्यों का अर्थ संसार-दशा में जोव-ब्रह्म का भेद होते हुए भी उपासना-बल से मोक्षदशा में अभेद होजाता है।

अद्वैतवाद में संसार-दशा में भी भेद की प्रतीति भ्रम रूप है, क्योंकि इसमें तो सदा ही अभेद माना जाता है। परन्तु, प्राचीन वृत्तिकार संसारदशा में भेद और मोक्ष दशा में अभेद होना मानते हैं। पर, कुछ लोग मोक्षदशा में भी जीव-ब्रह्म का भेद मानते हैं। उनके अनुसार यदि मोक्षदशा में स्वरूप की निवृत्ति मानने पर पुरुष की अभिलाषा असंभव है और पुरुषार्थ का अर्थ पुरुष की अभिलाषा का ही विषय है, इसलिए मोक्ष में पुरुषार्थता नहीं रहेगी। इस प्रकार स्वरूप से मैं ब्रह्म का

भेद मानने पर मोक्षदशा में उनका अभेद हो ही नहीं सकता। यदि उस भेद को उपाधिकृत कहें तो उपाधि की निवृत्ति से मोक्ष दशा में अभेद हो तो भी वृत्तिकार के मत का अद्वैतमत से भेद नहीं बनेगा। क्योंकि अद्वैतवाद में भी उपाधिकृत भेद माना गया है जो कि मिथ्या मानना होगा और उसकी निवृत्ति भी ज्ञान से ही माननी होगी, जिससे कि उपासनाविधि निष्फल हो जायगी।

इस प्रकार वृत्तिकार के मत में कुतर्क उपयुक्त नहीं है क्योंकि उस मत में जीवब्रह्म का भेद उपाधिकृत है और उन्होंने उपाधि को मिथ्या माना होता तो उपाधिकृत भेद भी मिथ्या होजाता और उसकी निवृत्ति भी ज्ञान से सम्भव होती। पर, उन्होंने तो आकाशादि पदार्थों को प्रलय पर्यन्त स्थायी माना है और अन्तःकरणादि जीव की उपाधि को भी सत्य स्वीकार किया है, इसलिए उस उपाधि की निवृत्ति ज्ञान से कैसे हो सकती? यद्यपि वृत्तिकार द्वारा अन्तःकरणादि का नाश स्वीकार किया है, इसलिए अन्तःकरणादि में नाश और अभाव रूप नित्यता या सत्यता तो नहीं हो सकती, तो भी इस मत के अनुयायी सभी पदार्थों में ज्ञान से अबाध्यतारूप नित्यता का होना मानते हैं। इस प्रकार इस मत में उपाधि तो सत्य है ही, उस उपाधि का भेद भी सत्य माना गया है। इनके अनुसार केवल ज्ञान से ही सत्य भेद और सत्य उपाधि की निवृत्ति नहीं होती, वरन् नित्य कर्म और उपासनामय ज्ञान से मोक्षदशा में उपाधि की निवृत्ति होने पर जीवब्रह्म के भेद का निवारण होता है। किन्तु अद्वैत मतानुसार सर्व उपाधि और भेद असत्य होने से केवल ज्ञान से ही उनका निवारण होता है और संसारदशा में भी असत्य [illegible] से पारमार्थिक अद्वैतत्व नष्ट नहीं होता। वृत्तिकार और अद्वैतमत का इस प्रकार से भेद है।

यथार्थ में तो वृत्तिकार का मत भी अयुक्त है। क्योंकि सर्व वेदान्त वाक्य अहेय, अनुपादेय ब्रह्म का ही बोध कराते हैं, किसी कर्म-उपासनादि अर्थ का बोध नहीं कराते। भाष्यकार ने ब्रह्म-सूत्र में इस अर्थ पर विस्तार पूर्वक प्रकाश डाला है।

वैदिक वाक्य के तात्पर्यज्ञान-हेतु षड्लिंग

वैदिक वाक्यों के तात्पर्य का बोध कराने वाले जो षड्लिंग है, वे इस प्रकार हैं—(१) उपक्रम-उपसंहार की एक रूपता, (२) अभ्यास, (३) अपूर्वता, (४) फल, (५) अर्थवाद, और (६) उपपत्ति। इसे इस प्रकार समझिये।

छान्दोग्य के छठे अध्याय का ब्रह्म से ही उपक्रम है और उसी में उपसंहार है। इस प्रकार जिस अर्थ से आरम्भ होकर समाप्ति भी उसी अर्थ में हो वह 'उपक्रम उपसंहार की एक रूपता' है।

बार-बार कहना ही अभ्यास है। छान्दोग्य के छठे अभ्याय में 'तत्वमसि' महावाक्य नौ बार आया है, इसलिए अद्वितीय ब्रह्म में ही 'अभ्यास' है।

अद्वितीय ब्रह्म उपनिषद् रूप शब्द प्रमाण से भिन्न किसी अन्य प्रमाण का विषय न होने से अद्वितीय ब्रह्म में प्रमाण के अन्तर से अज्ञातता रूप 'अपूर्वता' होती है।

अद्वितीय ब्रह्म के ज्ञान से अज्ञान रूप शोक मोह की समूल निवृत्ति 'फल' कहलाती है।

स्तुति या निन्दा का बोध कराने वाला वचन 'अर्थवाद' है। उपनिषदों में अद्वितीय ब्रह्म की स्तुति स्पष्ट रूप से उपलब्ध है।

अर्थ-कथन की अनुकूल युक्ति ही 'उपपत्ति' है। छान्दोग्य में ब्रह्म से सभी पदार्थों का अभेद बताने के लिए कारण से कार्य का अभेद अनेक दृष्टान्तों द्वारा पुष्ट किया है।

इस प्रकार उक्त षड्लिंगों से अद्वितीय ब्रह्म में ही सब उपनिषदों का तात्पर्य समझना चाहिए।

शाब्दबोध के चार सहकारी

शाब्दबोध के चार सहकारी माने गये हैं—(१) आकांक्षा ज्ञान, (२) योग्यता ज्ञान, (३) तात्पर्य ज्ञान, और (४) आसक्ति उन्हें स्पष्ट करते हैं—

पदार्थान्तर से एक पदार्थ के अन्वय का बोधभाव ही 'आकांक्षा' है। उस आकांक्षा के नष्ट होने पर शाब्द बोध की उत्पत्ति होती है। आकांक्षा इच्छा को कहते हैं। वह चेतन में होती है तो भी जब तक पदार्थान्तर से एक पद के अर्थ का अन्वय बोध न हो, तब तक अपने अर्थ के अन्वयार्थ पदार्थान्तर की प्रतीति इच्छा के समान होती है, किन्तु जब अन्वय का बोध हो जाता है तब उसकी प्रतीति नहीं होती। वही 'आकांक्षा' है, जिसे शाब्द बोध की हेतु समझना चाहिए।

पदार्थान्तर से एक पदार्थ का सम्बन्ध 'योग्यता' कहलाता है। जहाँ योग्यता नहीं, वहाँ शाब्दबोध भी संभव नहीं। जैसे 'अग्नि द्वारा सींचता है' वाक्य में अग्निवर्ति करणता पद का सिंचन पदार्थ में निरूपकता सम्बन्ध रूप योग्यता का अभाव होने से शाब्दबोध भी नहीं हो सकता। यदि शाब्दबोध में योग्यता-ज्ञान अहेतु हो तो इस वाक्य से भी शाब्दबोध हो जाना चाहिए।

वक्ता की इच्छा को तात्पर्य कहते हैं। जिस अर्थ में तात्पर्य ज्ञान का अभाव हो उसके शाब्दबोध का भी अभाव होगा। जैसे 'सैंधव लाओ' में सैंधव का अर्थ नमक भी है और अश्व भी। भोजन के समय इस वाक्य का तात्पर्य नमक में हो सकता है, अश्व में नहीं हो सकता। इसी प्रकार जाने-आने के लिए इसका तात्पर्य अश्व में ही हो सकता है, नमक में संभव नहीं है। इस प्रकार तात्पर्य ज्ञान यदि शाब्दबोध का अहेतु हो तो 'सैंधव लाओ' वाक्य से भोजन के समय अश्व का और जाने के समय नमक का बोध होना चाहिए। इससे यह स्पष्ट हुआ कि तात्पर्यज्ञान शाब्द में हेतु है।

इसमें यह शंका हो सकती है कि वक्ता की इच्छा तात्पर्य कहलाती है, किन्तु शुकवाक्य में वक्ता की कोई इच्छा न होने पर भी शुकवाक्य से शाब्दबोध होता है और मीमांसकों ने वेद को नित्य मानते हुए ईश्वर को अंगीकार नहीं किया है। पर, वेद का कर्त्ता कोई जीव नहीं हो सकता, क्योंकि वेद तो नित्य हैं, इसलिए कर्त्ता के न होने से वैदिक वाक्यों में भी वक्ता की इच्छा रूप तात्पर्यज्ञान नहीं हो सकता।

उक्त शंका का समाधान मंजूषा ग्रन्थ में इस प्रकार किया है कि यह दोष तभी बन सकता है जबकि तात्पर्य ज्ञान को सभी शाब्दबोधों का हेतु स्वीकार किया गया हो, किन्तु वैसा न मान कर अनेक अर्थ वाले पदों के सहित वाक्य से उत्पन्न शाब्दबोध का हेतु तात्पर्यज्ञान होने से यह दोष नहीं बनता।

अब उक्त शंका पर हम अपना समाधान व्यक्त करते हैं— मीमांसक के लिए वेदकर्त्ता के तात्पर्य का ज्ञान असंभव होने पर भी वेदवक्ता पाठक के तत्पत्पर्य का ज्ञान संभव ही है। यद्यपि शुकवाक्य में तात्पर्यज्ञान की संभावना नहीं है, तो भी श्रोता को

बोध कराने की इच्छा से उच्चारण किया जाने वाला वाक्य 'बुबोधयिषाधीन' अर्थात् 'बोध कराने के इच्छा के अधीन' कहलाता है। यद्यपि शुक वाक्य बुबोधयिषाधीन नहीं है, तो भी वेदवाक्य के पाठक के बुबोधयिषाधीन होने से यह मानना उचित है कि बुबोधयिषाधीन वाक्य से उत्पन्न ज्ञान में हेतु तात्पर्यज्ञान ही है। यद्यपि वेदान्त परिभाषा ग्रन्थ में शुकवाक्य में भी तात्पर्य स्वीकार किया है, तो भी वह तात्पर्य वक्ता की इच्छा रूप में नहीं वरन् इष्ट अर्थ के बोधक रूप में योग्य है, यही इसका तात्पर्य हो सकता है तथा इस विषय में किये जाने वाले अन्य शंका-समाधान निरर्थक हैं।

अभेदरत्नाकर के मत में तात्पर्य का सन्देह होने की अवस्था में शाब्दबोध नहीं हो सकता और तात्पर्य का अभाव हो तो यही मानना चाहिए। पर, पहले तात्पर्य का संदेह या तात्पर्य के अभाव का निश्चय हो और पश्चात् तात्पर्य का निश्चय हो जाय तो शाब्दबोध होता है। इसलिए तात्पर्य के संदेह के पश्चात् तात्पर्यके भाव वाले शाब्दबोध में तथा तात्पर्य का अभाव निश्चय होने के पश्चात् भावयुक्त शाब्दबोध में तो तात्पर्य ज्ञान हेतु होता है, पर सभी शाब्दबोधों में नहीं होता। यद्यपि वेदान्त शिखा-मणि में इस मत को भी दूषित कहा है, पर इस मत के अनुसार पूर्व और उत्तर मीमांसाओं के निष्फल न होने के कारण इसके खण्डन में हमारा आग्रह नहीं है।

इस प्रकार जैसे आकांक्षा, योग्यता और तात्पर्य शाब्दबोध के हेतु सिद्ध होते हैं, वैसे ही 'आसक्ति' भी शाब्दबोध की हेतु मानी गई है। व्यवहित पदोंके अर्थों का बोध न होने से न्यायमत में पदों की समीपता को आसक्ति माना है। जैसे कि 'गिरिर्भुक्तं वह्निमान् देवदत्तेन' से अन्वय-बोध नहीं होता वरन् 'गिरिर्वह्नि-

मान भुक्त' देवदत्तेन' से ही होता है इसलिए पदों के सामीप्य रूप आसक्ति शाब्दबोध का हेतु बनती है। जहाँ सामीप्य न होकर सामीप्य का भ्रम मात्र हो, वहाँ भी शाब्दबोध होता है। इस लिए भ्रम प्रमा सामान्य आसक्ति का ज्ञान हेतु है, आसक्ति स्वरूप हेतु से नहीं हो सकता।

पदों का व्यवधान हो या न हो, जिस पदार्थ का जिस पदार्थ से अन्वय-बोध होता हो, उन पदार्थों की स्मृति में व्यवधान नहीं होना चाहिए। यदि ऐसा मानें कि व्यवधान-हीन स्मृति के बिना पदार्थों की स्मृति से ही शाब्दबोध होता है तो जिस पदार्थ की जिस प्रकार भी स्मृति होजाय, उसी का शाब्दबोध हो जाना चाहिए। यदि यह कहें कि पद के सम्बन्ध मात्र से पदार्थ की स्मृति ही शाब्दबोध है तो आकाश में सब पदों का समवाय संबंध और आत्मा में सब पदों का स्वानुकूलकृति सम्बन्ध है। इससे यही मानना चाहिए कि पदार्थों की स्मृतिमात्र अथवा पदों का सम्बन्ध मात्र में से कोई भी शाब्दबोध का हेतु न हीं, वरन् शक्ति-वृत्ति या लक्षणावृत्ति रूप पदों के सम्बन्ध से शाब्दबोध का हेतु स्मृति ही है।

जिन पदों से शाब्दबोध का अनुभव हो, उनमें योग्यता और जिन पदों से शाब्दबोध का अभाव अनुभव हो, उनमें अयोग्यता समझनी चाहिए। इस प्रकार योग्य पदों के वृत्तिरूप सम्बन्ध से पदार्थों की व्यवधानहीन स्मृति को आसक्ति कहते है, इस प्रकार आकांक्षाज्ञान, योग्यताज्ञान, तात्पर्यज्ञान और आसक्ति यह चारों शाब्दबोध के हेतु होने से शाब्द सामग्री कहे जाते हैं।

उत्कट जिज्ञासु के लिए ब्रह्मबोध की हेतुता

इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान की सामग्री इन्द्रिय-संयोग और अनुमिति ज्ञान की सामग्री व्याप्ति ज्ञान होता है। एक क्षण में दो

ज्ञानों की उत्पत्ति न हो सकने के कारण दो ज्ञानों की दो सामग्री होने पर दोनों का फल एक समय में नहीं होता, वरन् दो ज्ञानों में जो प्रबल होता है, उसी का फल होता है, दुर्बल ज्ञान का फल नहीं होता। जैसे पृथिवी और घट के साथ नेत्र-संयोग होने के समय 'घटवद् भूतलम्' अर्थात् 'भूमल घटयुक्त है' ऐसा सुनने में प्रत्यक्षज्ञान और शाब्दज्ञान दोनों सामग्री होते हुए भी प्रत्यक्षज्ञान होता है, शाब्दज्ञान नहीं होता। अतएव समान विषय वाली प्रत्यक्षज्ञान और शाब्दज्ञान रूप दो सामग्री होने पर प्रत्यक्षज्ञान की सामग्री सबल होती है और शाब्दज्ञान की सामग्री दुर्बल। किन्तु भूतलयुक्त घट से नेत्र का संयोग होने के समय 'तेरे पुत्र हुआ है' इस वाक्य के श्रवण में भूतल में घट का प्रत्यक्ष न होकर पुत्र उत्पन्न होने का ही शाब्दबोध होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि भिन्न विषय वाले ज्ञानों की प्रत्यक्ष और शाब्द दो सामग्रियाँ होने पर शब्द सामग्री प्रबल होती है और प्रत्यक्ष सामग्री दुर्बल। इसी प्रकार बाध्य-बाधक के विचार पूर्वक प्रबलता या दुर्बलता का ज्ञान हो सकता है।

बाध्य-बालक भाव का घटित होना जिज्ञासारहित स्थल में ही सम्भव है। किन्तु जहाँ एक वस्तु की जिज्ञासा हो, दूसरी की न हो और सामग्री दोनों के ही बोध की हो तो जिसकी जिज्ञासा है उसी का बोध होता है, जिसकी जिज्ञासा नहीं, उसका बोध भी नहीं हो सकता। इससे यह सिद्ध हुआ कि जिज्ञासा वाले बोध की सामग्री प्रबल और जिज्ञासा-रहित बोध की सामग्री दुर्बल है। इसीलिए अध्यात्म ग्रन्थों के अनुसार जिसे उत्कट जिज्ञासा हो उसी को ब्रह्मबोध होना सम्भव है, न्यून जिज्ञासा में संभव नहीं होता।

वेदान्त सूत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' का तात्पर्य भी उक्त अर्थ में ही बनता है। यद्यपि व्याख्याताओं ने विचार में जिज्ञासा पद

की लक्षणा कही और कर्त्तव्य पद का अध्याहार किया, जिससे सूत्र का अर्थ बना कि ब्रह्मज्ञान के लिए वेदान्त वाक्यों का विचार अवश्य करना चाहिए। तो भी वाचक पद 'विचार' को छोड़कर लाक्षणिक पद जिज्ञासा के प्रयोग से वाच्य व लक्ष्य दोनों अर्थों के ग्रहण में तात्पर्य प्रतीत होता है।

यदि शंका करें कि एक ही पदसे शक्तिवृत्ति और लक्षणावृत्ति दोनों अर्थों का बोध सम्भव नहीं तो 'गंगायां मीनघोषौ' वाक्य में इस उक्ति का व्यभिचार मिलने से यह शंका निरस्त हो जाती है। क्योंकि इस वाक्य में गंगा पद के वाच्यार्थ का मीन से और लक्ष्यार्थ का घोष से सम्बन्ध होने के कारण 'गंगा की धार में मीन और तट में ग्राम' यह वाक्यार्थ बनता है। इस प्रकार सूत्रों के अनेक अर्थ ग्रन्थकारों ने लिखे हैं।

वेदान्त का तात्पर्य

वक्ता की यह इच्छा कि श्रोता को इस वाक्य से इस अर्थ का बोध हो, 'तात्पर्य' कहलाती है, मीमांसक मत में वेद केनित्य होने से कर्त्ता की इच्छा नहीं बनती। किन्तु न्यायमत में तृतीय क्षण में शब्द का नष्ट होना कहा है, इससे शब्द रूप होने के कारण वेद भी क्षणिक (अनित्य) होते हैं। यह लोग उच्चारण-भेद से भी वेद का भेद मानते हैं, क्योंकि जो वाक्य एक बार बोल कर पुनः बोल जाय वह पहिले वाक्य से भिन्न होजाता है और वह बाद का वाक्य पहिले वाक्य का सजातीय होता है। पर उस सजातीय में अभेद की प्रतीति भ्रम मात्र होती है। वर्ण समुदाय को ही वेद कहते हैं, वह वर्ण शब्द रूप है और शब्द आकाश का गुण है। इसलिए एक समय में नाना शब्दों का उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। क्योंकि विभु के गुण एक समय में दो नहीं उत्पन्न होसकते।

अब वर्णों के विषय में विचार करते हैं। क्रमपूर्वक उत्पन्न होने वाले वर्णों का नाश किसी निमित्त से ही सम्भव है। यदि बिना निमित्त के ही नाश होना मान लें तो सभी वर्ण पहले क्षण उत्पन्न होंगे और दूसरे क्षण नष्ट होजांयगे और तब शब्द में उत्पत्ति-नाश के अतिरिक्त कोई अन्य व्यापार ही न हो सकेगा। इसलिए क्रमपूर्वक उत्पन्न होने वाले वर्णों के नाश का कोई निमित्त अवश्य मानना होगा। जैसे 'गौः' वाक्य में नाभिदेश से वायु में क्रिया होने पर पहले गकार को उत्पन्न करने वाले जिह्वामूल में वायु का संयोग होने पर औकार को उत्पन्न करने वाले कण्ठ-ओष्ठ से वायु का संयोग होता और फिर विसर्ग को उत्पन्न करने वाले कण्ठ से वायु का संयोग होता है। इस प्रकार इन तीन संयोगों के क्रम से ही गकार, औकार और विसर्गरूप तीन वर्ण प्रकट होते हैं।

यद्यपि कौमुदी आदि ने कवर्ग का स्थान कण्ठ माना है, तथापि पाणिनि ने जिह्वामूल को ही कवर्ग का स्थान बताया है इसलिए यहाँ गकार की उत्पत्ति वायु के सयोग से जिह्वामूल में कही है। यद्यपि व्याकरण में 'गौः' वर्ण को वाक्य ही है। इनके अनुसार पहले गकार, फिर औकार, और तत्पश्चात् विसर्ग उत्पन्न होता है और गकार के नाश में हेतु औकार तथा औकार के नाश में हेतु विसर्ग है। यह लोग वर्ण का नाश दूसरे क्षण में न मान कर तीसरे क्षण में मानते हैं। क्योंकि नाश का हेतु अपने से बाद का शब्द है जो दूसरे क्षण में उत्पन्न होकर तीसरे क्षण में नष्ट करता है। यह नियम है कि कारण की सिद्धि होने पर ही कार्य सम्भव है।

यदि शंका की जाय कि यदि एक ही वर्ण रूप शब्द हो उसके नाश का हेतु अन्य कोई शब्द नहीं है, तो न्याय मत के अनुसार

इस शंका का समाधान यह है—जैसे वायु का कण्ठदेश से संयोग वर्णरूप शब्द की, दण्ड का भेरी से सयोग ध्वनिरूप शब्द की और एक वंश के दो दल का विभाग भी ध्वनिरूप शब्द की उत्पत्ति का हेतु है, वैसे ही शब्द भी शब्द की उत्पत्ति में हेतु होता है। क्योंकि दण्ड और भेरी के संयोग से भेरी देश में उत्पन्न शब्द को प्रतिध्वनि रूप अन्य शब्द का श्रवण साक्षात्कार होता है। वैसे ही वायु-योग से कण्ठदेश में उत्पन्न वर्णरूप शब्द का श्रोत द्वारा साक्षात्कार न होकर उस वर्णरूप शब्द की प्रतिध्वनिरूप अन्य शब्द का ही श्रोत्रसाक्षात्कार होता है। साथ ही वर्ण समुदायरूप पद की उत्पत्ति एक समय में संभवत होने से पद का साक्षात्कार भी नहीं होता, वरन् प्रत्येक वर्ण के साक्षात्कार से उन सभी वर्णों की विषयकर्त्री एक स्मृति होती है। उस स्मृति से उत्पन्न पद से पदार्थ की स्मृति होकर शाब्दबोध होता है। यह न्यायमत है।

इसके बिपरीत मीमांसक के अनुसार वर्ण एव वर्ण समुदाय रूप वेद नित्य है एवं सभी वर्ण व्यापक हैं। कण्ठादि में अध्यात्म वायु के संयोग से वर्णों की उत्पत्ति नहीं वरन् अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार इम मत में वर्ण समुदाय रूप वेद नित्य एवं अपौरुषेय हैं।

वेदान्तमत में वर्ण और उनके समुदाय रूप वेद को नित्य नहीं माना है, क्योंकि श्रुति वेद की उत्पत्ति कहती है और चेतन ही नित्य है, चेतन से भिन्न जो कुछ भी है वह नित्य नहीं हो सकता। जैसे वेद नित्य नहीं है, वैसे ही क्षणिक भी नहीं है। क्योंकि सर्वज्ञ ईश्वर के संकल्पमात्र से सृष्टि के आदि में वेद का प्राकट्य माना गया हैं। इस प्रकार ईश्वर के द्वारा ही श्वास के समान वेद की रचना होती है।

न्यायमत में जैसे वेद को पौरुषेय माना गया है, वैसे ही वेदान्तमत में भी ईश्वररूप पुरुष द्वारा रचे हुए होने से वेद पौरुषेय ही हैं। किन्तु इसमें भेद यह है कि व्यास आदि द्वारा सर्गों में भारतादि की रचना में सर्ग की इच्छानुसार आनुपूर्वी रची जाती हैं अर्थात् भारतादि की रचना में यह नियम नहीं है पूर्व सर्ग की आनुपुर्वी के समान ही उत्तर सर्ग में आनुपूर्वी हो। परन्तु सर्वज्ञ ईश्वर पूर्व सर्ग की आनुपूर्वी के समान ही उत्तर सर्ग में आनुपूर्वी युक्त वेद की रचना करता है। इस प्रकार ईश्वररूप पुरुष द्वारा रचित होने के कारण वेद में पौरुषेयता तो भारतादि के समान ही है पर, भारतादि में पूर्व सर्ग की आनुपूर्वी के स्मरण बिना ही पौरुषेयता है, जो कि वेद में नहीं है। क्योंकि पूर्व सर्ग की आनुपूर्वी के स्मरणपूर्वक ही पौरुषेयता होने से वेद की आनुपूर्वी अनादि सिद्ध होती है।

॥ तृतीय प्रकाश समाप्त ॥

चतुर्थ प्रकाश

उपमान प्रमाण निरूपण

न्यायमत से उपमान उपमिति के दो स्वरूप

न्याय और वेदान्त के सब ग्रन्थों में उपमानप्रमाण के पश्चात् शब्द प्रमाण का निरूपण हुआ है और सांख्यादि उपमान प्रमाण को नहीं मानते, वरन् तीन प्रमाण ही अंगीकार करते हैं, इसलिए पहले उनके उपयोगी प्रमाणों के निरूपण को आवश्यक समझ कर हम यहाँ शब्द प्रमाण के बाद उपमान प्रमाण का निरूपण करते हैं।

उपमिति प्रमा का कारण उपमान प्रमाण कहलाता है। न्यायमत से संज्ञी में संज्ञा की वाच्यता का ज्ञान उपमिति प्रमा है और उसका करण है उपमान प्रमाण। जैसे कोई नागरिक किसी वनवासी से प्रश्न करे कि 'गवय' कैसा होता है? उसके उत्तर में वनवासी कहे कि गौ के समान गवय होता है। तब इस वाक्यार्थ के अनुभव से वन में गौ के समान गवय को देख कर उसे उस वाक्यार्थ का स्मरण हो आता है और तब वह देखे गये पशु में गवय पद कि वाच्यता को जान लेता है। यहाँ उस पशु विशेष में गवय पद की वाच्यता का ज्ञान उपमिति प्रमा और वनवासी पुरुष द्वारा बताये हुए वाक्य का शब्दानुभव उपमान प्रमाण रूप करण समझना चाहिए। गौ के समान पिण्ड के देखने पर वाक्यार्थ की स्मृति व्यापार तथा संस्कार का उद्बोध कराने

वाला होने से गौ के समान पिण्ड का प्रत्यक्ष सहकारी होता है। इस प्रकार न्यायमत में वाक्यार्थ का अनुभव उपमान, वाक्यार्थ की स्मृति व्यापार, गौ के समान पिण्ड का प्रत्यक्ष सहकारी तथा उपमिति फल है।

पर, नये नैयानिक गौ के समान पिण्ड के प्रत्यक्ष को उपमान वाक्यार्थ की स्मृति को व्यापार और गवय पद की वाच्यता के ज्ञान को उपमिति रूप फल मानते हैं। इस मत में वाक्यार्थ का अनुभव ही कारण का कारण है, अतः वह कुम्हार के पिता के समान अन्यथा है। अभिप्राय यह कि कुम्हार का पिता घट की सामग्री से बाहर होता है, वैसे ही वाक्यार्थ का अनुभव भी उपमिति सामग्री से बाहर ही है। इस प्रकार नैयायिकों में यह दो मत प्रचलित हैं।

जैसे उपमिति सादृश्य ज्ञान से होती है, वैसे ही विधर्म ज्ञान से भी होती है। यदि 'खड्गमृग' पद के वाच्य से अनभिज्ञ कोई पुरुष किसी वनवासी से यह सुने कि ऊँटविधर्मा शृंगयुक्त नाक वाला खड्गमृग पद का वाच्य है, तो वह इस वाक्य के श्रवण और वाक्यार्थ-अनुभव के अनन्तर वन में जाकर ऊँटविधर्मा खड्गमृग (गैंडा) को देखने के बाद वाक्यार्थ की स्मृति से गैंडे में खड्गमृग पद की वाच्यता का ज्ञान प्राप्त करता है। इसी प्रकार 'पृथिवी' पद के वाच्य से अनजान पुरुष 'जलादि वैधर्मा पृथिवी वाक्य श्रवण कर और उसके अर्थ का अनुभव कर जलादि विधर्मयुक्त पदार्थ के प्रत्यक्ष होने और वाच्यार्थ के स्मरण होने पर उस पदार्थ में पृथिवी पद की वाच्यता निश्चित करता है। यह दोनों उपमिति सादृश्यज्ञान से नहीं, वरन् विधर्म ज्ञान अर्थात् विपरीत धर्म के ज्ञान से होती हैं। यहाँ गैंडे में ऊँट से विपरीत धर्म छोटी गर्दन

आदि तथा पृथिवी में जलादि से विपरीत धर्म गन्धादि हैं। इन दोनों ही उदाहरणों में साम्प्रदायिक रीति से वाक्यार्थ का अनु-भव करण, स्मृति व्यापार और विपरीत धर्म युक्त पदार्थ का देखना सहकारी है। पर, नयी रीति से विपरीत धर्मविशिष्ट पदार्थ का प्रत्यक्ष करण, स्मृति व्यापार और वाक्यार्थ का अनु-भव सामग्री से बाहर होने के कारण अन्यथा सिद्ध है और दोनों ही मतों में गैंडा पद की वाच्यता की ज्ञान और पृथिवी पद की वाच्यता का ज्ञान उपमिति रूप फल है। इस प्रकार न्याया-नुसार संज्ञी संज्ञा की वाच्यता का उपमान प्रभाण का फल माना गया है। पर, प्राचीन न्याय में जहां वाक्यार्थ के अनुभव को उपमान प्रमाण माना है, वहां नवीन न्याय में सादृश्यविशिष्ट पिण्ड-प्रत्यक्ष या वैधर्म्यविशिष्ट पिण्ड-प्रत्यक्ष ही उपमान प्रमाण है।

वेदान्त में उपमिति और उपमान

उपमिति-उपमान को वेदान्त में अन्य प्रकार से अंगीकार किया है। जैसे कि गाँव में गोव्यक्ति को देखता हुआ पुरुष जब वन में गवय को देखे तो उसे यह दिखाई देगा कि यह पशु गौ के समान है इसके बाद उसे यह ज्ञान होता है कि मेरी गौ इस पशु के समान है। इस प्रकार गवय में गौ का सादृश्य ज्ञान उपमान प्रमाण और गौ में गवय का सादृश्य ज्ञान उपमिति कहा जाता है। यद्यपि वेदान्त भी उपमिति के करण के ही उपमान मानता है, पर, इसमें उपमिति का स्वरूप और लक्षण भिन्न होने के कारण उपमान के लक्षण-भेद के बिना उपमिति के भेद की भी असिद्धि है। इस मत में सादृश्यज्ञान से उत्पन्न ज्ञान ही उपमिति है। इस प्रकार इस मत में न्यायमत से उपमिति-लक्षण की

भिन्नता मानी और उसके करण को उपमान कहा गया है। यह मत उपमान प्रमाण को व्यापारहीन मानता और वैधर्म्यविशिष्ट ज्ञान से उपमिति को अस्वीकार करता है ' क्योंकि सादृश्य ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान ही उपमिति है।

विचार सागर में न्यायरीति से उपमिति वर्णन

विचार सागर में उपमिति के स्वरूप का वर्णन न्यायमता—नुसार किया है उसका कारण यह है कि उपमिति-उपमान के स्वरूप को न्यायानुसार मानने में अद्वैय सिद्धान्त में कोई बाधा नहीं आती। क्योंकि वहाँ सादृश्य और वैधर्म्य दोनों ज्ञानों से उपमिति का अंगीकार हुआ है। उनका सिद्धान्तानानुकूल यह उदाहरण है—

आत्म पद से अर्थ विषयक प्रश्न पर गुरुमुख से यह श्रवण करके आत्मा शरीरादि वैधर्म्य युक्त है, शरीरादि से विधर्मा नित्य शुद्ध और आनन्द रूप आत्मपद वाच्य को उपमिति ज्ञान होता है। इसके विपरीत, यदि सादृश्य ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान को ही उपमिति मान लें तो आत्मा में किसी का भी सादृश्य सम्भव न होने से जिज्ञासु के अनुकूल उदाहरण की असिद्धि रहती है। यद्यपि आत्मा आकाशादि के समान है, ऐसा सादृश्यज्ञान उप—मिति प्रमा रूप से जिज्ञासु के अनुकूल उदाहरण सम्भव है तथापि जिस अधिकरण में जिस पदार्थ के न होने का ज्ञान हो, उसमें उस न होने के ज्ञान में जब तक भ्रम—बुद्धि न हो, तब तक उस पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे कि वेदान्त सुनने से आत्मा में कर्तापन न होने का ज्ञान होने पर न्यायशास्त्रादि के सुनने पर आत्मा को कर्त्ता-भोक्ता समझने लगे तो जब तक पूर्व ज्ञान में भ्रम-बुद्धि न होगी तब तक ज्ञान कभी हो ही नहीं सकता। इस प्रकार जिज्ञासु को जिस समय

गुरुवाक्यों द्वारा यह दृढ़ निश्चय होजाय कि 'आकाशादि सम्पूर्ण प्रपंच नाशवान है और आत्मा उससे सर्वथा विलक्षण स्वभाव का है, इसलिए आकाशादि का आत्मा से कुछ भी सादृश्य नहीं है' उस समय आकाश और आत्मा का सादृश्य ज्ञान कभी रह हीं नहीं सकता। इसलिए यह कहना उचित होगा कि सिद्धान्त में उत्तम जिज्ञासु के अनुकूल उपमिति का कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं है और यही कारण है कि विचारसागर ने न्यायमतानुसार ही उपमान और उपमिति का स्वरूप किया है।

वेदान्त और न्याय से विलक्षण लक्षण

नैयायिक रीति में सर्वथा विद्वेष होने पर उपमिति का लक्षण यह कह कर सकते हैं कि सादृश्य ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान या वैधर्म्यज्ञान से उत्पन्न ज्ञान उपमिति है। इसके अनुसार जैसे गैडे में ऊँट के वैधर्म्य ज्ञान से ऊँट में गैडे का वैधर्म्य ज्ञान होता है, वैसे ही पृथिवी में जल के वैधर्म्य ज्ञान से जल में पृथिवी का वैधर्म्य ज्ञान होता है। इस प्रकार ऊँट में गैंडे का और जल में पृथिवी के विपरीत धर्म रूप ज्ञान उपमिति प्रमा और उसका करण अर्थात् गैंडे में ऊँट का और पृथिवी में जल का विपरीत धर्म रूप ज्ञान उपमान प्रमाण है। ऐसे ही प्रपंच में आत्मा के वैधर्म्य ज्ञान द्वारा आत्मा में प्रपंच का वैधर्म्य ज्ञान भी उपमिति प्रमा समझना चाहिए। इसके विपरीत सादृश्य—ज्ञान से भी उपमान-उपमिति के भाव हो सकता है। इसलिए सादृश्य ज्ञान से उत्पन्न और वैधर्म्य ज्ञान से उत्पन्न, दोनों ही ज्ञान को उपमिति कहने से जिज्ञासु के अनुकूल उदाहरण की सिद्धि है।

वेदान्त-परिभाषा का खण्डन

वेदान्त परिभाषा ग्रन्थ में सादृश्य ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान को ही उपमिति का लक्षण माना है तथा ग्रन्थकार के पुत्र ने अन्य उपमिति के खण्डनार्थ कहा है कि जहाँ 'मैं नेत्रों की कमल से उपमा देता हूँ' ऐसा उपमान-उपमेय भाव मिलने पर उपमान प्रमाण होता है। इसके विपरीत वैधर्म्य ज्ञान में उपमान-उपमेय भाव के लुप्त रहने के कारण उपमान प्रमाण हो ही नहीं सकता।

हम उनसे यह प्रश्न करते हैं कि वैधर्म्यज्ञान से उत्पन्न उपमिति के अनेक स्थानों पर जो उदाहरण हैं, उनमें उपमिति के विषय का ज्ञान उपमान प्रमाण से न मानें तो फिर किस प्रमाण से मानें? क्योंकि प्रमा की सिद्धि बिना किसी प्रमाण के संभव नहीं है। यदि वहाँ कोई अन्य प्रमाण लग सकता हो तो उसी से सादृश्य ज्ञान उत्पन्न उपमिति के विषय का ज्ञान भी होना संभव है। और तब प्रयोजनाभाव से उपमान प्रमाण की अमान्यता ही रहनी चाहिए।

यदि कहें कि गवय-दर्शन काल में गौ का सादृश्य प्रत्यक्ष होते हुए भी गौ में गवय का सादृश्य प्रत्यक्ष नहीं होता। क्योंकि धर्मी से इन्द्रिय-संयोग होने पर तादात्म्य सम्बन्ध से सादृश्य धर्म की प्रत्यक्षता होती है यहाँ गोरूप धर्मी से इन्द्रिय-संयोग न होने के कारण गौ में गवय का सादृश्य प्रत्यक्ष का अविषय होने से गौ में गवय के सादृश्य ज्ञान का हेतु उपमान प्रमाण रहेगा ही।

वैसे ही गैंडे में ऊँट के वैधर्म्य का प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर भी इन्द्रिय के असंयोग से ऊँट में गैंडे के वैधर्म्य का प्रत्यक्ष नहीं है। इसलिए उसका जो हेतु गैंडे में ऊँट का वैधर्म्य ज्ञान रूप उपमान प्रमाण है, वही मानना उचित है। वेदान्त परिभाषा की टीका के अनुसार जिस ज्ञान के होने पर ज्ञाता को 'मैं उपमा देरहा हूँ'

यह ज्ञान हो, वही ज्ञान उपमिति स्वरूप है। क्योंकि वैधर्म्य ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान के अन्तर 'मैं उपमा दे रहा हूँ' ऐसी प्रतीति न होने से ज्ञान उपमिति रूप नहीं हो सकता।

उक्त कथन भी युक्त नहीं हैं, क्योंकि मुख में चन्द्रमा की सादृश्यता के प्रत्यक्ष होने के अनन्तर 'मुख में चन्द्रमा की उपमा देता हूँ' यह प्रतीति होती है इसमें मुख में चन्द्रमा के सादृश्य की उपमिति प्रमा नहीं, वरन् प्रत्यक्ष प्रमा है। इसलिए 'उपमा देता हूँ इस व्यवहार का विषय उपमिति प्रमा न होकर उपमा-अलङ्कार ही है।

कुछ लोग सादृश्य संज्ञक कोई भिन्न पदार्थ मानते हैं, जोकि उपमान-उपमेय में वर्तन शील होकर भी उपमान—उपमेय के निर्णीत धर्मों से पृथक है। यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि दो पदार्थों में थोड़ा समान धर्म होने पर अपकृष्ट सादृश्य और अधिक समान होने पर उत्कृष्ट सादृश्य होता है। इस प्रकार सादृश्य अपकृष्ट या उत्कृष्ट तो हो सकता है, पर वह कोई भिन्न पदार्थ नहीं हो सकता।

करण का लक्षण

न्याय और वेदान्त दोनों मतों में उपमान शब्द के अर्थ का कोई भेद न होते हुए भी उपमिति शब्द की परिभाषा में भेद है। क्योंकि दोनों ही मत उपमिति के करण को तो उपमान मानते हैं, पर, न्यायानुसार गवय पद की वाच्यता का ज्ञान उपमिति शब्द का परिभाषिक अर्थ तथा वाक्यार्थ का अनुभव या सादृश्य विशिष्ट पिण्ड का प्रत्यक्ष होना उसका करण है। जबकि अद्वैत मतानुसार सादृश्य ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान और वैधर्म्य ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान उपमिति का परिभाषिक अर्थ तथा सादृश्य ज्ञान और वैधर्म्यज्ञान उसका करण माना जाता है। इस प्रकार उक्त दोनों मतों में उपमिति की परिभाषा में जो भेद है उससे उपमान का

भी भेद सिद्ध होता है । उपमान पद यौगिक है, परिभाषिक नहीं । व्याकरण के अनुसार अपने अवयव के अर्थ को न छोड़ने वाला पद यौगिक है । यहाँ उपमान पद के अवयवों का अर्थ व्याकरण की रीति से उपमिति का कारण बनता है ।

उपमान से उपमिति के उत्पन्न होने में कोई व्यापार न होने से वेदान्तमत में व्यापार युक्त कारण के ही करण होने का नियम नहीं है, वरन् व्यापारहीन कारण भी करण हो सकता है । यद्यपि न्यायमत का निरूपण करते हुए व्यापारवत् असाधारण कारण को ही करण कहा है फिर भी सिद्धान्त में व्यापारहीन असाधारण कारण में भी करणता अंगीकार की गई है । जैसे 'व्यापारवत्' कथन में व्यापार में करण-लक्षण का प्रवेश नहीं होता, वैसे ही व्यापारभिन्न' कथन में भी नहीं हो सकता । क्योंकि वैसे व्यापार में व्यापारवत्ता का प्रवेश नहीं, वैसे ही व्यापार-भिन्नता का भी प्रवेश नहीं बनता । इस प्रकार वह चाहे व्यापारवत् हो या व्यापाररहित असाधारण कारण ही करण होता है ।

श्रीधर्मराज ने वेदान्त परिभाषा ग्रन्थ में करण का लक्षण करते हुए कहा है कि 'व्यापारवत् असाधारण कारण ही करण है तथा प्रमा करण प्रमाण कहलाता है । पर उनके पुत्र ने उक्त ग्रन्थ की टीका में कहा है कि उपमिति का असाधारण कारण उपमान व्यापार हीन है, वैसे ही अर्थापत्ति और अनुपलब्धि के असाधारण कारण को भी व्यापार रहित समझना चाहिए । इसलिए उपमानादि तीनों प्रमाणों के लक्षण में व्यापार का प्रवेश सम्भव नहीं । इसके विपरीत उपमिति प्रमा का व्यापारवत् असाधारण कारण उपमान प्रमाण, उपपादक की प्रमा का व्यापारवत् असाधारण कारण अर्थापत्ति प्रमाण और अभाव-प्रमा का व्यापारवत् असाधारण कारण अनुपलब्धि प्रमाण है ।

यदि उक्त प्रकार से तीनों प्रमाणों के लक्षणों को व्यापारवत् मानें तो यथार्थ में इन तीनों में व्यापारवत्ता के न होने से उक्त प्रमाणत्रय के विशेष लक्षण सम्भव नहीं होंगे। अतएव यही मानना ठीक है कि इन तीनों का विशेष लक्षण व्यापारवत् पद रहित है ।

इस प्रकार धर्मराज के पुत्र ने प्रमाणत्रय से व्यापारवत् पद हटाकर इनके कुछ विशेष लक्षणा तो कहे, पर, धर्मराज ने जो करण और प्रमाण के उक्त सामान्य लक्षण बताये, उनमें कुछ विलक्षणता नहीं कही । इसलिए पुत्र के कथन में कमी है, क्योंकि व्यापारवत्ता रहित करण के लक्षण में विशेष कथन न करके केवल यह कह देना कि उपमिति का करण उपमान, अर्थापत्ति का करण अर्थापत्ति और अभाव प्रमा का करण अनुपलब्धि है, पर्याप्त नहीं हो सकता । इस प्रकार जैसे अपूर्ण करण-लक्षण में करणता का व्यवहार नहीं होना चाहिए वैसे ही करणता के न होने से प्रमाणत्रय में प्रमाणता का व्यवहार भी नहीं बन सकता । इस प्रकार धर्मराज के करण-लक्षण में जो व्यापारवत् पद है, उसको उनके पुत्र द्वारा व्यापार भिन्न कहा जाता तो इष्टसिद्धि संभव थी । पर, ऐसा विलक्षण अर्थ न करने से पुत्र के कथन में अपूर्णता ही समझनी चाहिए ।

इसके विपरीत, हमारे मत में 'व्यापारभिन्न' कथन से व्यापाररहित उपमानादि प्रमाणत्रय में उपमिति आदि तीनों प्रमा की करणता बनती है और व्यापारवत् प्रत्यक्ष्यादि प्रमाणत्रय में भी यही लक्षण बनता है । इस प्रकार प्रपंच में ब्रह्म का वैधर्म्य ज्ञान उपमान तथा प्रपंच-वैधर्म्य ब्रह्म है, उपमान प्रमाण का फल उपमिति प्रमा यही है ।

॥ चतुर्थ प्रकाश समाप्त ॥

पंचम प्रकाश

अर्थापत्ति प्रमाण निरूपण

न्यायमत में त्रिधा अनुमान वर्णन

न्यायानुसार पहले कहे चार प्रमाण ही माने गए हैं तथा व्यतिरेकी अनुमान में अर्थापत्ति का अन्तर्भाव स्वीकार किया है। पर, सिद्धान्त में व्यतिरेकी अनुमान अमान्य होने से अर्थापत्ति रूप भिन्न प्रमाण मानकर व्यतिरेकी अनुमान के प्रयोजन को अर्थापत्ति से ही सिद्ध कर लिया है। जहाँ अन्वय व्याप्ति के उदाहरण बिना साध्य के अभाव में हेतु के अभाव की व्याप्ति का उदाहरण हो, उसे केवल व्यतिरेकी अनुमान कहते हैं।

जैसे कि 'पृथिवी गन्धवती होने से दूसरों से भेदवती है।' इसमें जहाँ गन्धवत्ता है वहाँ दूसरों से भेद है। इस प्रकार दृष्टान्त की पक्ष से भिन्नता के कारण अन्वय व्याप्ति का उदाहरण उपलब्ध नहीं। यहाँ सब पृथिवी पक्ष होने से उससे भिन्न जल आदि में दूसरे से भेद और गन्ध दोनों का रहना संभव नहीं है, इसलिए अन्वय व्याप्ति के न होने से इसे केवल व्यतिरेकी अनुमान ही मानना चाहिए। किन्तु जल के समान इतर भेद का अभाव होने से गन्ध का भी अभाव है। इस प्रकार साध्य के अभाव में हेतु के अभाव की व्याप्ति के ज्ञान का हेतु सहचर ज्ञान तो जलादि में ही उपलब्ध होने से जलादि ही उदाहरण है, क्योंकि व्याप्तिज्ञान का हेतु सहचार ज्ञान ही

उदाहरण' कहा जाता हैं। इस भांति अन्वयी अनुमान में व्याप्य व्यापक भाव होने के समान व्यतिरेकी की अनुमान में उसके विरुद्ध व्याप्य-व्यापक भाव विद्यमान रहता है। यहाँ नैनायिकों के दो मत हैं—पहिले मत में तो साध्य के अभाव का सहचार दिखाई देता है और साध्य अभाव में ही हेतु के अभाव का व्याप्तिज्ञान होता है। अतएव इस पक्ष में साध्य का अभाव हेतु और हेतु का अभाव साध्य माना है।

उक्त पक्ष में अन्य न्याय मत वाले यह दोष निकालते हैं कि जिस पदार्थ में जिसका व्याप्तिज्ञान हो उस हेतु से उसी साध्य की अनुमिति होना मानते हैं पर जिन पदार्थों के परस्पर व्याप्य-व्यापक भाव का ज्ञान नहीं होता उनका परस्पर हेतु साध्य का अभाव भी नहीं होता, यहाँ गन्ध और इतर भेद का व्याप्य—व्यापक भाव है तो इतर भेद का अभाव या गन्ध का अभाव न होने पर भी हेतु का साध्यभाव नहीं कह सकते। अत: साध्य के अभाव में हेतु के अभाव का सहचार दिखाई देने से भी हेतु में साध्य का व्याप्तिज्ञान होना मानना चाहिए।

अन्वयी और व्यतिरेकी अनुमान में यही भेद है कि जहाँ हेतु साध्य का सहचार का ज्ञान होने से हेतु में साध्य का व्याप्तिज्ञान हो वहाँ अन्वयी अनुमान और जहाँ साध्य के अभाव में हेतु के अभाव का सहचार दिखाई देने से हुतु में साध्य का व्याप्तिज्ञान हो वहाँ व्यतिरेकी अनुमान होता है। यथार्थ में तो साध्य के अभाव में हेतु के अभाव का व्याप्तिज्ञान कहीं होता ही नहीं और जहाँ होता भी है, वहाँ हेतु से ही साध्य की अनुमिति होती है, साध्य के अभाव से हेतु के अभाव की अनुमिति कभी हो ही नहीं सकती। क्योंकि नियम यह है कि व्याप्तज्ञान से ही व्यापक की अनुमिति होती है। इसमें प्राचीन पक्ष आदि और नये का पक्ष दूसरा है।

न्याय ग्रन्थ के अध्ययन से ही अनुमान प्रकरण में बुद्धि का प्रवेश होता है, इसलिए यहाँ अनुमान का अर्थ विस्तार से नहीं कहा है और यह उदाहरण केवल व्यतिरेकी अनुमान का ही दिया है। पर, साध्य के अभाव और हेतु के अभाव के सहचार का उदाहरण न मिले तो वह केवल अन्वयी अनुमान कहलाता है। जैसे कि 'ज्ञेयता से घट पद पट के समान शक्तिमान है, इसमें साध्य के अभाव और हेतु के अभाव का सहचार नहीं हैं। क्योंकि अन्वय में तो सभी पदों में ज्ञेयता और पदशक्ति है, इसलिए अभावों के सहचार का भी उदाहरण नहीं बनता। पर जहाँ अन्वय और व्यतिरेक दोनों के सहचार के उदाहरण हों, वहां अन्वय व्यतिरकी अनुमान होगा। ऐसा यह प्रसिद्ध अनुमान है। पर्वत अग्निवान् है, यह प्रसिद्ध अनुमान है। इसमें अन्वय के सहचार का उदाहरण महानस और व्यतिरेक के सहचार का उदाहरण महान ह्रद है। जहाँ धुँआ है वहीं अग्नि है, महानस में धुँआ नहीं तो अग्नि भी नहीं है, वैसे कि महान् ह्रद में। इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक दोनों के सहचार-उदाहरण उपलब्ध हैं और नैनायिको के मत में केवल व्यतिरेकी, केवल अन्वय व्यतिरेको यह तीन प्रकार के अनुमान हैं।

वेदान्त में एकान्वयी और अर्थापत्ति

वेदान्त में अर्थापत्ति प्रमाण से केवल व्यतिरेकी अनुमान के प्रयोजन की सिद्धि होती है तथा केवल अन्वयी अनुमान तो होता ही नहीं क्योंकि ब्रह्म में सर्व पदार्थों का अभाव होने से व्यतिरेकी सहचार का उदाहरण उपलब्ध होती है। यद्यपि ब्रह्म में भी वृत्तिज्ञान की विषयतारूप ज्ञेयता होती है, तो भी ब्रह्म में ज्ञेयता मिथ्या ही होने से मिथ्या पदार्थ और उसका अभाव का

एक ही अधिष्ठान में संभव होता है। इस प्रकार न्यायानुसार जो अन्वय व्यतिरेकी अनुमान है, वही वेदान्तानुसार अन्वयी संज्ञक एक प्रकार का ही अनुमान है। इस मत में केवल व्यतिरेकी अनुमान नहीं, वरन् उसके स्थान पर अर्थापत्ति प्रमाण ही मान्य है।

वस्तुत: तो केवल व्यतिरेकी अनुमान और अर्थापत्ति दोनों ही मान्य होने चाहिए। क्योंकि एक पदार्थ के ज्ञानानुव्यवसाय की भिन्नता होने पर उस पदार्थ के ज्ञान-प्रमाणों में भी भिन्नता होती है। एक अग्नि का प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर अनुव्यवसाय होता है कि 'मैं अग्नि का साक्षात्कार करता हूँ।' ज्ञान का ज्ञान अनुव्यवसाय कहलाता है और अनुव्यवसाय का जो विषय ज्ञान है वह व्यवसाय है। जहाँ अनुव्यवसाय का विषय व्यवसाय अनुमान प्रमाण से उत्पन्न होता हो, वहाँ पहला अनुव्यवसाय का विषय व्यवसाय अर्थापत्ति प्रमाण से उत्पन्न हो वहाँ दूसरा अनुव्यवसाय होगा। इस प्रकार व्यवसायज्ञान को उत्पन्न करने वाले अनुमान और अर्थापत्ति दोनों ही हो सकने के कारण किसी एक का अंगीकार और दूसरे का निषेध नहीं बन सकता।

अर्थापत्ति प्रमाण और प्रमा का स्वरूप भेद

प्रमाण और प्रमा के बोध कराने वाले एक प्रत्यक्ष शब्द के समान ही अर्थापत्ति शब्द भी प्रमाण और प्रमा दोनों का ही बोध कराता है। उपपादक कल्पना का हेतु उपपाद्य ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण और उपपादक ज्ञान अर्थापत्ति प्रमा कहलाता है। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि जैसे उपपादक और सम्पादक पर्यायवाची शब्द हैं, वैसे ही उपपाद्य और सम्पाद्य भी पर्यायवाची हैं। इसलिए विचारसागर में जो सम्पादज्ञान को अर्थापत्ति प्रमा कहा है, उससे विरोध नहीं हो सकता। जिसके बिना जो

न हो सके उसका वह उपपाद्य है। जैसे कि दिन में भोजन न करने वाला पुरुष यदि रात्रि में भी भोजन न करे तो उसमें स्थूलता नहीं हो सकती, इससे स्थूलता को रात्रि—भोजन का उपपाद्य मानना चाहिए। जिसके अभाव से जिसका अभाव हो, वह उसका उपपादक होता है। जैसे कि रात्रि-भोजन और दिवा-भोजन के अभाव में स्थलता का भी अभाव रहेगा, अतएव यहाँ रत्रि-भोजन को स्थूलता का उपपादक कहना चाहिए।

यदि शका करें कि इससे तो व्यापाक को उपपादकता और व्याप्य को उपपाद्यता बनती है, जिससे कि अनुमान-प्रमाण से अर्थापत्ति प्रमाण का भेद नहीं बन सकता। इसका समाधान यह है कि 'रात्रि-भोजन का व्याप्य स्थूलता है और स्थूलता युक्त देवदत्त है' ऐसे दो ज्ञान होने पर रात्रि-भोजन का ज्ञान हो तो अनुमिति प्रमा और 'दिन में भोजन न करने वाले पुरुष में रात्रि भोजन न करने पर स्थूलता की अनुपपत्ति होती है, इस प्रकार के ज्ञान से रात्रि भोजन का ज्ञान हो तो अर्थापत्ति प्रमा होती है। इस भांति प्रथम प्रकार से तो रात्रि भोजन का ज्ञान होने के अनन्तर 'स्थूलता होने से रात्रि भोजन का अनुमान करता हूँ' यह अनुव्यवसाय और दूसरे प्रकार से रात्रि भोजन का ज्ञान होने के अनन्तर 'स्थूलता की अनुपपत्ति से रात्रि—भोजन की कल्पना करता हूँ, यह अनुव्यवसाय होता है।

इस प्रकार उपपाद्य की अनुपपत्ति के ज्ञानान्तर उपपादक कल्पना अर्थापत्ति प्रमा और उपपादक कल्पना का हेतु उपपाद्य की अनुपपत्ति का ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण होता है। अथापत्ति दो प्रकार की मानी जाती है—(१) दृष्ट, और (१) श्रुत। इनमें दृष्ट उपपाद्य की अनुपपत्ति—ज्ञान जन्य उपपादक की कल्पना दृष्टार्थापत्ति होती है, जैसी कि दिन में भोजन न करने वाले स्थूल में है, क्योंकि उपपाद्य स्थूलता दृष्ट है।

श्रुत उपपाद्य की अनुपपत्ति के ज्ञान से उपपादक की कल्पना होने पर श्रुतार्थापत्ति बनती है। जैसे कि 'घर में असत् देवदत्त जीवित इसे सुनकर घर से बाहर देवदत्त की सत्ता के बिना घर में असत् देवदत्त का जीवन सम्भव नहीं, यह कल्पना होती है। इससे घर में असत् देवदत्त के जीवन की अनुपपत्ति होने से घर से बाहर देवदत्त की सत्ता कल्पित होती है, इसमें, घर में देवदत्त का जीवन श्रुत है, दृष्ट नहीं हो सकता। इसलिए श्रुतार्थ की अनुपपत्ति से जो उपपादक की कल्पना होती है,वह श्रुतार्था पत्ति प्रमा हैं और उसका हेतु जो श्रुतार्थ की अनुपपत्ति का ज्ञान है, वह श्रुतार्थापत्ति प्रमाण कहा जाता है। यहाँ घर में असत् देवदत्त का जीवन उपपाद्य और घर से बाहर उसकी सत्ता उपपादक समझनी चाहिए।

श्रुत अर्थापत्ति के भी दो भेद हैं—अभिधानानुपपत्ति और अभिहितानुपपत्ति। 'द्वारम्' या 'पिधेहि आदि स्थानों में वाक्यों के एक देश का उच्चाहरण हो, अन्य देश का न हो तो श्रुतपद के अर्थान्वय योग्य अथ का या अन्वय योग अथ के बोधक शब्द का अध्याहार होता है। क्रमशः यही अर्थाध्याहारवाद और शब्दाध्याहारवाद हैं। पर, अर्थापत्ति प्रमाण के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण से अर्थाध्याहार या शब्दाध्याहार का ज्ञान नहीं हो सकता। इसी को अभिधानानुपपत्ति रूप श्रुतार्थापत्ति मानते है, क्योंकि अन्वय बोध फल वाले शब्द प्रयोग को अभिधान कहा जाता है। 'द्वारम्' शब्द प्रयोग रूप अभिधान का 'पिधान' रूप अर्थ अथवा 'पिधेहि' रूप शब्द के अध्याहार के बिना अनुपपत्ति होती है। अथवा यह कह सकते हैं कि यहाँ एक पदार्थ का दृष्ट पदार्थ के अन्तर से अन्वय बोध में वक्ता का तात्पर्य ही अभिधान पद का अर्थ होता है। यदि केवल 'द्वारम्' ही कहें तो द्वार-कर्मता

का निरूपकता से सम्बन्ध होने से श्रोता के लिए पिधानान्वयी बोध होना ही वक्ता का तात्पर्यरूप अभिधान बनता है।

यदि केवल 'पिधेहि' ही कहें तो पहले कहा गया द्वारान्वयी बोध ही वक्ता का तात्पर्य रूप अभिधान होगा। यहाँ अर्थ का अध्याहार या शब्द का अध्याहार उपपादक और बोध फल वाला शब्द प्रयोग उपपाद्य है। अथवा यह कह सकते है कि पूर्वोक्त तात्पर्य उपपाद्य और बोध फल युक्त शब्द के प्रयोग रूप उपपाद्य की अनुपपत्ति से अथवा तात्पर्य रूप उपपाद्य की अनुपपत्ति से अर्थ या शब्द रूप उपपादक की कल्पना होती है। अतएव अर्थापत्ति प्रमाण से अध्याहार किये हुए अर्थ या शब्द की अर्थापत्ति प्रमा होती है। और जहां वाक्य के एक स्थल का ही नहीं, वरन् समूचे वाक्य का अर्थ अन्य अर्थ की कल्पना के बिना अनुपपन्न होता हो वहाँ अभिहित अनुपपत्तिरूप श्रुतार्थापत्ति होती है। जैसे 'स्वर्गकामो यजेत्' में याग की स्वर्गसाधनता उपपाद्य और उसकी अन्य रीति से अनुपपत्ति होने से अपूर्व की कल्पना उपपादक और स्वर्ग साधनता श्रुत होने से श्रुतार्थापत्ति होती है।

जिज्ञासु के अनुकूल अर्थापत्ति का उदाहरण

'आत्मज्ञानी शोक से तर जाता है', यह उदाहरण जिज्ञासु के अनुकूल श्रुतार्थापत्ति का है। इसमे ज्ञान से शोक का निवारण श्रुत है और ज्ञान के मिथ्यात्व का बाधक होने से शोक मिथ्यात्व के बिना ही उसकी अनुपपत्ति है। अतएव अन्य प्रकार के ज्ञान से शोक-निवारण की अनुपपत्ति से बन्ध के मिथ्या होने की कल्पना होती है। इस स्थल में बन्ध का मिथ्यात्व उपपादक और ज्ञान से शोक का निवारण उपपाद्य है। उसके श्रुत होने से श्रुतार्थापत्ति है।

जैसे ही महावाक्यों से जीव ब्रह्म का अभेद सुना जाता है, उसमें भेद को औपाधिक मानने पर तो अभेद सम्भव है, पर, जीव-ब्रह्म का स्वरूप से ही भेद होने पर अभेद सम्भव नहीं है। अतएव अन्य रीति से जीव-ब्रह्म के अभेद की अनुपपत्ति होने से भेद की औपाधिकता का ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण से उत्पन्न है। इस स्थान पर जीव-ब्रह्म का अभेद उपपाद्य और भेद की उपाधियुक्तता उपपादक है। सर्वत्र ही उपपाद्य ज्ञान प्रमाण और उपपादक ज्ञान प्रमा होता है। जीव-ब्रह्म का अभेद केवल ज्ञानी के लिए दृष्ट और दूसरों को श्रुत होने के कारण यह उदाहरण दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति दोनों का है। जब वाक्य में पद या अर्थ का अध्याहार न होते हुए भी अन्य अर्थ की कल्पना के बिना वाक्यार्थ की अनुपपत्ति होती हो, तब अभिहित अनुपपत्ति रूप श्रुतार्थापत्ति होती है। अतएव 'द्वारम्' के अतिरिक्त उपर्युक्त सभी उदाहरण श्रुतार्थापत्ति के ही हैं।

इसी प्रकार रजत के अधिकरण में सीप में रजत का जो निषेध है, वह दृष्ट है। रजत के मिथ्यात्व के बिना उसकी सम्भावना नहीं बनती। अतएव अन्य रीति से निषेध की अनुपपत्ति होने से रजत के मिथ्यात्व की कल्पना होना दृष्टार्थापत्ति का उदाहरण है। इसमें रजत का निषेध उपपाद्य और रजत का मिथ्यात्व उपपादक हैं। मन का विलय होने पर निर्विकल्प समाधि होती है, उसमें केवल अद्वितीय ब्रह्म ही शेष रहता और सभी अनात्मा पदार्थों का अभाव हो जाता है। उस अनात्म पदार्थ के मानस होने पर उसका अभाव मन के विलय से संभव होता है। यदि अनात्म पदार्थ मानस हो तो मन का विलय होने पर भी उसका अभाव नहीं बनेगा। क्योंकि जिसका विलय हो, उसी का अभाव होगा, किसी अन्य के विलय से अन्य का अभाव

नहीं हो सकता। अतएव मन का विलय न होने की अवस्था में सर्व द्वैतभाव की अनुपपत्ति से सर्व द्वैत के मनोमात्र होने की कल्पना होती है। यहाँ मन के विलय से सर्व द्वैत का विलय उपपाद्य और उसका ज्ञान अर्थापत्ति प्रमा होता है। उपपादक प्रमा का असामान्य कारण अर्थापत्ति प्रमाण के निर्व्यापार होते हुए भी उसमें उपपादक प्रमा की करणता सम्भव है, ऐसा उपमान निरूपण में बताया गया है।

॥ पंचम प्रकाश समाप्त ॥

षष्ठ प्रकाश

अनुपलब्धि प्रमाण निरूपण

अभाव का सामान्य लक्षण एवं भेद

अनुपलब्धि प्रमाण से अभाव रूप प्रमा की उत्पत्ति होने से अभाव प्रमा के असामान्य करण को अनुप ब्धि प्रमाण कहते हैं न्याय-वेदान्त के संस्कारों से हीन पुरुष अभाव के स्वरूप से अनभिज्ञ रहते हैं, इसलिए पहले अभाव के स्वरूप का निरूपण करना आवश्यक प्रतीत होता है ।

'अभाव' वह है जो निषेधमुख प्रतीति का अथवा प्रतियोगी साक्षेप प्रतीति का विषय हो। प्रचीन न्यायानुसार अभाव का प्रथम लक्षण है पर नवीन नैयायिकों के अनुसार अभाव का दूसरा ही लक्षण है । प्रतियोगी को छोड़कर अभाव की प्रतीनि न होने से सर्व अभाव प्रतियोगी साक्षेप प्रतीति के विषय होते हैं । यद्यपि अभाव के सदृश्य सम्बन्ध और सादृश्य प्रतियोगी निरपेक्ष प्रतीति के विषय नहीं, वरन् प्रतियोगी साक्षेप प्रतीति के विषय होने से उनमें भी अभाव के लक्षण की अतिव्याप्ति होनी चाहिए। तो भी सम्बन्ध एव सादृश्य की प्रतियोगिता से अभाव की प्रति— योगिता में विलक्षणता है। क्योंकि न्याय ग्रन्थों में अभावभाव के अभाव की प्रतियोगिता का स्वरूप भी बताया है, पर, सम्बन्ध और सादृश्य की इस प्रकार प्रतियोगिता न होने से सम्बन्ध और सादृश्य की प्रतियोगिता से विलक्षण जिसकी प्रतियोगिता हो, ऐसा प्रतियोगी 'अभाव' कहलाता है ।

न्याय के अनुसार यह अभाव संसर्गाभाव और अन्योऽन्यभाव के भेद से दो प्रकार का है। इनमें भी अन्योऽन्याभाव तो एक ही प्रकार का है, पर, संसर्गाभाव के चार प्रकार हैं—(१) प्रागभाव (२)प्रध्वंसाभाव, (३) सामयिकाभाव, और (४) अनत्याभाव। इस भांति दोनों प्रकार के अभाव मिल कर पांच प्रकार के होते हैं। न्यायमत के अनुसार उनका वर्णन निम्न रीति से है—

(१) घट के उत्पन्न होने से पहले कपाल में घट का अभाव और लाल रंग के उत्पन्न होने से पहले कपाल में लाली का अभाव प्रागभाग कहलाता है।

(२) घट के उत्पन्न होने के अनन्तर मुद्गर आदि से कपालों में पुनः घटाभाव होना और पके हुए कपाल में कालेपन का अभाव होजाना प्रध्वंसाभाव कहा जाता है। वह प्रध्यंसाभाव आदि वाला होते हुए भी अनन्त है। क्योंकि मुद्गरादि से घट के ध्वंस का उत्पन्न होना तो अनुभवसिद्ध है, पर, घटध्वंस का ध्वंस अर्थात् अभाव नहीं हो सकता। क्योंकि घट के सम्बन्ध में प्रागभाव, प्रतियोगी या ध्वंस में से किसी एक का अधिकरण समय रहना आवश्यक है। अभिप्राय यह है कि घट के उत्पन्न होजाने और उसके नष्ट होने से पहले का जो समय है वह घट के प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव का आधार रहित समय है। क्योंकि घट का प्रागभाव तो नष्ट हो चुका, पर घटध्वंस उत्पन्न नहीं हुआ इससे घट के प्रागभाम और प्रध्वंसाभाव का जो आधार रहित समय है वह घट रूप प्रतियोगी का आधार समय माना जाता है। यदि घट-ध्वंस के ध्वंस को किसी प्रकार मान भी लें तो वह घट-ध्वंस के ध्वंस का आधार समय घट-प्रागभाव तथा घट ध्वंस का आधार-रहित समय होता है, इसलिए वह घट का आधार समय ही होना चाहिए। इस प्रकार घटध्वंस का ध्वंस

मनाने पर प्रतियोगी घट का उन्मज्जन होगा और इसी कारण प्रागभाग को अनादि [स्वीकार किया गया है। इससे समझना चाहिए कि प्रागभाग अनादि और अन्तयुक्त है, जबकि प्रध्वंसाभाव आदियुक्त और अनन्त है।

(३) भूत, वर्तमान, भविष्यत् कालो में कभी घट हो तो घट-रहित समय में घट का सामयिकाभाव माना जाता है। अभिप्राय यह कि कभी हो, कभी न हो वह सामयिकाभाव है। यह आदि और अन्त युक्त है।

(४) वायु में रूप कभी भी न होने से उसमें रूप का अत्यन्ताभाव होता है। यह अनादि-अनन्त है।

(५) घट से अन्य पदार्थों में घट का जो भेद है वह घट का अन्योऽन्याभाव कहलाता है। यह भो आदि और अन्त-रहित है।

उक्त रीति से यह पाँच प्रकार के अभाव का न्याय में वर्णन मिलता है, जिस पर यहाँ प्रकाश डाला गया है।

अभावों की परस्पर विलक्षणता

घट के उत्पन्न होने से पहले कपाल में घट के न होने की प्रतीति होती है, जिसका विषय घट-प्रागभाव है। क्योंकि सामयिकाभाव और अत्यन्ताभाव का अपने प्रतियोगी के उपादानकारण में रहना सम्भव नहीं है। इसलिए सामयिकाभाव और अत्यन्ताभाव तो कपाल में घट के न होने की प्रतीति के विषय हो नहीं सकते और घट के उत्पन्न होने से पहले ध्वंस असंभव है। क्योंकि जब ध्वंस का निमित्त कारण प्रतियोगी अभी उत्पन्न ही नहीं हुआ तो कारण से पहले कार्य का होना भी नहीं बनता। इसलिए घट के

उत्पन्न होने से पहले कपाल में घट के होने की प्रतीति का विषय घट-प्रध्वंसाभाव भी नहीं बनता । यद्यपि कपाल में घटान्योऽन्याभाव सदा रहता है, तो भी 'कपाल घट नहीं है' ऐसी अन्योऽन्याभाव की प्रतीति होती है । इसके विपरीत 'कपाल में घट नहीं ऐसी अन्योऽन्याभाव की प्रतीति कभी नहीं होता । इस प्रकार घट नहीं 'इस प्रतीति का विषय प्रागभाग है ।

वैसे ही जब मुद्गर आदि से घट का आकार दिखाई देता समाप्त होजाय, तब भी 'कपाल में घट नहीं है' यह प्रतीति होने पर भी, उस प्रतीति का विषय प्रागभाव नहीं हो सकता । क्योंकि प्रागभाग का नष्ट होना प्रतियोगी रूप होने से घट के उत्पन्न होने के अनन्तर प्रागभाव हो ही नहीं सकता । इसके अतिरिक्त अन्य तीन अभाव भी 'कपाल में घट नहीं है' इस प्रतीति में असम्भव हैं । इस प्रकार मुद्गर आदि के न दिखाई देने के समय कपाल में घट नहीं है' इस प्रतीति का विषय प्रध्वंसाभाव ही है । इस प्रकार प्राचीन नैयायिकों के मत में प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव दोनों ही 'न' शब्द से उत्पन्न प्रतीति के ही विषय होते हैं ।

नवीन न्यायानुसार अभावों की विलक्षणता

नये नैयायिकों के मत में प्रतियोगी के उपपादान कारण में अत्यन्ताभाव भी होता है, क्योंकि अत्यन्ताभाव का विरोध किसी अन्य से न होकर अपने प्रतियोगी से हैं । इस प्रकार घट के उत्पन्न न होने से पहले और घट के नष्ट होने के समय भी प्रतियोगी का अत्यन्ताभाव होता है, इसलिए कपाल में घट न होने की प्रतीति का विषय अत्यन्ताभाव भी होता हैं, जिससे केवल प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव ही सिद्ध नहीं होता, वरन्

'कपाल में घट होगी' इस घट से उत्पन्न होने से पहले की प्रतीति का विषय प्रागभाव और 'कपाल में घट का नाश होगया' इस प्रतीति का विषय प्रध्वंसाभाव है।

इस प्रकार घट के उत्पन्न होने से पूर्व कपाल में घट का अत्यन्ताभाव और प्रागभाव दोनों के रहते हुए भी उनमें कपाल में घट के न होने की प्रतीति का विषय तो कपाल में घट का अत्यन्ताभाव और 'कपाल में घट होगा' इस प्रतीति का विषय प्रागभाग है। वैसे ही मुद्गरादि से कपाल में घट के न दिखाई देने पर भी कपाल में घट नहीं है और कपाल में घट का नाश होगया ऐसी दो प्रकार की प्रतीति होती है। उनमें प्रथम प्रतीति का विषय कपाल में घट का अत्यन्ताभाव और दूसरी प्रतीति का प्रध्वंसाभाव है। इस प्रकार नवीन नैयायिकों के मत में प्राग-भाव और प्रध्वंसाभाव 'न' शब्द से उत्पन्न प्रतीति के विषय न होने से अभाव का पहला लक्षणा तो प्राचीन मतानुसार एवं दूसरा लक्षण नवीन मतानुसार है।

अभाव का दूसरा लक्षणा और विलक्षण प्रतीति

दूसरे लक्षण में सम्बन्ध और सादृश्य से भिन्न प्रतियोगी-सापेक्ष का विषय अभाव कहलाता है। वहाँ प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव 'भूतल में घट नहीं है' इस प्रतीति के विषय नहीं है, क्योंकि यह दोनों हीं अभाव प्रतियोगी के उपादान कारण में रहते हैं। पर, घटाभाव के प्रतियोगी घट का उपादान भूतल न होने से यह दोनों ही अभाव उक्त प्रतीति के विषय नहीं होते और अत्यन्ताभाव एवं अन्योऽन्याभाव के नित्य तथा भूतल में घटाभाव के अनित्य होने से सामयिकाभाव ही उस प्रतीति का विषय हो सकता है।

'वायु में रूप नहीं' इस प्रतीति का विषय अत्यन्ताभाव है, क्योंकि अत्यन्ताभाव के अनन्त, अनादि और सदा होने से प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और सामयिकाभाव में से कोई भी नहीं हो सकते, वरन् अत्यन्ताभाव ही हो सकता है। वैसे ही 'वायु रूपवान नहीं, इस प्रतीति का विषय अन्योऽन्याभाव है, क्योंकि उस प्रतीति से वायु में रूपयुक्त का भेद-ज्ञान होता है। इसी प्रकार 'घट पट नहीं हैं' इस प्रतीति का विषय भी अन्योऽन्याभाव ही समझना चाहिए, क्योंकि अन्योऽन्याभाव को हीं भेद कहते हैं।

अन्योऽन्याभाव के लक्षण में शंका-समाधान

अभेद का निषेध करने वाले अभाव को 'अन्योऽन्याभाव' कहते हैं। 'घट पट नहीं है' इस उक्ति में घट में पट के अभेद का निषेध होने से घट में पट का अन्योऽन्याभाव बनेगा। क्योंकि 'न' शब्द के बिना जिसमें जिसकी प्रतीति होती हो, उसमें उसका निषेध 'न' शब्द से ही होता है। जैसे 'घट पट' वाक्य में 'न' शब्द के न होने से नील घट के समान घट में पट का या पट में घट का जो अभेद प्रतीति होता है, जिसका निषेध 'न' शब्द से हो जाता है। पर, इसमें अन्तर यह है कि'न' शब्द का जिस पद से सम्बन्ध हो, उसी पद के अभेद का निषेध बनता है, जैसे कि 'घट:पटो न' वाक्य में 'न' शब्द का पट पद से सम्बन्ध है, इसलिए यहाँ 'न' शब्द से घट में पट पद के अर्थ का अभेद निषिद्ध होता और 'पटो घटो न' वाक्य में घट पद से 'न' शब्द का सम्बन्ध होने से पट में घट पद के अर्थ का अभेद निषिद्ध होता है। अतएव 'घट:पटो न' वाक्य में अन्योऽन्याभाव की जो प्रतीति होती है, उसका अनुयोगी घट और प्रतियोगी,पट है जबकि 'पटो घटो न' वाक्य में अन्योऽन्याभाव की प्रतीति का

अनुयोगी पट और प्रतियोगी घट है। इस प्रकार जिसमें अभाव हो वह अभाव का अनुयोगी होता है और जिसका अभाव हो वह अभाव का प्रतियोगी कहा जाता है।

इसमें यह शंका हो सकती है कि जिसका निषेध हो उसका अभाव होता है और उसी को अभाव का प्रतियोगी कहते हैं। किन्तु यह जो कहा है कि 'घटःपटो न' वाक्य से घट में पट के अर्थ का अभेद निषेध और 'पटो घटो न' वाक्य से पट में घट के अर्थ का अभेद-निषेध होने से 'घटःपटो न' वाक्य से प्रतीत होने वाले अभाव का प्रतियोगी पट नहीं, वरन् पट का अभेद है और 'पटो घटो न' वाक्य से प्रतीत होने वाले अभाव का प्रतियोगी घट न होकर घट का अभेद है। तो इस प्रकार दोनों वाक्यों में अभेद-निषेध से क्रमशः पट और घट में कही गई प्रतियोगिता से विरोध होता है।

उक्त शंका का समाधान यह है कि अभेद असामान्य धर्म को कहते हैं। असामान्य धर्म वह है जो अपने आत्मा के अतिरिक्त अन्य पदार्थ में न रहे। जैसे कि घट का अभेद घट के अतिरिक्त किसी अन्य में नहीं रहता इसलिए घट का अभेद उसका असामान्य धर्म है। उस असामान्य धर्म रूप अभेद का सम्बन्ध सभी पदार्थों का अपने-अपने में ही रहता है। जैसे घट का भूतल में संयोग सम्बन्ध हो तो यह व्यवहार होगा कि घट भूतल में सयोग-सम्बन्ध से ही वर्तता है। इसलिए 'घट का भूतल से सयोग-सम्बन्ध है' और 'घट भूतल में संयोग-सम्बन्ध से वर्तमान है' इन दोनों उक्तियों में अर्थ का भेद नहीं बनता। वैसे ही 'भूतल में संयोग-सम्बन्ध से घटाभाव है' और 'भूतल में घट-संयोग का अभाव है' इन दोनों उक्तियों का समान अर्थ है।

इसी प्रकार 'पट में अभेद के सम्बन्ध से घट का अभाव' और 'पट में घट के अभेद-सम्बन्ध का अभाव यह दोनों ही समनियत

होने के कारण एक ही हैं। जैसे कि घटत्व–अत्यन्ताभाव एवं घट-अन्योऽन्याभाव यह दोनों ही घट से भिन्न पदार्थों में रहने से समनियतत्व के कारण दोनों ही परस्पर अभिन्न है। पर, एक ही अभाव में यह दो धर्म हैं तथा उसी एक अभाव के प्रतियोगी क्रमशः घटत्व और घट दोनों ही हैं। जैसे रूपभेद से एक अभाव के ही दो प्रतियोगी होते हैं, वैसे ही रूपभेद से एक ही अभाव के दो प्रतियोगिया—अवच्छेदक सम्बन्ध हैं। इसी प्रकार पटादि पदार्थों में घट के अभेद का अत्यन्ताभाव और घट को अन्यो—ऽन्याभाव भी भिन्न नहीं वरन् उस एक अभाव में दो धर्म हैं—घट के अभेद का अत्यन्ताभावत्व और घट का अन्योऽन्याभात्व। उस एक अभाव का प्रतियोगी घट-अभेद-अत्यन्तभावत्व रूप से घट का अभेद और अभेद-सम्बन्ध प्रतियोगितावच्छेदक है एवं घट के अन्योऽन्याभावत्वरूप से घट उसी अभाव का प्रतियोगी है तथा प्रतियोगिता अवच्छेदक स्वरूप सम्बन्ध होता है। वह अभेद सम्बन्ध ही 'तादात्म्य' एवं 'तद्व्यक्तित्व' कहलाता है। इस प्रकार घट के अभेद-निषेध का प्रतियोगी घट है, ऐसा कथन बनने से कोई विरोध उपस्थित नहीं होता।

यहाँ यह समझना चाहिए कि जिस वाक्य से, जिस पदार्थ में, जिस सम्बन्ध से जो पदार्थ 'न' शब्द के बिना ही प्रतीति हो उस वाक्य से, उस पदार्थ में, उस सम्बन्ध से उस पदार्थ का 'न' शब्द सहित निषेध बनता है। जैसे कि 'नीलो घटः' वाक्य से घट पदार्थ में नील पदार्थ की अभेद-सम्बन्ध से प्रतीति होती है। क्योंकि इस वाक्य का अर्थ अभेद-सम्बन्ध से घट नील विशिष्ट है' और 'घटो न नीलः' वाक्य से अभेद-सम्बन्ध से घट में नील का निषेध प्रतीत होता है। वैसे ही घटः पटः वाक्य से भी 'न' शब्द के बिना पट-पदार्थ में घट पदार्थ का प्रतीत होना अभेद सम्बन्ध से ही है। क्योंकि दो पदों में समान विभक्ति होने पर

एक पदार्थ में अभेद सम्बन्ध से दूसरे पदार्थ की प्रतीति होती है।

'नीलो घट :' वाक्य के समान 'घट: पट:' वाक्य में भी दोनों पदों में समान विभक्ति है, इसलिए 'न' शब्द के बिना 'घट:पट:' वाक्य से भी पट पदार्थ में घट पदार्थ की प्रतीति अभेद-सम्बन्ध से होती है। यद्यपि पट पदार्थ में घट पदार्थ अभेद सम्बन्ध से होता नहीं, तो भी एक में दूसरे के अभेद सम्बन्ध से जो प्रतीति की सामग्री है, वह समान विभक्ति ही है जिसकी विद्यमानता 'घट: पट:' वाक्य में है। अतएव 'न' शब्द के बिना घट: पट: वाक्य से पट में घट की अभेद सम्बन्ध से प्रतीति तो होती है, पर वह प्रतीति प्रमा रूप नहीं, वरन् भ्रमरूप ही होगी। इस भांति 'न' शब्द के बिना जहाँ एक में दूसरे की भ्रमरूप या प्रमा रूप प्रतीति जिस सम्बन्ध से हो, वहाँ 'न' शब्द के योग से एक पदार्थ में दूसरे का उस सम्बन्ध से निषेध होता है। इस प्रकार एक पदार्थ में दूसरे का अभेद सम्बन्ध से निषेध करने वाला अभाव 'अन्योऽन्याभाव' कहलाता है।

प्राचीन न्यायमत से संसर्गाभाव के चार भेद

अन्योऽन्याभाव से भिन्न अभाव को संसर्गाभाव कहते हैं। प्रचीन नैयायिकों के अनुसार इसके निम्न चार भेद है—

(१) अनादि और अन्त सहित अभाव को प्रागभाग कहते हैं, यह अपने प्रतियोगी के उपादान कारण में रहता है। जैसे घट के प्रागभाव के प्रतियोगी घट के उपादान कारण कपाल में घट का प्रागभाव रहता है तथा कपाल के उत्पन्न होने से पहले कपाल के उपादान कारण में भी घट का प्रागभाव होता है। इसी प्रकार सृष्टि से पहले घटारम्भ करने वाले परमाणुओं में भी घट का प्रागभाग विद्यमान रहता है तथा परमाणु और घट

के बीच द्व्यणुक आदि से कपालपर्यन्त सभी अवयवियों के प्रागभाग सृष्टि से पहले परमाणुओं में ही विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार प्रागभाव अनादि होते हुए भी अन्त अर्थात् नाश वाला है, घट को उत्पन्न करने वाली सामग्री से घट के प्रागभाग का अंत होने से घट के प्रागभाव का अन्त घटरूप ही समझना चाहिए।

यद्यपि घट अन्तसहित और प्रध्वंसाभाव अन्तरहित अर्थात् अनन्त है। इसलिए घट के प्रागभाव का अन्त (ध्वंस) यदि घट रूप हो तो प्रध्वसाभाव भी अन्तयुक्त होना चाहिए। उस अवस्था में प्रध्वंसाभाव के अनन्त होने वाले नियम का बाध होगा। उस ध्वांस के दो भेद हैं—(१) भाव पदार्थ का नाशरूप, और (२) अभाव पदार्थ का नाशरूप। इनमें प्रथम जो अभाव रूप ध्वांस है वही प्रध्वंसाभाव कहलाता है और दूसरा ध्वांस भावरूप है। उसे भी ध्वांस या प्रध्वांस तो कहते हैं, पर ध्वांसाभाव या प्रध्वांसाभाव नहीं कह सकते। इन दो प्रकार के ध्वांसों में भावरूप ध्वांस सान्त और अभाव रूपध्वांस अनन्त है। इसीलिए घट के प्रागभाव के ध्वास को घटरूप होने से सान्त और घट के प्रध्वांसाभाव को अनन्त मानते हैं।

वैसे तो अत्यन्ताभाव भी अनादि अभाव है, पर वह सान्त नही और जो सान्त अभाव सामयिकाभाव है, वह अनादि नही। वेदान्त सिद्धान्त में माया को भी अनादि एवं सान्त माना गया है, पर अभाव नहीं, वरन् संसार प्रपंच का उपादान कारण है। क्योंकि माया अभावरूप होती तो उसमें उपादान कारणता नहीं हो सकती थी। यद्यपि वेदान्त सिद्धान्तानुसार माया भावाभाव से विलक्षण एवं अनिर्बचनीय है, इसलिए उसमें भावरूपता नहीं है, तो भी वह अभाव रूप न होने से और प्रागभाव के लक्षण में अभाव पद निहित होने से उसमें प्रागभाव का लक्षण नहीं बनता।

माया का भावरूप न कहने का अभिप्राय यह है कि जिसका तीनों काल में बाध न हो, वह भावरूप और परमार्थ सत् है और ऐसी माया नहीं,वरन् ब्रह्म ही है ज्ञान होने के अनन्तर माया का बाध होजाने से माया में सत्स्वरूप भावरूपता भी नहीं होती पर विधिमुख प्रतीति का विषय सत् तथा भावरूप और निषेध-मुख प्रतीति का विषय अभावरूप होता है एवं माया में निषेध-मुख प्रतीति की विषयता न होने से उसे भावरूप कहा गया है।

यद्यपि माया, प्रकृति अज्ञान और अविद्या यह सब पर्याय-वाची शब्द है। इनमें अज्ञान और अविद्या में जो अकार है वह निषेधात्मक है। इसलिए निषेध मुख प्रतीति का विषय होने से माया अभावरूप ही कही जा सकती है। तो भी अकार का अर्थ निषेधमात्र में न होकर निरोध, भेद और अल्प में भी है। जैसे 'अधर्म' में अकार का धर्म-विरोधी अर्थ है,'अब्राह्मणोणोनाचार्यः में अकार का अर्थ भेद युक्त है, अर्थात् इसका अर्थ बनता है ब्राह्मण से भिन्न और आचार्य होने के अयोग्य एवं 'अनुदरा देव-दत्तकन्या' में अकार का अर्थ अल्प होता है, क्योंकि इस वाक्य का अर्थ है 'अपोदरा देवदत्तकन्या। जैसे उक्त स्थानों में आकार निषेधात्मक नहीं है, वैसे ही अविद्या और अज्ञान में भी अकार का अर्थ निषेध में न होकर विरोध में होता हैं। क्योंकि ज्ञान से माया का बध्यघातक भाव विरोध होने से माया ज्ञान के विरुद्ध अज्ञान कहलाती है। वेदान्त शक्य से उत्पन्न ब्रह्माकार वृत्ति विद्या कहलाती है, माया उसकी विरोधिनी होने से ही अविद्या कहलाती है। इसी प्रकार विद्या और ज्ञान के एक होने से ज्ञान का विरोधी अज्ञान कहा गया है। इस प्रकार अकार से विरोधी अर्थ होने के कारण माया भावरूप होकर भी ब्रह्म के समान परमार्थरूप और सद्रूप नहीं है वरन् विधिमुख प्रतीति का विषय मात्र होने से व्यावहारिक सद्रूप है। तात्पर्य यह कि प्रागभाव के

लक्षण में यदि अभाव पद का अभाव होता तो माया में उस लक्षण की अतिव्याप्ति होसकती थी, पर, प्रागभाग के लक्षण में अभाव पद की प्रविष्टि होने से अनादि और अन्त वाले अभाव का प्रागभाव कहते हैं।

(२)आदियुक्त अनन्त अभाव को प्रध्वंसाभाव कहते है। क्योंकि मुद्गरादि से घटादि का ध्वंस होजाता है,इसलिए वह ध्वंस आदि वाला तो है ही अनन्त भी हैं जिसकी युक्ति पहले बता चुके है। यदि अनन्त अभाव को प्रध्वंसाभाव कहें अत्यन्ताभाव भी अनन्त है इसलिए उसमें अतिव्याप्ति दोष होगा। अतएव प्रध्वंसाभाव के लक्षण में सादि कहना उचित होगा, क्योंकि अत्यन्ता— भाव अनादि है, सादि नहीं है। यदि सादि अभाव को ही प्रध्वंसाभाव कहें तो सामयिकाभाव भी सादि है, इसलिए वहाँ अतिव्याप्ति होगी। यदि सादि-अनन्त को प्रध्वंसाभाव कहें तो ज्ञान से मोक्ष होता है, इसलिए मोक्ष में अतिव्याप्ति होगी और मोक्ष अभावरूप नहीं, भावरूप है इसलिए-प्रध्वंसाभाव के लक्षण में अभाव कहना होगा।

यद्यपि अज्ञान और उसके कार्य की निवृत्ति को मोक्ष कहते हैं और निवृत्ति का अर्थ ध्वंस भीं है। इसलिए मोक्ष को भी अभाव रूप कहना होगा और प्रध्वंसाभाव के लक्षण में अभाव पद संयुक्त करने पर भी मोक्ष में इस लक्षण को अतिव्याप्ति बनेगी। क्योंकि अलक्ष्य में घटने वाले दुष्ट लक्षण को अतिव्याप्ति दोष से युक्त मानते हैं। यहाँ अज्ञान और उसका कार्य कल्पित होने के कारण उनकी जो निवृत्ति है, वह अधिष्ठान ब्रह्मरूप होने से मोक्ष अभावरूप नहीं, वरन् ब्रह्मरूप होने से भावरूप है मोक्ष के भावरूप होने से मोक्ष में प्रध्वंसाभाव के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं बन सकती, इस प्रकार सादि-अनन्त अभाव प्रध्वंसाभाव कहलाता है।

(३) उत्पत्ति नाश वाले अभाव को सामयिकाभाव कहते हैं, किसी समय पदार्थ हो, किसी समय न हो, उस पदार्थ-रहित समय में उस पदार्थ का सामयिकाभाव होता है, जैसे कि पृथिवी में घटादि कभी होते हैं, कभी नहीं होते, तब घटाभाव समय सम्बन्धी पृथिवी आदि में घटादि का सामयिकाभाव होना मानते हैं। जब घट को पृथिवी से अन्य स्थान में लेजाँय, तब पृथिवी में उसका अभाव उत्पन्न होता है और जब उसे पुनः पृथिवी पर ले आवें तब वह अभाव नष्ट होजाता है इस प्रकार का यह सामयिकाभाव होता है, जो कि उत्पत्ति नाश रूप है।

जैसे, प्रध्वंसाभाव भी उत्पत्ति वाला अभाव है, इसलिए उसमें अतिव्याप्ति दोष के निवारणार्थ सामयिकाभाव के लक्षण में नाश' पद संयुक्त किया गया है। क्योंकि प्रध्वंसाभाव उत्पत्ति वाला होते हुए भी नाश वाला नहीं है। यदि नाश वाले अभाव को ही सामयिकाभाव कहने लगें तो प्रागभाव भी नाश वाला है उसे अतिव्याप्ति दोष से बचाने के लिए सामयिकाभाव के लक्षण में उत्पत्ति पद युक्त किया है। क्योंकि प्रागभाव नाशवान् होने पर भी अनादि है, इसलिए उसकी उत्पत्ति नहीं होती। यदि सामयिकाभाव के लक्षण से अभावपद निकाल दें और केवल उत्पत्ति नाश रूप को ही सामयिकाभाव कहें तो घटादि में उसकी अतिव्याप्ति होजायगी, क्योंकि घटादि पदार्थ उत्पत्ति और नाश वाले हैं। पर घटादि में भावरूपता है और सामयिकाभाव के लक्षण में ही अभाव पद युक्त है, इसलिए अतिव्याप्ति नहीं बनता और इस प्रकार पृथिवी आदि में घटादि का उत्पत्ति नाश-रूप अभाव सामयिकाभाव कहलाता है।

(४) उत्पत्ति-नाश-रहित जो अभाव अन्योऽन्याभाव से भिन्न है, उसे अत्यन्ताभाव कहते हैं। जहाँ जो पदार्थ किसी समय भी न हो, वहाँ उस पदार्थ का अत्यन्ताभाव माना जाता है। जैसे कि

वायु में रूप कभी नहीं होने से वायु में रूप का अत्य ताभाव कहा जाता है। इसी प्रकार स्नेहगुणो जल के अतिरिक्त किसी अन्य पद.र्थ में नहीं होता, इसलिए जिन पदार्थो में नहीं होता, उनमें उसका अत्यन्तभाव होता है । शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आत्मा में अत्यन्ताभाव है। पृथिवीत्व जाति पृथिवी के अतिरिक्त किसी से नहीं होती, इसलिए पृथिवी से भिन्न पदार्थ में पृथिवीत्व का अत्यन्ताभाव होता है। आकाश, काल, दिशा, आत्मा में क्रिया न होने से उनमें क्रिया का अत्यन्ताभाव होता है। पर, पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन में क्रिया कभी होती है, कभी नहीं होती, इसलिए जब उनमें क्रिया नही होती तब न तो अत्यन्ताभाव होता है और न सामयिकाभाव । क्योंकि क्रिया का सामयिकाभाव कभी नहीं होता, केवल द्रव्य का ही होता है। इसलिए इन पाँचों में क्रिया का प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव माना गया है।

संसर्गाभावों का प्रतियोगी से विरोध

इस प्रकार पृथिवी आदि में जहाँ घट कभी होता है, कभी नहीं होता वहाँ अत्यन्ताभाव न होकर सामयिकाभाव ही होता है, क्योंकि अभाव को अपने प्रतियोगी से विरोध रहता है। यदि कभी घट होने, कभी न होने में अत्यन्ताभाव तो नित्य है, इस-लिए घटकाल में घट का अत्यन्ताभाव होगा और तब अत्यन्ता-भाव का अपने प्रतियोगी से भी विरोध नहीं रहेगा । इस प्रकार
भाव का अपने प्रतियोगी से भी विरोध नहीं रहेगा । इस प्रकार
प्रतियोगी से विरोध होने से पृथिवी आदि में घटादि का अत्यन्ता भाव नही हो सकता । जैसे घट उत्पन्न होने से पहले कपाल में घट का प्रागभाव रहता है, जोकि घट रूप प्रतियोगी की उत्पत्ति पर नष्ट होता है । इस प्रकार प्रागभाव का अपने प्रतियोगी से विरोध सिद्ध होता है।

ऐसे ही कपाल में घट का प्रध्वंसाभाव उत्पन्न होने पर भी घट नहीं रहता और घट के रहने तक कपाल में प्रध्वंसाभाव नहीं होता, इसलिए प्रध्वंसाभाव का भी अपने प्रतियोगी से विरोध सिद्ध है। इसी प्रकार घटादि के पृथिवी आदि में संयोग-सम्बन्ध से रहने तक पृथिवी आदि में घटादि के सामयिकाभाव का रहना संभव नहीं, पर, घटादि प्रतियोगी जितने समय पृथिव्यादि में न रहें उतने समय तो उनका सामयिकाभाव रहता ही है। यदि घटादि प्रतियोगी पुनः पृथिव्यादि में विद्यमान होजाँय तो उनका सामयिकाभाव पुनः नष्ट हो जाता है और घटादि के पुनः पृथिव्यादि से पृथक् होने पर उनका सामयिकाभाव पुनः बन जाता है। इसलिए सामयिकाभाव का उत्पत्ति नाश अंगीकार किया गया है और इस भांति अपने प्रतियोगी से सामयिकाभाव का विरोध सिद्ध है। जैसे उक्त तीनों का अपने प्रतियोगी से विरोध है वैसे अत्यन्ताभाव का भी होना चाहिए। इस पर विचार करते हैं—

यदि सर्व अभावों का अपने प्रतियोगी से विरोध हो तो जब पृथिवी में घट स्थित हो तब घट का अन्योऽन्याभाव पृथिवी में नहीं रहना चाहिए। पर, घटयुक्त पृथिवी में घट का अन्योऽन्याभाव का अर्थ भेद, पृथक्ता या भिन्नता है। यहाँ घटयुक्त पृथिवी को घट स्वरूप न मान कर उसे घट से पृथक् समझना चाहिए। इस प्रकार घटयुक्त पृथिवी में घट का अन्योऽन्याभाव रहने से घट के अन्योऽन्याभाव का अपने प्रतियोगी से विरोध नहीं बनता

इसी प्रकार जहाँ पटादि स्थित हों वहाँ उनका अन्योऽन्याभाव रहने से पट के अन्योऽन्याभाव का पटादि से विरोध नहीं बनता। अतएव सर्व अभावों का स्व-स्व प्रतियोगी से विरोध होना नहीं कह सकते वरन् यह कह सकते हैं कि अपने प्रतियोगी

से किसी अभाव का तो विरोध नहीं है और किसी का विरोध नहीं है। यद्यपि प्रागभावादि के दृष्टान्त के अत्यन्ताभाव का निज प्रतियोगी से विरोध सिद्ध करे तो अन्योऽन्याभाव के दृष्टान्त से अत्यन्ताभाव का निज प्रतियोगी से विरोध न होना भी सिद्ध कर सकते हैं, क्योंकि जैसे घट के अधिकरण में अन्योऽन्याभाव रह सकता है, वैसे ही अत्यन्ताभाव भी रह सकता है। तो भी घट के अधिकरण में घट का अत्यन्ता भाव रहता नहीं। क्यों-कि जैसे ऊपर पाँच प्रकार का अभाव बताया गया है, उन सब प्रकारों में अभावत्व धर्म और निषेधमुख प्रतीति तो समान है, तो भी अन्योऽन्याभाव से चार प्रकार के संसर्गाभाव में अनेक प्रकार की विलक्षणताएं हैं। क्योंकि अनुयोगी-प्रतियोगी का बोध कराने वाले एवं भिन्न-भिन्न विभक्ति युक्त पद वाले वाक्य मे संसर्गाभाव को प्रतीति होती है। जैसे कि उत्पन्न होने से पहले 'कपाल में घट नहीं है' वाक्य में अनुयोगी का बोध कराने वाला 'कपाल' पद सप्तम्यन्त एवं प्रतियोगी का बोध कराने वाला 'घट' पद प्रथमान्त होने से प्रागभाव बनता है।

मुद्गरादि के प्रहार से घट के टूट कर न दिखाई देने की स्थिति में भी उसी वाक्य से भिन्न विभक्ति वाले अनुयोगी-प्रति-योगी का बोध कराने वाले पदों की प्रतीति होती हैं। 'भूतल में घट नहीं' वाक्य में भी 'भूतल' पद सप्तम्यन्त और प्रतियोगी का बोध कराने वाला 'घट' पद प्रथमान्त है, परन्तु 'भूतल घट नहीं' इस वाक्य से भूतल में घट का अन्योऽन्याभाव बनता है, उसमें अनुयोगी का बोध कराने वाला 'भूतल' और प्रतियोगी का बोध कराने वाले 'घट' दोनों ही प्रथमान्त हैं। इस प्रकार भिन्न विभक्ति के अन्त वाले पद युक्त वाक्य से उत्पन्न प्रतीति

की विषयता अन्योऽन्याभाव में न होकर संसर्गाभाव में ही बनती है। वैसे ही समान विभक्ति के अन्त वाले पदयुक्त वाक्य से उत्पन्न प्रतीति की विषयता संसर्गाभाव में नहीं होती, वरन् अन्योऽन्याभाव में ही होती है। इस प्रकार चारों प्रकार के संसर्गाभाव में अन्योऽन्याभाव से स्वभाव की विलक्षणता है और अत्यन्ताभाव अपने प्रतियोगी का विरोधी है,क्योंकि अन्योऽन्याभाव के दृष्टान्त से उसका अपने प्रतियोगी विरोध न होना असिद्ध है।

चारों संसर्गाभावो का परस्पर विरोध

चारों प्रकार के संसर्गाभावों में परस्पर विरोध है। जैसे घट के उत्पन्न होने से पहले कपाल में घट का प्रागभाव रहने पर घट का प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव या सामयिकाभाव में से कोई भी नही रहता और कपाल में घट का प्रध्वंसाभाव रहे तब भी अन्य तीनो संसर्गाभाव नहीं रहते। पृथिवी में घट का सामयिकाभाव रहने पर भी शेष तीनों संसर्गाभावों का अभाव रहता है। वैसे ही वायु में रूप का अत्यन्ताभाव रहने पर भी रूप के शेष तीनों अभाव नहीं रहते। पर, प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव के रहते हुए कपालों में घट का अन्योऽन्याभाव रहता है, वैसे ही सामयिकाभाव के रहते हुए भूतल में घट का और अत्यन्ताभाव के रहते हुए वायु में रूप का अन्योऽन्याभाव रहता है। इस प्रकार चारों संसर्गाभावों का तो परस्पर विरोध है, पर, इन चारों से अन्योऽन्याभाव का विरोध नहीं है।

विरोध-अविरोध का विस्तार सहित निरूपण

प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव दोनों की ही अपने प्रतियोगी के उपादान कारण में विद्यमानता है। जैसे कि घट के उत्पन्न होने

से पहले घट के उपादान कारण कपाल में घट का प्रागभाव रहता है और नष्ट होने के अनन्तर घट का प्रध्वंसाभाव भी उसी कपाल में रहता है । इससे घट का प्रध्वंसाभाव का विरोध होना यद्यपि नहीं कह सकते, तो भी इन दोनों अभावों का एक काल में रहना संभव नहीं है, इसलिए प्रागभाव और प्रध्वंसा-भाव का भी परस्पर विरोध स्पष्ट है । वैसे ही सामयिका भाव और अत्यन्ताभाव का भी परस्पर विरोध बनता है ।

यद्यपि अन्योऽन्याभाव का किसी अन्य अभाव से विरोध नहीं है, तो भी चार संसर्गाभावों में जब कोई एक संसर्गाभाव रहता है, तब वहां दूसरा संसर्गाभाव नहीं रहता जैसे उत्पन्न होने से पहले कपाल में घट का प्रागभाव रहे तो घट का प्रध्वंसाभाव नहीं रह सकता, वैसे ही प्रध्वंसाभाव के रहने पर प्रागभाव का अभाव होजाता है । कपाल में घट के सामयिकाभाव तो कभी रहते ही नहीं । यद्यपि कपाल में घट के प्रागभाव और प्रध्वंसा-भाव के रहते हुए भी कपाल में घट का अत्यन्ताभाव भी रहता है तो भी एक प्रतियोगी के दो संसर्गाभाव का न रहना निश्चित है, पर, अन्य संसर्गाभाव को स्थिति अविरोध है । इस प्रकार भूतलादि में घट का और वायु में रूप का अत्यन्ताभाव रहता है तब अन्य तीनों संसर्गाभावों का रहना सम्भव नहीं है ।

यद्यपि संयोग-सम्बन्ध से भूतलादि में घट कभी रहता है पर कपाल के बिना किसी अन्य पदार्थ में समवाय सम्बन्ध से कभी नहीं रहता । अतएव घट का समवाय सम्बन्ध से भूतलादि में अत्यन्ताभाव और संयोग सम्बन्ध से सामयिका दोनों के ही रहने से अत्यन्ताभाव और सामयिकाभाव में परस्पर विरोध नहीं बनता तो भी घट के संयोग सम्बन्ध-अवच्छिन्न सामयिका-भाव का घट के संयोग सम्बन्ध-अवच्छिन्न अत्यन्ताभाव से

विरोध बनता है, जबकि समवाय सम्बन्ध-अवच्छिन्न अत्यन्ताभाव से विरोध नही बनता । इससे यह सिद्ध हुआ कि जब, जिस अधिकरण में, जिसका जिस सम्बन्ध से एक संसर्गाभाव हो तब उस अधिकरण, में उस पदार्थ का उसी सम्बन्ध से संसर्गाभाव नहीं बनता, अन्य से बन सकता है ।

जैसे भूतल में संयोग सम्बन्ध से घट कभी रहता है,इसलिए भूतल में घट का संयोग सम्बन्ध अवच्छिन्न अत्यन्ताभाव कभी नहीं कह सकते, पर, भूतलत्व जाति और भूतल के गुणों में संयोग सम्बन्ध से घट का रहना कभी सम्भव नहीं । क्योंकि संयोग दो द्रव्यों का होता है, और जाति का अथवा द्रव्य और गुण का संयोग कभी नहीं होता । इसलिए भूतलत्व जाति और भूतल के गुण रूपादि में घट का संयोग सम्बंध-अवच्छिन्न अत्यन्ताभाव होता है । वैसे ही भूतलत्व और भूतल के गुणों में भी घट का समवाय-सम्बन्ध से रहना कभी संभव नहीं । क्योंकि कार्यद्रव का अपने उदाहरण कारण में ही समवाय सम्बन्ध हो सकता है इसी प्रकार गुणका अपने गुणी में,जाति का अपने व्यक्ति में और क्रिया का अपने क्रिया वाले में समवाय संबध होता है ।

यद्यपि नैयायिकों के अनुसार परमाणु आदि नित्य द्रव्यों में भी विशेष पदार्थ का समवाय होता है, तो भी विशेष पदार्थ के असिद्ध होने से उसकी कल्पना का कोई प्रयोजन नहीं इसलिए उपादन, गुणी, व्यक्ति और क्रिया वाले में ही क्रमशः कार्य द्रव्य, गुण, जाति और क्रिया का समवाय सम्बन्ध रहना समझना चाहिए । इस प्रकार भूतलत्व और भूतल के गुणों में घट का समवाय सम्बन्ध कभी भी न होकर, कपाल मात्र में घट का समवाय सम्बन्ध बनता है । इससे अपने उपादान कारण कपाल के अतिरिक्त अन्य सब स्थानों में घट का जो समवाय सम्बन्ध अवच्छिन्न अत्यन्ताभाव , वह भूतलत्व जाति और भूतल के

गुण रूपादि में भी रहता है। अत्यन्ताभाव के साथ किसी भी संसर्गाभाव की स्थिति नहीं होती, क्योंकि घट का प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव कपाल के अतिरिक्त कहीं नहीं रहते और घट का सामयिकाभाव भूतल में तो रहता है, पर भूतलत्व जाति और भूतल के गुणों में नहीं रहता।

द्रव्य का समवाय सम्बन्ध अवच्छिन्न सामयिकाभाव तो प्रसिद्ध नहीं पर संयोग सम्बन्ध अवच्छिन्न सामयिकाभाव का प्रसिद्ध होना सम्भव है। क्योंकि कार्य न होने से नित्य द्रव्य तो समवाय सम्बन्ध से किसी में नहीं रहने के कारण नित्य द्रव्य का समवाय सम्बन्ध अवच्छिन्न अत्यन्ताभाव होता है। यद्यपि कार्य द्रव्य का अपने उपादान में प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव रहता है, तो भी वहाँ समवाय सम्बन्ध अवच्छिन्न सामयिकाभाव या अत्यन्ताभाव नहीं रहता। इस प्रकार द्रव्य का समवाय सम्बन्ध अवच्छिन्न सामयिकाभाव का अप्रसिद्ध होना ही बनता है।

वैसे ही जिस द्रव्य में गुण और क्रिया भी समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होकर मिट जाते हैं उसमें भी द्रव्य में गुण और क्रिया के समवाय सम्बन्ध अवच्छिन्न का अभाव रहता है। पर, उत्पन्न होने से पहले गुण और क्रिया का स्वद्रव्य में प्रागभाव रहता है, जबकि नष्ट होने पर प्रध्वंसाभाव रहता है। फिर घट के गुण और क्रिया घट के अतिरिक्त किसी अन्य द्रव्य में कभी नहीं रहते अतः अन्य द्रव्य में उनका समवाय सम्बन्ध अवच्छिन्न सामयिकाभाव नहीं रहता अत्यन्ताभाव रहता है। इसलिए भी गुण और क्रिया का समवाय सम्बन्ध अवच्छिन्न सामयिकाभाव प्रसिद्ध नहीं है। इसी प्रकार गुण क्रिया का सयोग सम्बन्ध अवच्छिन्न सामयिकाभाव भी अप्रसिद्ध है। क्योंकि गुण-क्रिय किसी में भी संयोग सम्बन्ध से कभी नहीं रहते।

गुण-क्रिया के समान जाति का सामयिकाभाव भी प्रसिद्ध नहीं है। क्योंकि जाति भी किसी पदार्थ में संयोग सम्बन्ध से कभी नहीं रहती। इसलिए उसका भी सर्व पदार्थों में संयोग सम्बन्ध अवच्छिन्न अत्यन्ताभाव ही बनता है, सामयिकाभाव नहीं बनता। जाति अपने आश्रयरूप व्यक्ति में सदैव समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहती है इसलिए जाति का स्वव्यक्ति में समवाय सम्बन्ध से अभाव नहीं होता। जैसे कि घटत्वजाति की विद्यमानता घट व्यक्ति में समवाय सम्बन्ध से है, वहाँ घटत्व का न तो अत्यन्ताभाव होता है, न सामयिकाभाव, प्रागभाव या प्रध्वंसाभाव हो। क्योंकि घटत्व नित्य है और प्रागभाव या प्रध्वंसाभाव अनित्य के होते हैं और जहाँ प्रतियोगी कभी न हो वहाँ अत्यन्ताभाव और प्रतियोगी कभी हो, कभी न हो, वहाँ सामयिकाभाव होता है।

नित्य और अनित्य के भेद से द्रव्य दो प्रकार का है। नित्य द्रव्य नौ हैं—आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन, परमाणु रूप पृथिवी, जल, तेज और वायु तथा अनित्य द्रव्य चार है—द्वयणुकादि रूप पृथिवी, जल, तेज और वायु। इनमें जो नित्य द्रव्य हैं, वे तो समवाय सम्बन्ध से कभी किसी पदार्थ में नहीं, रहते,इसलिए इनका समवाय सम्बन्ध अवच्छिन्न सामयिकाभाव भी कहीं नहीं होता, वरन् सर्वत्र समवाय सम्बन्ध अवच्छिन्न अत्यन्ताभाव ही होता है। वैसे ही अनित्य द्रव्य अपने अवयव रूप परमाणु आदि में विद्यमान रहते हैं, पर अपने अवयव के बिना कभी किसी पदार्थ में समवाय सम्बन्ध से नहीं रहते और अवयव में अवयवी का प्रागभाव या प्रध्वंस भाव हो रह सकता है, इसलिए अवयव में अवयवी सामयिकाभाव कभी नहीं रहता। क्योंकि अवयवी के अपने अवयव से भिन्न पदार्थ में कदापि नहीं रह सकने के कारण भी समवाय सम्बन्ध अवच्छिन्न

अत्यन्ताभाव ही रहता है, सामयिकाभाव नहीं। इस प्रकार द्रव्य का उक्त सामयिकाभाव तो अप्रसिद्ध है, पर कार्य द्रव्य का संयोग सम्बन्ध अवछिन्न सामयिकाभाव अवश्य प्रसिद्ध है।

नित्य द्रव्य का स्वभाव 'अवृति' माना जाता है। जो पदार्थ संयोग सम्बन्ध या समवाय सम्बन्ध से किसी में न रहता हो, उसे अवृत्ति कहते हैं। यद्यपि नित्य द्रव्य का संयोग भी दूसरे से होता है और जिसका जिसमें संयोग है, वह उसमें संयोग सम्बन्ध से रहेगा ही! तो भी नित्य द्रव्य का संयोग उसकी वृत्ति का नियामक नहीं हो सकता। इसलिए नित्य द्रव्य का संयोग सम्बन्ध अवच्छिन्न सामयिकाभाव प्रसिद्ध नहीं है। यद्यपि नित्य द्रव्य से संयोग सम्बन्ध या समवाय सम्बन्ध से अन्य पदार्थ रहते हैं, पर नित्य द्रव्य उन अन्य पदार्थों में किसी सम्बन्ध से नहीं रहते, इसीलिए उन्हें अवृत्ति कहा जाता है।

अभिप्राय यह है कि चार प्रकार के संसर्गाभावों का जो अपने-अपने प्रतियोगी से विरोध है, वह एक सम्बन्ध से ही है और वह भी सम्बन्ध से है और अन्योऽन्याभाव का किसी से भी विरोध नहीं, यहां तक कि अपने प्रतियोगी से भी नहीं हैं। पर, विचार पूर्वक देखने से यह प्रतीत होगा कि अपने प्रतियोगी से तो विरोध बनता ही है। इस विषय में अनेक ग्रन्थकार इस प्रकार कहते हैं—

संसर्गाभाव का अपने प्रतियोगी से विरोध है, किन्तु अन्यो—ऽन्याभाव का स्वप्रतियोगी से विरोध न होकर प्रतियोगिता—अवच्छेदक धर्म से विरोध अवश्य है। जैसे कि भूतल में घट होने पर घट का अन्योऽन्याभाव बनता है, क्योंकि घट वाला भूतल घट से भिन्न है। यद्यपि घट के अतिरिक्त अन्य सब पदार्थ घट से भिन्न होने के कारण उन सब पदार्थों में घट का अन्योऽन्याभाव रहता है। इस प्रकार का अन्योऽन्याभाव का विरोध घट से न

होकर, घटत्व से होता है । इसलिए घटोन्योऽन्याभाव का प्रतियोगिता-अवच्छेद घटत्व ही है । भूतलत्वादि नहीं हैं । इसका कारण यह है कि 'घट' पद की शक्ति घटत्वविशिष्ट में है और जिस पद की शक्ति जिस धर्मविशिष्ट में हो उस पद से वही धर्म प्रतीत होता है । इस प्रकार घटान्योऽन्याभाव का प्रतियोगितावच्छेदक घटत्व तो घट में वर्तमान रहता है, पर घट में घटान्योऽन्याभाव नहीं रहता । अतएव घटान्योऽन्याभाव का विरोध घट रूप प्रतियोगी से होकर घटत्वरूप प्रतियोगितावच्छेदक से ही है, क्योंकि वहाँ घटत्व के रहने से घटान्योऽन्याभाव के लिए अवकाश ही नहीं है । इसके अतिरिक्त अन्य सभी संसर्गाभाव अपने-अपने प्रतियोगियों के विरोधी है ।

इस प्रकार अनेक ग्रन्थकारों द्वारा उक्त मत प्रकट किये जाने पर भी उन सब ग्रन्थकारों का मत विवेक दृष्टि से प्रतीत नहीं होता । क्योंकि जैसे अत्यन्ताभाव का अपने प्रतियोगी से विरोध है, वैसे ही अन्योऽन्याभाव का भी है । क्योंकि संयोग सम्बन्ध से जिस भूतल में घट रहता है, उसी भूतल में घट का समवाय सम्बन्ध अवच्छिन्न अत्यन्ताभाव भी विद्यमान रहता है, इसलिए उस अत्यन्ताभाव का भी अपने प्रतियोगी घट से विरोध नहीं होता । पर, यथार्थ में तो भूतल में घटरूप प्रतियोगी जिस सम्बन्ध से हो, उस सम्बन्ध से अवच्छिन्न अत्यन्ताभाव नही होता, परन्तु घट का समवाय सम्बन्ध-अवच्छिन्न अत्यन्ताभाव का रहना तब भी संभव है । इस प्रकार कह सकते हैं कि सर्व अभावों का विरोध अपने प्रतियोगिता-अवच्छेद सम्बन्ध विशिष्ट प्रतियोगी से ही है । जिस सम्बन्ध से पदार्थ का अभाव कहा जाता है, वह सम्बन्ध प्रतियोगिता-अवच्छेदक होता है ।

अत्यन्ताभाव के प्रतियोगिता अवच्छेदक अनेक सम्बन्ध हैं । जैसे पृथिवी में गन्ध की विद्यमानता समवाय सम्बन्ध से है, संयोग

सम्बन्ध से नहीं, इसलिए पृथिवी में गन्ध का संयोग सम्बन्ध अविच्छिन्न अत्यन्ताभाव तथा प्रतियोगिता अवच्छेदक संयोग सम्बन्ध बनता है। वैसे ही जल में गन्ध की विद्यमानता न तो समवाय सम्बन्ध से है और न संयोग सम्बन्ध से ही, वरन् कालिक सम्बन्ध से होने के कारण जल में गन्ध का संयोग सम्बन्ध अवच्छिन्न तथा समवाय सम्बन्ध अवच्छिन्न अत्यन्ताभाव होता है। यहाँ पहले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध संयोग और दूसरे का सम्बन्ध समवाय है।

कालिक सम्बन्ध में प्रत्येक जन्य में सर्व पदार्थों के रहने से द्व्यणुक आदि रूप जल में गन्ध होती है, इसलिए जल में विद्यमान गन्ध के अत्यन्ताभाव का प्रतियोगिता अवच्छेदक सम्बन्ध कालिक नहीं हो सकता। पर, निज द्रव्य में किसी भी पदार्थ के कालिक सम्बन्ध से न रहने के कारण परमाणुरूप जल में गन्ध का कालिक सम्बन्ध अवच्छिन्न अत्यन्ताभाव भी बनता है, जिससे कि परमाणु रूप जल में विद्यमान गन्ध के अत्यन्ताभाव का प्रतियोगिता-अवच्छेद सम्बन्ध कालिक भी होजाता है। इस प्रकार अत्यन्ताभाव के प्रतियोगिता-अवच्छेदक सम्बन्ध अनेक और अन्य अभावों के एक-एक ही होते हैं। जैसे कि कपाल में तो घट का प्रागभाव हैं, पर, अन्यत्र कहीं नहीं है, इसलिए कपाल में घट के प्रागभाव का केवल प्रतियोगितावच्छेदक समवाय सम्बन्ध ही है, अन्य कोई सम्बन्ध संभव नहीं है क्योंकि जिसका जिसमें जो सम्बन्ध अवच्छिन्न प्रागभाव होता है, वह उसमें उसी सम्बन्ध से उत्पन्न होता है।

इसी प्रकार जन्य द्रव्य का ही सामयिकाभाव भी होता है, जो कि संयोग सम्बंध अवच्छिन्न है। इसलिए सामयिकाभाव का भी प्रतियोगिता-अवच्छेदक संबंध एक संयोग ही समझना चाहिए और अन्योऽन्य भाव का भी प्रतियोगिता-अवच्छेदक

एक अभेद सम्बन्ध है, जो कि तादात्म्य सम्बन्ध भी कहा जाता है, इसके विपरीत, जो अन्य सम्बन्धावच्छिन्न अभाव है, वह संसर्गाभाव है। इस प्रकार अन्योऽन्याभाव के प्रतियोगितावच्छेदक अभेद सम्बन्ध से घट निज स्वरूप में ही रहता है और जहाँ घट अभेद सम्बन्ध से नहीं रहता, वहाँ सब स्थानों पर घटान्यो-ऽन्याभाव रहा करता है। इस प्रकार अत्यन्ताभाव के समान अन्योऽन्याभाव का प्रतिययोगी से स्पष्ट विरोध रहने पर भी अन्योऽन्याभाव का प्रतियोगी से विरोध न होने की बात कहना अविवेकपूर्ण ही है। इससे यह सिद्ध होता है कि अपने—अपने प्रतियोगी से सभी अभावों का विरोध है।

पूर्व प्रसंगानुसार भूतलादि में जहाँ कभी घट हैं, कभी नहीं है, वहाँ घट का अत्यन्ताभाव नहीं वरन् सामयिकाभाव ही रहता है। क्योंकि ऊपर निर्णय हो चुका है कि अभाव का अपने प्रति-योगी से विरोध होता है। अब यदि सामयिकाभाव के स्थान पर अत्यन्ताभाव हीं मान लें तो घट के भूतल में संयोग सम्बन्ध से विद्यमान होने पर तो घट का संयोग सम्वन्ध अवच्छिन्न अत्यन्ताभाव नष्ट हो जायगा और घट के भूतल मे उठा लेने पर घट का संयोग सम्बन्ध अवच्छिन्न अत्यन्ताभाव पुनः उत्पन्न हो जायगा। इससे घट के अत्यन्ताभाव के उत्पत्ति—नाश भी मानने होंगे। क्योंकि उत्पत्ति-नाश न मानेंगे तो यह कैसे कहेंगे कि वह कभी है, कभी नहीं ? पर यथार्थ में तो घट के अत्यन्ता भाव के ऐसे उत्पत्ति— नाश हो ही नहीं सकते। क्योंकि संयोग-सम्बन्ध से घट, जहाँ भी नहीं, वही संयोग—सम्बन्धावच्छिन्न अत्यन्ताभाव मानना पड़ेगा और यह भी अंगीकार करना होगा कि घट का अत्यन्ताभाव सर्व पदार्थों में अनेक न होकर एक ही है। क्योंकि न्याय-सिद्धान्तानुसार प्रतियोगी के भेद से अभाव

का भी भेद होता, अधिकरण-भेद से अभाव का भेद संभव नहीं जैसे कि घटाभाव और पटाभाव के भिन्न प्रतियोगी होने से अभाव भी भिन्न होता है।

जैसे संयोग सम्बन्ध से भूतल में घटात्यन्ताभाव है, वैसे संयोग सम्बन्ध से भूतलत्व, घटत्व और पटत्व आदि में घट न होने से संयोग-सम्बन्ध अवच्छिन्न घटात्यन्ताभाव है और अनन्त अधिकरण होने पर भी प्रतियोगी केवल घट है, इसलिये संयोग सम्बन्ध-अवच्छिन्न घटात्यन्ताभाव भी एक ही हो सकता है।

भूतलादि में संयोग सम्बन्ध से घट कभी होता है, कभी नहीं होता, इसलिए घट काल में भूतल में वर्तमान संयोग सम्बन्ध अवच्छिन्न घटात्यन्ताभाव का नाश होता और घट के अपसरण समय में पुन:उत्पन्न होजाता है तब घटत्वादि में घटात्यन्ताभाव नित्य और भूतलादि में उसे उत्पत्ति-नाश वाला बताना नितान्त अयुक्त हैं। इस दोष के निवारणार्थ जहां कभी सयौग सम्बन्ध से घट हो वहाँ घट-रहित समय में घट के अभाव को अनित्य मानकर उसे सामयिकाभाव कहना ही उपयुक्त है। उन तथ्यों से निम्न उपलब्धि हुई—

जहाँ संयोग सम्बन्ध से प्रतियोगी कभी, कभी न हो, वहाँ संयोग सम्बन्ध अवच्छिन्न सामयिकाभाव है, क्योंकि घट के सामयिकाभाव के उत्पत्ति नाश रूप होने से एक घट के भी सामयिकाभाव अनन्त माने जाते हैं और जहाँ जिस सम्बन्ध से घट रूप प्रतियोगी कभी न हो, वहाँ जो तत्सम्बन्धावच्छिन्न सामयिकाभाव होता है, वह उत्पत्तिनाश वाला नहीं है।

प्रतियोगी के एक होने से घट का संयोग सम्बन्ध अवच्छिन्न अत्यन्ताभाव अनन्त अधिकरण होते हुए भी एक होता है। ऐसे

ही समवाय संबंध अवच्छिन्न घटात्यन्ताभाव भी अनन्त अधि-करण होने पर भी एक ही होता है। यदि कोई अधिकरण नष्ट हो जाय तो भी अन्य अधिकरणों में उसी अत्यन्ताभाव के रहने से अत्यंताभाव का नष्ट होना नहीं बनता। इस प्रकार अत्यन्ता-भाव नित्य है, उसमें प्रतियोगी के भेद से ही भेद सभव है।

इसी प्रकार समवाय अथवा संयोग संबंधावच्छिन्न गन्धा-त्यंताभाव का प्रतियोगी गन्ध के एक होते हुए भी प्रतियोगिता अवच्छेदक सम्बध दो है, इसलिए अभाव भी दो ही है। यदि उन्हें दो के स्थान पर एक मी मानें तो पृथिवी में समवाय संबध अवच्छिन्न गन्धात्यंताभाव तो नहीं पर, गन्ध के समवाय सम्बन्ध से होने के कारण संयोग सम्बन्ध अवच्छिन्न गन्धा-त्यंताभाव होता है। इसलिए सम्बन्ध-भेद से अभाव का भेद न माने तो पृथिवी में समवाय सम्बन्ध अवच्छिन्न गन्धात्यन्ताभाव के न होने से सयोग सम्बन्ध अवच्छिन्न गन्धात्यन्ताभाव भो नहीं रह सकता। इससे यह मानना ठीक है कि प्रतियोगी के भेद से अत्यन्ताभाव का भेद होने के समान प्रतियोगिता-अवच्छेदक सम्बन्ध के भेद से तो अत्यन्ताभाव का भेद हो सकता है, पर, अधिकरण के भेद से नहीं हो सकता।

इसके विपरीत, प्रतियोगितावच्छेदक सम्बंध का भेद न हो तो भी काल के भेद से सामयिकाभाव का भेद हो सकता है। जैसे कि जितने काल भूतल में घट संयोग की विद्यमानता न रहे उतने काल पर्यन्त तो घट का संयोग सम्बन्ध अवच्छिन्न साम-यिकाभाव रहता है और भूतल में घट संयोग को विद्यमानता हो जाय तो घट का प्रथम सामयिकाभाव नहीं रहता। इस प्रकार काल-भेद से सामयिकाभाव का भेद होने से सामयिकाभाव और अत्यन्ताभाव की विलक्षणता सिद्ध है।

नवीन तार्किक की मान्यता में शंका समाधान

नये तार्किक सामयिकाभाव को नहीं मानते, उनके अनुसार भूतलादि में घटादि के सामयिकाभाव के स्थान पर घटादि का सर्वत्र अत्यन्ताभाव रहता है। किन्तु अन्य मतानुसार इसमें यह दोष है कि जाति-गुण आदि में घट के संयोग सम्बधावच्छिन्न अत्यन्ताभाव को नित्य और भूय लादि में उसी गटके संयोग सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव को अनित्य मानना समीचीन नहीं, क्योंकि नित्य और अनित्य में परस्पर भेद है और जाति-गुण आदि और भूतल आदि में संयोग संबंध अवच्छिन्न घटात्यंताभाव का भेद न मानने पर परस्पर विरोधी नित्यता और अनित्यता में संकरता आजायगी।

नवीन तार्किकों के अनुसार उक्त शंका का समाधान यह है कि भूतलादि में घट-संयोग सम्बन्ध अवच्छिन्न अत्यन्ताभाव नित्य है, अनित्य नहीं। क्योंकि भूतल में घट का संयोग रहने पर भी वह अत्यन्ताभाव नष्ट नहीं होता, इसलिए वह सदैव अभाव-हीन 'केवलान्वयी' है। यदि शंका करें कि भूतल में घट का संयोग रहने पर भी घटात्यन्ताभाव माने तो घटयुक्त भूतल में संयोग सम्बन्ध से घटके न होने की प्रतीति होनी चाहिए जो कि नहीं होती। इसमें नये तार्किक का यह समाधान है—

घट-रहित भूतल के समान घट संयोग युक्त भूतल में भी घट का संयोग सम्बन्ध अवच्छिन्न अत्यन्ताभाव के रहने पर भी घट-रहित भूतल में संयोग से घट के न होने की प्रतीति होती है परन्तु घटयुक्त भूतल में वैसी प्रतीति का विषय घटात्यन्ताभाव मात्र नहीं, वरन् भूतल विषयक के आधार समय से अन्य

समय और संयोग सम्बन्ध अवच्छिन्न घटात्यंताभाव यह दोनों ही जहाँ संयुक्त रूप से रहें वहाँ संयोग से घट के न होने की प्रतीति होती है। किन्तु जहाँ भूतल में घट संयोग सम्बन्ध से हो, वहाँ अत्यन्ताभाव के नित्य होने के कारण संयोग सम्बन्ध अव-च्छिन्न घटात्यन्ताभाव होने पर भी भूतल विषयक घट उसका आधार समय है, अतिरिक्त समय नहीं। इसलिए घट संयोग सम्बन्ध से रहने पर सयोग में घट के न होने की प्रतीति नहीं होती।

इस प्रकार नवीन तार्किक के अनुसार चाहे प्रतियोगी रहे या न रहे अत्यन्ताभाव सर्वत्र सदा रहता है। पर, अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी घटादि और अनुसार भूतलादि का सम्बन्धी जो आधार समय है, वह प्रतियोगी के बिना नहीं होता, इसीलिए प्रतियोगी के रहने पर प्रतियोगी नहीं है, ऐसी प्रतीति नही होता पर, प्रतियोगी के न रहने पर प्रतियोगी विषयक अनुयोगी के आधार समय से अतिरिक्त समय और अत्यन्ताभाव दोनों ही रहते हैं, इसलिए भूतल में संयोग से घट के न होने की प्रतीति होती है।

इस प्रकार प्राचीन नैयायिकों के सामयिकाभाव के स्थान पर नवीन नैयायिक सर्वत्र अत्यन्ताभाव अंगीकार करते हुए उसे नित्य कहते हैं और प्रतियोगी के रहने पर भी प्रतियोगी के आधार समय से अतिरिक्त समय का होने के कारण अत्यन्ता—भाव की प्रतीति स्वीकार नहीं करते।

उक्त मत का खण्डन

नवीन तार्किक का उपर्युक्त मत युक्त संगत नहीं है, वरन् प्राचीन मत ठीक है। यदि प्रतियोगी के रहने पर भी

अत्यन्ताभाव मान लें तो प्रतियोगी और अभाव में परस्पर विरोध वाले सिद्धान्त से विरोध होगा। यदि कहें कि सहानवस्थानरूप और सहाप्रतीत रूप के भेद से विरोध दो प्रकार का है, उनमें एक अधिकरण में एक समय में जो दो पदार्थ न रहें उनका सहानवस्थान रूप विरोध माना जाता है, जैसा कि आतप और शीत का विरोध होता है। ऐसा विरोध होने पर अभाव प्रतियोगी का नहीं होता, क्योंकि प्रतियोगी के रहने पर अत्यन्ताभाव रहता है। पर, यहाँ जो विरोध हैं, वह अभाव और प्रतियोगी का सहाप्रतीतिरूप ही है। एक समय में और एक अधिकरण में रहने पर भी उनकी प्रतीत न हो, उन्हें सहाप्रतीतिरूप विरोध कहते हैं। क्योंकि यहाँ प्रतियोगी के रहते हुए अभाव प्रतीत नहीं होने से प्रतियोगी अभाव का सहाप्रतीतिरूप विरोध ही बनता है।

नवीन तार्किक का उपर्युक्त समाधान लोक और शास्त्र से विरुद्ध है, क्योंकि अभाव के अभाव को प्रतियोगी कहते हैं। जैसे घटयुक्त भूतल में घटाभाव नहीं, वरन् घटाभाव का अभाव है, वही घट घटाभाव का प्रतियोगी है। इस प्रकार सर्वशास्त्र अभाव के अभाव को प्रतियोगी बताते हैं, पर नये तार्किक की रीति से सब शास्त्रों का यह मत समीचीन नहीं रहेगा। क्योंकि यह तो भूतल में घट का अभाव मान कर घटा-भावका अभाव नहीं कहते। यद्यपि वक्ष्यमाण के अनुसार घटाभाव का अभाव घट रूप नहीं, वरन् घट से भिन्न होता है, तो भी घटाभाव का अभाव घट के समान तो है ही। पर, इनके मतानुसार घटयुक्त भूतल में घटाभाव के भी होने से घटाभाव का अभाव नहीं होता और न दोनों की समनियतता ही होती है।

इसके साथ ही प्रतियोगी और अभाव दोनों कभी समान अधिकरण नहीं होते, यह लोक-प्रसिद्ध है। इस नयी कल्पना से

उस लोक प्रसिद्ध अर्थ की हानि होगी। घट के अधिकरण में ही घट का अत्यन्ताभाव मानने में कोई प्रमाण नहीं है। जहाँ घट नहीं, वहाँ घट न होने की प्रतीति से घट का अत्यन्ताभाव सिद्ध होते हुए भी घटयुक्त भूतल में घट न होने की कभी प्रतीति नहीं होती और न कोई अन्य प्रतीति घटयुक्त भूतल में घटात्यन्ताभाव की ही साधक हो सकती है। अतएव प्रतियोगी स्थान में अत्यन्ताभाव मानना लोक, शास्त्र और प्रमाण विरुद्ध होता है।

इसके विपरीत, घटयुक्त भूतल में तो घटात्यंताभाव के न होने की प्रतीति होती है, तब घटयुक्त भूतल में घट का अत्यन्ताभाव मानना कैसे बन सकता है ? तात्पर्य यह कि अत्यन्ताभाव को केवलान्वयी और नित्य सिद्ध करने के लिए ही घटयुक्तभूतल में घट का अत्यन्ताभाव कहा गया है, पर, ऐसा मान लें तो अत्यन्ताभाव की व्यर्थता बनेगी और वह प्रमाणहीन भी रहेगा। परन्तु, नवीन नैयायिक के अनुसार घट के अत्यन्ताभाव से घट के न होने वाले व्यवहार की सिद्धि ही नही होती, वरन् घट-विषयक भूतल के अधिकरण काल से अतिरिक्त काल द्वारा ही सिद्धि होती है, क्योंकि उनके मत में घटविषयक भूतलाधिकरण काल से अतिरिक्त काल होने पर 'घट नहीं है' ऐसा व्यवहार होता है। पर, जहाँ घटविषयक भूतलाधिकरण काल है, वहाँ अत्यन्ताभाव के होते हुए भी 'घट नहीं है' यह व्यवहार नहीं होता है। इस प्रकार घट के न होने को प्रतीति से घट के अत्यन्ताभाव की सिद्धि हुई और न उस अत्यन्ताभाव से घट न होने के व्यवहार की ही सिद्धि हुई। इससे यही मानना ठीक है कि उक्त मतानुसार घटात्यन्ताभाव व्यर्थ और प्रमाण-रहित है। शब्द प्रयोग 'व्यवहार' और ज्ञान 'प्रतीति' कहलाता है।

इस प्रकार इस मत में अत्यन्ताभाव को नित्य सिद्ध करने के लिए प्रतियोगी वाले स्थान में भी उसका अत्यन्ताभाव मान लें तो मूल में अत्यन्ताभाव को ही क्षति पहुँचती है और जहाँ भूतल में कभी घट रहता हो वहाँ यदि उसका अत्यन्ताभाव भी रहे तो उसे अत्यन्ताभाव कहना ही निष्फल होगा। क्योंकि जहाँ त्रिकाल में भी प्रतियोगी न हो, वहीं अत्यन्ताभाव कहा जा सकता है। इसलिए जहाँ प्रतियोगी कभी हो, कभी न हो, वहाँ त्रिकाल में प्रतियोगी का अभाव न होने से अत्यन्ताभाव तो नहीं उससे भिन्न कोई अभाव संभव है जिसे कि सामयिकाभाव ही कह सकते हैं।

न्यायमते में घट-प्रागभावरूपत्व

न्यायमतमें एक अन्योऽन्याभाव और चार प्रकार का संसर्गाभाव मिल कर पांच प्रकार का अभाव बता चुके हैं, इनमें प्रत्येक अभावाभाव प्रतियोगिक और अभाव प्रतियोगिक के भेद से दो प्रकार का है भाव के अभाव को भाव प्रतियोगिक अभाव और अभाव के अभाव को अभाव प्रतियोगिक अभाव कहते हैं। जैसे कि प्रागभाव कहते हैं। जैसे कि प्रागभाव दो प्रकार का है, उसमें घटादि का कपालादि में प्रागभाव भावप्रतियोगिक है और जैसे भाव रूप पदार्थ का प्रागभाव है, वैसे ही अभाव रूप पदार्थ का भी प्रागभाव है, पर, वह सादि का है अनादि पदार्थ का नहीं। इससे अत्यन्ताभाव, अन्योऽन्याभाव और प्रागभाव के अनादि होने से प्रागभाव बन नहीं सकता और प्रध्वंसाभाव अनन्त होते हुए भी सादि है, इसलिए उसका प्रागभाव स्पष्ट है।

प्रध्वंसाभाव का वह प्रागभाव प्रतियोगी रूप होता है और प्रतियोगी का प्रागरूप। जैसे मुद्गरादि से घट के ध्वंस होने पर

घट का प्रध्वंसाभाव होता है। मुद्गरादि के व्यापार से पहले घटकाल और घट के प्रागभाव काल में न होने से वह सादि है तथा मुद्गरादि के व्यापार से पहले घटध्वंस का जो प्रागभाव है वह घट काल एवं घट के उत्पन्न होने से पहले घट के प्रागभाव काल में भी रहता है। अतएव घटध्वंस का यह प्रागभाव घट-काल में घटरूप है और घट के उत्पन्न होने से पहिले घट का प्रागभावरूप है। इस प्रकार घटध्वंस का प्रागभाव घट और घट के प्रागभाव में ही अन्तर्हित है उससे भिन्न नहीं है, यह साम्प्रदायिक मत है।

उक्त मत का युक्तिपूर्वक खण्डन

उक्त मत भी असंगत है, क्योंकि घट भावरूप और सादि है, जबकि घट का प्रागभाव अभावरूप एवं अनादि है। तब एक ही घटध्वंस का प्रागभाव कभी घटरूप से भावरूप और कभी घट के प्रागभावरूप से अभावरूप कैसे कहा जा सकता है? इसी प्रकार उस प्रागभाव को कभी घटरूप से सादि, कभी घट के प्रागभावरूप से अनादि भी नहीं कह सकते। घटकाल में जब 'कपाल में समवाय से घट है, घटप्रध्वंस नहीं' ऐसा विधि एवं निषेध रूप से जो दो विलक्षण प्रतीति होती हैं,तब उनके विषयमें भी परस्पर दो विलक्षण पदार्थ ही अंगीकार करने चाहिए। जब कि उनके परस्पर विलक्षण मान लेने पर घट घटध्वंस का प्रागभाव रूप नहीं बन सकता। वैसे ही घट के उत्पन्न होने से पहले भी 'कपाल में घट नहीं, घटध्वंस नहीं' ऐसी दो प्रतीति होती है, वे प्रतीति निषेधमुख होते भी विलक्षण हैं। क्योंकि पहली प्रतीति में 'नहीं' शब्द से प्रतीत होने वाले अभाव का प्रतियोगी घट और दूसरी प्रतीति में 'नहीं' शब्द से प्रतीत होने वाले अभाव

का प्रतियोगी घटप्रध्वंस प्रतीत होता है। इस प्रकार प्रतियोगियों का भेद है, इसलिए पहली प्रतीति में घट प्रागभाव का और दूसरी में घटध्वंस प्रागभाव का अभेद नहीं बन सकता। इस भाँति घटकाल हो या घट के उत्पन्न होने से पूर्व काल, दोनों में ही दो प्रकार की प्रतीतियों के अनुसार घटप्रध्वंस का प्रागभाव घट नहीं बन सकता और न घट ही प्रागभाव बन सकता है, क्योंकि किसी विलक्षण वस्तु का प्रागभाव बनना सम्भव नहीं है। इस प्रकार प्रध्वंसाभाव का प्रागभाव भावप्रतियोगिक नहीं, वरन् अभाव प्रतियोगिक ही सम्भव है और सामयिकाभाव भी सादि है, इसलिए उनका प्रागभाव भी अभाव प्रतियोगिक ही होगा।

प्राचीन मत का नवीन मत से खण्डन

इसी प्रकार अत्यन्ताभाव और अन्योऽन्याभाव दोनों के अनादि-अनन्त होने से इनका तो प्रध्वसाभाव नहीं बन सकता और प्रध्वंसाभाव भी अनन्त है, इसलिए उसका प्रध्वंस भी असम्भव है। केवल प्रागभाव और सामयिकाभाव का प्रध्वस ही सान्त होने के कारण बनता है। साम्प्रदायिक रीति से तो प्रागभाव का ध्वंस भो प्रतियोगी-प्रतियोगी तथा प्रतियोगी-प्रतियोगी के ध्वंस के अन्तर्गत ही समझना चाहिए, उनसे भिन्न नहीं, जैसे कि घट के प्रागभाव का ध्वस हो तो वह घटकाल और घट के ध्वस काल, दोनों कालों में रहता है। जब मुद्गरादि से घट नष्ट होजाता है, तब घट प्रागभाव का ध्वंस होते हुए भी घट के न होने से उस समय भी घट प्रागभाग का ध्वंस अपने प्रतियोगी के प्रतियोगी का ध्वंसरूप ही होता है। क्योंकि घटप्रागभावध्वंस के प्रतियोगी घठ प्रागभाव के प्रतियोगी घट का ध्वंस ही घटप्रागभावध्वंस कहलाता है।

उक्त साम्प्रदायिक रीति भी असंगत है, क्योंकि घट सान्त और भावरूप है, जबकि घटध्वंस अनन्त एवं अभावरूप माना गया है। तब एक घट प्रागभाव ध्वंस को सान्त और अनन्त तथा भावरूप और अभावरूप बताना युक्तिसंगत नहीं हो सकता जब घट उत्पन्न होता है तब 'घट उत्पन्न हुआ' और 'घट का प्राग-भाव नष्ट हुआ' ऐसी दो विलक्षण प्रतीति होती हैं। उनमें से पहली प्रतीति का विषय उत्पन्न घट और दूसरी का विषय घट प्रागभाव का ध्वंस है, तब उनका अभेद किसी प्रकार नहीं कह सकते।

वैसे ही मुद्गरादि से घट का ध्वंस होने पर घटध्वंस उत्पन्न हुआ और घट प्रागभाव ध्वंस घट के उत्पत्ति काल में पहले ही उत्पन्न हो चुका था' यह प्रतीति होती है। इसमें वर्तमान समय में घटध्वंस की उत्पत्ति और भूतकाल में घटप्रागभावध्वंस की उत्पत्ति बनती है। वर्तमान में उत्पन्न होने वाले का भूतकाल में उत्पन्न होने वाले से अभेद कभी नहीं हो सकता इसलिए घटप्रा-गभाव का ध्वंस घट के ध्वंस से भिन्न ही हो सकता है। यद्यपि अद्वैत ग्रन्थों ने भी ध्वंस का प्रागभाव और प्रागभाव का ध्वंस तथा घटादि और उनके प्रागभाव प्रध्वंसादि से भिन्न नहीं कहे है। इससे यह मानना ठीक होगा कि प्रागभाव का ध्वंस अभाव प्रतियोगिक प्रध्वंसाभाव होना ही संभव है।

अत्यन्ताभाव की घटस्वरूपता में दोष

अभावप्रतियोगिक अत्यन्ताभाव के अनेक उदाहरण हैं। जैसे कपाल में घट का प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव होने पर भी तन्तु में घट प्रागभाव और घटप्रध्वंसाभाव का अत्यंताभाव होता है। वैसे ही कपाल में घट का सामयिकाभाव और अत्यंताभाव न

होने से कपाल में घट के सामयिकाभाव का अत्यंताभाव तथा घटात्यंताभाव का भी अत्यंताभाव बनता है।

इसी प्रकार कपाल में कपाल का अन्योऽन्याभाव न होकर कपालान्योऽन्याभाव का अत्यंताभाव समझना चाहिए। इसी के समान घट में भी घट का अन्योऽन्याभाव न मानकर घटान्योऽन्याभाव का अत्यंताभाव मानना योग्य है। पर, अन्योऽन्याभाव का अत्यंताभाव भिन्न न होकर अन्योऽन्याभाव का प्रतियोगिता अवच्छेदक धर्मरूप ही होता है। जैसे कि घटान्योऽन्याभाव का प्रतियोगिता अवच्छेदक धर्म घटत्व का केवल घट में रहना संभव है तथा घटान्योऽन्याभाव का अत्यंताभाव भी घट में ही रह सकता है, क्योंकि घटान्योऽन्याभाव के घट से भिन्न जितने भी पदार्थ हैं, उन सब में रहने से घटान्योऽन्याभाव का अत्यंताभाव घट से भिन्न किसी भी पदार्थ में नहीं रह सकता।

प्राचीन नैयायिकों का उक्त मत भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'घट में घटत्व समवाव सम्बंध से है, ऐसी प्रतीति का विषय घटत्व और 'घट में घटान्योऽन्याभाव नहीं' ऐसी प्रतीति का विषय घटान्योऽन्याभाव का अत्यंताभाव होता है। अतएव अन्योऽन्य भाव का अत्यंताभाव अन्योऽन्याभाव का प्रतियोगिता-अवच्छेदक धर्मरूप न होकर उससे भिन्न अर्थात् अभाव रूप होना ही संभव है।

प्राचीन द्वारा प्रतिपादित का नवीन द्वारा खण्डन

प्राचीन नैयायिकों ने अत्यन्ताभाव के अत्यन्ताभाव को भी पहले अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी रूप में माना है। उनके अनुसार जहाँ घट कभी न हो, वहाँ घट का अत्यन्ताभाव और जहाँ घट हो वहाँ घट के अत्यन्ताभाव का अभाव माना है, इसलिए

घट के अत्यन्ताभाव का अत्यन्ताभाव बनता है। इस प्रकार घटात्यन्ताभाव का अत्यन्ताभाव प्रथम अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी घट के समनियत है, इसलिए घट से पृथक न होकर, घटरूप ही है। यदि उसे घटरूप न मानकर पृथक् मानें तो अत्यन्ताभावों की अनवस्था का दोष उत्पन्न होगा। क्योंकि पहले अत्यन्ताभाव का अत्यन्ताभाव दूसरा दूसरे का तीसरा, तीसरे का चौथा, इस प्रकार पृथक् मानते रहने से अन्त्याभावों की श्रृंखला कभी समाप्त ही न हो सकेगी। इसके विपरीत दूसरे अन्त्याभाव को पहले का प्रतियोगी मान ले तो कोई दोष नहीं बनेगा। इस प्रकार दूसरे अत्यन्ताभाव को घटरूप मान लिया तो उसका अन्त्याभाव घट का ही अन्त्याभाव होगा। इस प्रकार प्राचीन नैयायिकों के अनुसार अन्यन्ताभाव का अत्यंताभाव पहले अत्यंताभाव का प्रतियोगी है।

पर, नवीन नैयायिक इसमें यह दोष बताते हैं कि भूतल में घट होने पर 'भूतल में घट है, घटात्यंताभाव नहीं है' यह दो विलक्षण प्रतीति होती हैं और विधि एवं निषेध वाली प्रतीतियों का एक विषय हो नहीं सकता, इसलिए विधि वाली प्रतीति का विषय घट और निषेध वाली प्रतीति का विषय घटात्यताभाव है, जो कि घटरूप नहीं, घट से पृथक् अभावरूप है। इसके अतिरिक्त प्राचीनों ने दूसरे अत्यंताभाव को भिन्न मानने में जो अनवस्था दोष बताया है, उसका निराकरण नवीन नैयायिक इस प्रकार करते हैं।

प्राचीनों ने दूसरे अत्यन्ताभाव को प्रथम अत्यंताभाव के प्रतियोगी के समनियत और तीसरे अत्यंताभाव को पहले के समनियम माना है तथा प्रतियोगी के समनियत दूसरे अत्यंताभाव के समनियत चौथी को और तीसरे के समानयत पांचवें को माना है इस प्रकार युग्म सख्यक सर्व अत्यंताभाव दूसरे के

समनियत और विषम संख्या के सर्व अत्यन्ताभाव पहले के सम-नियत अंगीकार किया है। वहाँ दूसरे अत्यंताभाव के पहले के समनियत होते हुए भी घटात्यंताभाव का अभाव घट से पृथक् है और पहले के समनियत जो तीसरा अत्यंताभाव है, वह पहले से भिन्न नहीं है। क्योंकि 'घट नहीं है' इस निषेधमुख प्रतीति का विषय पहले अत्यंताभाव के होने से घटात्यंताभाव के अभाव न होने की निषेधमुख प्रतीति का विषय तीसरा अत्यंताभाव है, इसलिए तीसरे से पृथक् नहीं हो सकता। वैसे ही 'घट का अत्यंताभाव नहीं है' इस निषेधमुख प्रतीति का विषय दूसरा अत्यंताभाव है और 'तीसरा नहीं है' इस प्रकार चौथा भी निषेधमुख प्रतीति का विषय होने से यद्यपि चौथा अत्यंताभाव दूसरे के समनियत होते हुए भी भावरूप घट से भिन्न अभावरूप ही है। इस प्रकार पहले और दूसरे के अन्तर्गत सर्व अभावों के आजाने पर न तो अनवस्था दोष रह हो रहता है और न प्रतीति के विरुद्ध समनियत की कल्पना ही रहती। प्राचीनों के अनुसार अभाव और उसके प्रतियोगी के अनुसार अभाव और उसके प्रतियोगी के अन्तर्गत सभी अत्यंताभाव आजाते है। इसलिए एक ही अभाव रहता है, जबकि नवीनों के अनुसार दो अभाव हैं, भाव-अभाव की एकता नहीं हो सकती। इस प्रकार प्राचीनमत अप्रमाण और नवीन मत अनुभव के अनुसार होने से निर्दोष है।

अभाव प्रतियोगिक अन्योऽन्याभाव के उदाहरण

भेद ही अन्योऽन्याभाव है और भेद निज स्वरूप में न रहकर स्वरूप से अतिरिक्त अन्य ,सब में रहता है। इसलिए प्रागभाव से भिन्न पदार्थों में उसका अन्योऽन्याभाव है। चतुर्विध संसर्गाभाव एवं सर्व भावपदार्थ अन्योऽन्याभाव रूप नहीं, वरन् उससे भिन्न हैं और जो जिससे भिन्न है, उसमें उसका अन्योऽन्याभाव

होता है। इससे चतुर्विध संसर्गाभाव और सभी भाव पदार्थों में अन्योऽन्याभाव का अन्योऽन्याभाव सिद्ध है। इस प्रकार पाँचों प्रकार के अभावों द्रव्य का ही 'सामयिकाभाव होने से इसका अभाव प्रतियोगिक होना सम्भव नहीं है और दूसरे चार अभावों के अभाव प्रतियोगिक उदाहरण कहे हैं। प्राचीनों के अनुसार अभावप्रतियोगिक अभाव अनेक स्थानों पर भाव रूप हैं। इस प्रकार अभाव प्रतियोगिक अभाव स्पष्ट किया गया और भाव प्रतियोगिक अभाव तो वैसे ही अत्यन्त प्रसिद्ध है। यह न्याय रीति से अभाव का निरूपण हुआ।

न्याय में वेदान्तविरुद्ध शंका

अभाव के उपर्युक्त निरूपण में वेदान्त से जितने अंश में विरोध है, बताया जाता है। कपाल में घट के प्रागभाव को अनादि कहना प्रमाण विरुद्ध है। क्योंकि घट प्रागभाव अनुयोगी सादि है और प्रतियोगी घट भी सादि ही है, तो प्रागभाव कैसे अनादि होगा? यदि माया में सब कार्यों के प्रागभाव को अनादि कहें तो माया के अनादि होने से ऐसा होना संभव भी है। पर, माया में सब कार्यों का प्रागभाव नहीं मान सकते, क्योंकि घट केवल कपाल में उत्पन्न होता है और पट केवल तन्तु में, इसलिए नैयायिकों के अनुसार घट का प्रागभाव कपाल में है, तन्तु में नहीं है और पट का प्रागभाव तन्तु में है, कपाल में नहीं हो सकता। क्योंकि जिसमें जिसका प्रागभाव हो उसी में उसकी उत्पत्ति होती है। न्यायमत में प्रागभाव का अंगीकार इसीलिए है कि सब में सब की उत्पत्ति असिद्ध है।

उसके अनुसार प्रागभाव का मुख्य प्रयोजन यह है कि घट पटादि कपाल या तन्तु आदि के परिणाम नहीं वरन् घट का

कपाल में और पट का तन्तु में आरम्भ होता है । यदि वे परिणाम को प्राप्त हुए होते तो घटाकार होने पर कपाल और पटाकार होने पर तन्तु भी नहीं रहता । इसके विपरीत, परिणामवाद में उपादान कार्यरूप होजाने से कार्य उत्पन्न होने पर उपादान कारण ही नहीं रहता । इसलिए घट रूप होने के पश्चात् कपाल घट की सामग्री नहीं रह सकता । पर, आरम्भवाद में उपादान अपने स्वरूप को कभी नहीं छोड़ता, वरन् यथावत रह कर कार्यरूप से पृथक् वस्तु उत्पन्न करता है । इसमें यह आपत्ति है यदि सामग्री के यथावत् रहे तो घट के उत्पन्न होने पर पुनः घट उत्पन्न होना चाहिए । और वैसा मानने पर जैसे पहले घट के उत्पन्न होने पर 'घट उत्पन्न होता है' यह व्यवहार होता है, वैसे ही उस उत्पत्ति के अनन्तर भी यही व्यवहार होना चाहिए । सिद्ध घट का आधार काल घट के उत्पत्तिकाल से बाद का है, पर,सिद्ध घट के आधारकाल में 'घट उत्पन्न हुआ' यही व्यवहार होता है, क्योंकि 'घट उत्पन्न होता है' यह व्यवहार उत्पन्न होने के क्षण में ही होता है, दूसरे क्षण में नहीं होता । यदि उत्पन्न की उत्पत्ति मानें तो घट के होने पर भी कोई वर्तमान उत्पत्ति होगी, ऐसा व्यवहार बनेगा । पर, उत्पन्न की पुनः उत्पत्ति कहीं नहीं देखी जाती, इससे यह मान्यता बनती है कि घटोत्पत्ति को किसी सामग्री का अभाव होगया है । वहाँ न्यायमतानुसार कपालादि अन्य सामग्री के होते हुए भी घट का प्रागभाव नहीं रहता वरन् घटोत्पत्ति के क्षण में ही वह होजाता है । प्रागभाव के विषय में नैयायिकों का ऐसा ही कहना है । उनके अनुसार प्रागभाव का मुख्य प्रयोजन यही है ।

माया में घटादि के प्रागभाव का पहला प्रयोजन असंभव है, क्योंकि घटादि का साक्षात् उपादान कपालादि है, माया नहीं ।

यद्यपि सिद्धान्तानुसार माया सब पदार्थों के लिए साक्षात् उपादानरूप है, क्योंकि उसे किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं होती इसलिए माया को प्रागभावादि किसी कारण की अपेक्षा न होने से माया में किसी का प्रागभाव भी नहीं होता। तो भी कपाल में घट उत्पन्न होता है, पट नहीं होता और पट तो तन्तु में ही होता है, इस निमित्त से ही प्रागभाव को हेतु कहना नहीं बनता। क्योंकि कपाल में घट की कारता है, तन्तु में नहीं हो सकती, वैसे ही तन्तु पट की कारणता होती है, इस प्रकार का कारण-कार्य ज्ञान ही अर्थ सिद्ध करा सकता है।

कारणता का ज्ञान अन्वय-व्यतिरेक से ही होता है और कपाल के अवन्य-व्यतिरेक से घट का ही अन्वय-व्यतिरेक हो सकता है, पट का नहीं हो सकता। इससे सिद्ध होता है कि कपाल में घट की कारणता है, पटादि की नहीं हैं। इसलिए पटादि की व्यावृत्ति के ही निमित्त कपाल में घट का प्रागभाव नहीं माना जा सकता। फिर 'कपाल में घट की उत्पत्ति के बाद पुनः घटोत्पत्ति हो' यह दोष परिणानवाद में नहीं बनता, क्योंकि अपने स्वरूप में स्थित कपाल हो घटोत्पत्ति में समर्थ है, कार्यरूप में प्राप्त कपाल से घट की उत्पत्ति नहीं हो सकती, इसलिए परिणामवाद में प्रागभाव की व्यर्थता है।

वैसे तो आरम्भवाद में भी प्रागभाव व्यर्थ ही है। क्योंकि 'घट की उत्पत्ति के पश्चात् पुनः घट उत्पन्न होना चाहिए' इस आपत्ति के प्रति यह प्रश्न है कि वह उत्पत्ति घटान्तर की होनी चाहिए या जो घट जिस कपाल में उत्पन्न हुआ उसी की पुनरोत्पत्ति ? यदि यह कहें कि अन्य घट की होनी चाहिए तो ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि जिस कपाल में जिस घट की

उत्पत्ति है, उस कपाल में उसी घट को कारणता हो सकती है और घटान्तर की कारणता कपालान्तर में होने से अन्य घट की उत्पत्ति हो सकती है, इसमें आपत्ति नहीं है। क्योंकि नैयायिकों ने भी भिन्न-भिन्न कपालों में भिन्न-भिन्न घटों का प्रागभाव माना है, पर, एक कपाल में घटान्तर का प्रागभाव नहीं माना। यदि कहो कि प्रथम उत्पन्न घट की पुनः उत्पत्ति होनी चाहिए तो यह नहीं हो सकता। क्योंकि कपाल में एक घट उत्पन्न हो चुका तो पुनः उत्पत्ति का प्रतिबन्ध पहली उत्पत्ति से होने के कारण पुनः उत्पत्ति की प्रतीति सम्भव नहीं और इस प्रकार प्रागभाव भी व्यर्थ है।

यदि उत्पत्ति के स्वरूप को विचारपूर्वक देखें तो यह कहना ही असंगत है कि पुनः उत्पत्ति होती है। क्योंकि आद्य क्षण से सम्बन्ध को उत्पत्ति होती है, जैसे कि घट का आद्य क्षण से सम्बन्ध ही घट कीं उत्पत्ति है। तात्पर्य यह कि घट के अधिकरण भूत अनन्त क्षणों में से घट के अधिकरण दूसरे आदि क्षण में घटाधिकरण पहले क्षण का ध्वंस रहता, किन्तु पहले क्षण में घटाधिकरण वाले क्षण का ध्वंस नहीं रहता। अतएव घटाधिकरण क्षण के ध्वंस का अनधिकरण जो घट का पहला क्षण है, उसी से सम्बन्धित घट की उत्पत्ति कहीं गई है। इस प्रकार उत्पन्न की पुनः उत्पत्ति कहना ही संगत नहीं है। यथार्थ में तो घटोत्पत्ति से पहले कपाल में समवाय से घट न होने विषयक प्रतीति का विषय कपाल में घट का सामयिकाभाव ही हो सकता है और 'कपाल में घट होगा' ऐसी प्रतीति का विषय भविष्यत काल होने के कारण प्रागभाव की सिद्धि नहीं हो सकती।

यदि नैयायिक लोग अपने शास्त्र संस्कारों से प्रागभाव मानें ही तो वह अनादि होकर सादि हो सकता है। क्योंकि अन्य मतों

में तो सर्व अभाव का भेद अधिकरण-भेद से है, पर, नैयायिकों के अनुसार अभाव का भेद अधिकरण के भेदसे न मानकर प्रतियोगी के भेद से अंगीकार किया है। इससे न्याय में अनेक अधिकरणों में एक प्रतियोगिक अभाव के एक होते हुए भी प्रागभाव तो अधिकरण भेद से भिन्न ही माना है। क्योंकि घट का प्रागभाव घट के उपादान कपाल में है और जिस कपाल में जो घट हो, उसमें उसी घट का प्रागभाव रहता है। इस प्रकार एक प्रागभाव का एक ही अधिकरण में रहना बनता है और वह अधिकरण कपलादि अनेक और सादि हैं, तब अनेक अधिकरणों में वर्तमान अनेक प्रागभाव कभी भी अनादि नहीं हो सकते।

यदि अनादि अधिकरण में एक ही प्रागभाव होता तो अनादि कहा जा सकता था। पर, यहाँ तो अनेक अधिकरणों में एक प्रागभाव होता नहीं, इसलिए एक-एक कपाल में विद्यमान एक-एक घट प्रागभाव को अनादि नहीं कह सकते।

यदि कहो कि कपाल के उत्पन्न होने से पहले कपाल के अवयवों में और उससे पहले अवयवों के अवयवों में प्रागभाव के रहने से अनादि परमाणु में घटप्रागभाव अनादि है तो यह भी नहीं कह सकते। क्योंकि नैयायिकों के अनुसार प्रागभाव अपने प्रतियोगी के उपादान में ही रहता है। कपाल के अवयव उसी के उपादान कारण हो सकते हैं, घट के उपादान कारण नहीं हो सकते। इसलिए कपाल के अवयवों में उसी का प्रागभाव हो सकता है, क्योंकि घट का प्रागभाव कपाल के अवयवों में नहीं, वरन् कपाल में ही होता है। इस प्रकार परमाणु द्वयणुक के ही उपादान हैं, अतः परमाणु में द्वयणुक का ही प्रागभाव रह सकता है उससे आगे के त्र्यणुकादि घट पर्यन्त के प्रागभाव उसमें नहीं हो सकते।

यदि परमाणु में द्वयणुक से भिन्न पदार्थों का भी प्रागभाव मान लें तो परमाणु से भी घट उत्पन्न होजाना चाहिए। जैसे परिणामवाद में कारण और कार्य में भेद नहीं माना है, वैसे ही आरम्भवाद में भी भेद न माना गया होता तो परमाणु में द्वय्णुक की प्रागभाव ही घट तक की कार्य-शृंखला का प्रागभाव हो सकता था, जिससे कि परमाणु में घटादि का प्रागभाव कह कर प्रागभाव को अनादि मान सकते थे। पर, आरम्भवाद में कारण और कार्य को परस्पर अत्यन्त भेद माना है, इसलिए कपाल के अवयवों में घट का प्रागभाव नहीं बन सकता। ऐसे ही परमाणु में द्वय्णुक के भी किसी कार्य का प्रागभाव नहीं बनता, इसलिए सादि कपालादि में घटादि के प्रागभाव को अनादि कहना सर्वथा विरुद्ध है।

अनन्त प्रध्वंसाभाव का अनंगीकार

इसी प्रकार नैयायिकों के अनुसार प्रध्वंसाभाव के भी अपने प्रतियोगी के उपादान कारण में रहने से घट का ध्वंस अनन्त कहना भी संगत नहीं बैठता। क्योंकि घट ध्वंस के अधिकरण कपाल के नाश से घट ध्वंस का नाश होता है, जिसकी मान्यता में न्यायानुसार यह दोष है कि यदि घटध्वंस मानें तो घट का उज्जीवन होना चाहिए, क्योंकि जिस समय घटध्वंस का ध्वंस हो उस समय घट ध्वंस और प्रागभाव दोनों का ही अनाधार होगा, अतएवं वह घट का आधार समय होना चाहिए।

परन्तु उक्त दोष भी समीचीन नहीं। क्योंकि प्रागभाव को अनादि और प्रध्वंसाभाव को अनन्त मानने पर ही उक्त नियम में अनुकूलता हो सकती है। पर, सिद्धान्तानुसार प्रागभाव के सादि होने से प्रागभाव के उत्पन्न होने से पहले घट के प्रागभाव

और प्रध्वंसाभाव का अनाधार है। अथवा मुख्य सिद्धान्त में प्राग-भाव की सर्वथा अमान्यता होने से घटोत्पत्ति से पहिले समय में घट के प्रागभाव, प्रध्वसाभाव और घटरूप प्रतियोगी, तीनों का ही अनाधर है। इस प्रकार प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव के अना-धार काल का प्रतियोगी का आधार होना नहीं बनता और इससे घटध्वंस का ध्वंस बनने से घट का उज्जीवन भी सम्भव नहीं है।

अन्योऽन्याभाव की अनादिता की मान्यता

इसी प्रकार सादि-सान्त अधिकरण में अन्योऽन्याभाव भी सादि-सान्त है। जैसे घट में पट के अन्योऽन्याभाव का अधिकरण घट सादि-सान्त है इसलिए घट में वर्तमान पटान्योऽन्याभाव भी सादि-सान्त होता है। यद्यपि अनादि अधिकरण में अन्योन्याभाव की अनादित है, तो भी वह सान्त ही है। जैसे ब्रह्म में जीव का भेद अन्योन्याभाव है और उसके अधिकरण ब्रह्म के अनादि होने से अन्योऽन्याभाव भी अनादि तो होता है। पर, ब्रह्मज्ञान से अज्ञान निवृत्त होकर भेद मिटता है, इसलिए वह सान्त भी है। क्योंकि अद्वैतमतानुसार ज्ञान से अनादि पदार्थों की भी निवृत्ति मान्य है, इसलिए यह छः पदार्थ स्वरूप से अनादि कहे हैं—(१) शुद्ध चेतन, (२) जीव, (३) ईश्वर, (४) अविद्या, (५) अविद्या और चेतन का सम्बन्ध तथा (६) इन अनादि का पारस्परिक भेद। इनमें प्रथम जो शुद्ध चेतन है, उसके अतिरिक्त अन्य पाँचों की निवृत्ति ज्ञान से अंगीकार की गई है।

इस विषय में शंका हो सकती है कि अद्वैत मत में जीव-ईश्वर मायिक अर्थात् माया के कार्य कहे गए हैं और यदि जीव

और ईश्वर माया के ही कार्य हैं तो इन्हें अनादि कैसे कह सकते हैं ?

इसका समाधान यह है कि 'मायिक' पद का अर्थ माया के कार्य नहीं वरन् जीव और ईश्वर की स्थिति माया के अधीन है यह अर्थ है। क्योंकि जीव-ईश्वर की स्थिति माया की स्थिति के बिना सम्भव नहीं, इसलिए इन्हें मायिक और माया के समान अनादि समझना चाहिए।

इस प्रकार अन्योऽन्याभाव अनादि होकर भी अनन्त नहीं है वैसे ही अत्यन्ताभाव भी अविद्या का कार्य एवं नाशवान् है। इस भाँति अद्वैतमत में सर्व अभाव अनित्य एवं नष्ट होने वाले हैं और सर्व अनात्म पदार्थ माया के कार्य होने से उनमें नित्यता भी नहीं हो सकती। यद्यपि अद्वैतमत में माया को भावरूप मानने से, माथा में अभावरूप पदाथ की उपादानता नहीं हो सकती। क्योंकि उपादान तो सदा कार्य का ही सजातीय होता है। पर, माया तो अभाव की सजातीय नहीं है तो भी माया सर्व अभावों की उपादान है। इस प्रकार सर्व अभाव माया के कार्य तथा असत्य हैं।

कोई एक अद्वैतवादी एक अत्यन्ताभाव को ही अंगीकार करते हैं, पर, अन्य सब अभावों को अलीक बताते हैं। जैसे कि कपाल में घट का प्रागभाव अलीक है, वैसे ही मुद्गरादि से टूटा हुआ कपाल से पृथक् घटध्वंस भी अलीक ही है। इस प्रकार घट से असम्बन्धित भूतल घट का सामयिकाभाव माना है। इस भाँति अपने अधिकरण से भिन्न हुआ सामयिकाभाव भी नहीं रहता। इससे अन्य कोई अभाव नहीं ठहरता, वरन् एक अत्यन्ताभाव ही माना जाता है।

अभाव-प्रमा के हेतु प्रमाण का निरूपण

अभाव का ज्ञान, भ्रमरूप और प्रमा के भेद से दो प्रकार का है। भ्रमज्ञान के भी प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेद हैं। भूतल से इन्द्रिय-संयोग के होने पर भी घटयुक्त भूतल में घट की उपलब्धि न होने से घटाभाव का भ्रम प्रत्यक्षज्ञान के विषय से होता है। क्योंकि प्रत्यक्ष भ्रम की अपेक्षा अन्यथाख्याति में नहीं होती। पर उस मत में अन्य पदार्थ का अन्य रूप से होने वाला ज्ञान ही अन्यथा ख्याति है। इसलिए अन्यरूप से जिस पदार्थ का ज्ञान, हो, उसी की अपेक्षा रहती है। जैसे कि रस्सी का सर्पत्व रूप से ज्ञान होने में अन्यथाख्याति में रस्सी की अपेक्षा तो है, पर उस ज्ञान में जिस विषय का आकार प्रतीत हो, उसकी अपेक्षा नहीं है।

परोक्ष-भ्रम में विषय की अनपेक्षा

सिद्धान्त के अनुसार प्रत्यक्ष भ्रम होने पर भ्रमज्ञान के समान अनिर्वचनीय विषय उत्पन्न होता है। अतएव व्यावहारिक घट-युक्त भूतल में प्रातिभासिक घटा की उत्पत्ति अनिर्वचनीय है। क्योंकि व्यावहारिक घट का विरोध व्यावहारिक घटाभाव से तो है, पर, प्रातिभासिक घटाभाव से नहीं है। अतएव व्यावहारिक घटयुक्त भूतल में अनिर्वचनीय घटाभाव और उसका अनिर्वचनीय ज्ञान दोनों का उत्पन्न होना कहा है, जहाँ कि घटाभाव का प्रत्यक्षभ्रम होता है। किन्तु विप्रलम्भक वाक्य द्वारा अंधे का घटयुक्त भूतल में घटाभाव का ज्ञान परोक्ष भ्रम ही है और जहाँ परोक्ष भ्रम है वहाँ प्रतिभासिक अभाव उत्पन्न न होकर अभावाकार वृत्तिरूप ज्ञान ही उत्पन्न होता है।

सिद्धान्त में अन्याख्याति की मान्यता

सिद्धान्त मत में जहाँ परोक्षभ्रम के समान प्रत्यक्ष भ्रम हो, वहाँ भी प्रातिभासिक अभाव उत्पन्न न होकर अभाव का अन्या-ख्यातिरूप से भ्रम होता है। क्योंकि रस्सी आदि में सर्पादि के भ्रम को अन्यथाख्याति मान लें तो रस्सी में सर्पत्वधर्म की जो प्रतीति अन्यथाख्याति रूप से कही है, वह नहीं हो सकती। क्योंकि इन्द्रिय का संबंध रस्सी और रस्सीत्व से है, सर्प के बिना सर्पत्व से तो है नहीं और फिर विषय संबंध के बिना इन्द्रियजन्य ज्ञान हो भी नहीं सकता। अतएव रस्सी की सर्पत्व रूपसे प्रतीति को अन्यथाख्याति नहीं मान सकते। इसलिए प्रत्यक्ष भ्रम के स्थल में अन्यथाख्याति को न मानकर अनिर्वचनीय ख्याति का अंगीकार होता है। किन्तु, जहाँ अधिष्ठान और आरोप्य दोनों ही इन्द्रिय से सम्बन्धित हों वहाँ उक्त दोष नहीं बनता।

ऐसे ही घटयुक्त भूतल में घटाभाव का भ्रम होने पर तथा आरोप्य-अधिष्ठान के सन्निधान से अधिष्ठान के समान आरोप्य से भी इन्द्रिय-संबंध बनता है। क्योंकि इसमें अधिष्ठान भूतल और आरोप्य घटाभाव है, जो कि भूतल में न होता हुआ भी भूतल में वर्तमान भूतलत्व और रूपस्पर्शादि गुणों में रहता है। क्योंकि भूतलत्व और भूतल के गुणों में घट का संयोग कदापि नहीं होता। इस प्रकार संयोग सबंध से भूतल में घट होने पर भी भूतल के गुण और भूतलत्व में संयोग संबंध से घट न होने के कारण घटात्यन्ताभाव ही है। इसमें भूतल अधिष्ठान, घटात्यताभाव आरोप्य और भूतलत्व जाति एवं भूतल के गुणों का भूतल से स्वाधिकरण समवाय संबंध होता है इस प्रकार अधिष्ठान-आरोप्य के परस्पर संबंध से अधिष्ठान होने के कारण

भूतलत्व में वर्तमान और भूतल के गुणों में विद्यमान व्यावहारिक घटात्यंताभाव की प्रतीति भूतल में होती है, इसलिए अभाव का भ्रम अन्यथाख्याति रूप समझना चाहिए। प्रातिभासिक अभाव की उत्पत्ति की मान्यता यहाँ निष्फल है।

अभाव प्रमा की सामग्री

इस प्रकार अभाव प्रमा के प्रत्यक्ष और परोक्ष के रूप में दो भेद हैं। न्यायमतानुसार इन्द्रियजन्य ज्ञान अपरोक्ष ज्ञान और उससे भिन्न परोक्षज्ञान होता है। इन्द्रिय का अभाव से विशेषणता या स्व सम्बद्ध विशेषता का सम्बन्ध होने पर अभाव की भी प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रमा होती है। जैसे कि शब्दाभाव का श्रोत्र से विशेषता सम्बन्ध होने पर शब्दाभाव की श्रोत्रजन्य प्रत्यक्ष प्रमा कही जाती है। इसी प्रकार नेत्र सम्बद्ध भूतल में अभाव का विशेषणता सम्बन्ध हो तो वह घटाभाव की नेत्रजन्य प्रत्यक्ष प्रमा होगी। किन्तु पुरुष-रहित स्थाणु में पुरुष का भ्रम होने पर भी पुरुषाभाव से नेत्र का स्वसम्बद्ध विशेषणता सम्बन्ध होने पर भी पुरुषाभाव प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। क्योंकि अभाव की अपरोक्षता में इन्द्रिय करण और अनुपलम्भ प्रतियोगी का सहकारी होते हुए भी स्थाणु में पुरुष भ्रम होने पर प्रतियोगी का अनुपलम्भ नहीं बनता, वरन् उस अवस्था में भ्रमरूप प्रतियोगी पुरुष का उपलम्भ ही होता है। जैसे कि घटादि द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष में करण चक्षुरिन्द्रिय है तो भी अँधेरे में घट का चाक्षुष प्रत्यक्ष संभव नहीं होने से चक्षुजन्य चाक्षुषत्यक्ष में आलोक का संयोग सहकारी बनता है। इसीलिए अन्धकार में घट के रहने से चक्षु का घट से संयोग होते हुए भी आलोक से घट का संयोग सहकार नहीं होता और इसीलिए अन्धकार में विद्यमान घट का चाक्षुष प्रत्यक्ष भी नहीं होता। क्योंकि जिस

देश में विषय से चक्षु का संयोग हो,वहीं आलोक-संयोग सहकारी हो सकता है।

जहाँ स्थानु में पुरुष भ्रम है वहाँ पुरुषाभाव के प्रतियोगी पुरुष का अनुपलम्भ रूप सहकार न होने से पुरुषाभाव का प्रत्यक्ष नहीं होपाता। जैसे भूतल में घट न होकर घट जैसा अन्य पदार्थ हो, उसमें घट का भ्रम होने पर, घटाभाव से चक्षु का स्वसम्बद्ध विशेषणता सम्बन्ध होते हुए भी प्रतियोगी का अनुपलम्भरूप सहकार नहीं होता। इसलिए सम्बन्ध रूप इन्द्रिय करण के होते हुए भी सहकार के अभाव से घटाभाव प्रत्यक्ष नहीं होपाता। यहाँ घट का भ्रम हुआ, इसलिए घटाभाव के पतियोगी घट का अनुपलम्भ नहीं वरन् भ्रमरूप उपलम्भ अर्थात् ज्ञान है, इस कारण घटाभाव का भी प्रत्यक्ष नहीं। इस प्रकार अभाव-प्रत्यक्ष में इन्द्रिय करण और प्रतियोगी का अनुपलम्भ उसका सहकारी होता है, यह न्याय का सिद्धान्त है।

केवल प्रतियोगी के अनुपलम्भ को सहकारी कहने से भी कार्य नहीं चलता। क्योंकि स्तम्भ में पिशाच का भेद प्रत्यक्ष होते हुए भी उसका अत्यंताभाव प्रत्यक्ष नहीं नहीं है। जैसे स्तम्भ के पिशाच न होने का अनुभव तो सभी को होता है, पर स्तम्भ में पिशाच के न होने का अनुभव किसी को नहीं हो सकता। यहाँ पहले अनुभव का विषय तो स्तम्भ में स्थित पिशाच का अन्योऽन्याभाव और दूसरे अनुभव का विषय पिशाच का अत्यंताभाव है। यद्यपि दोनों अभावों का प्रतियोगी एक पिशाच ही है, उसका अनुपलम्भ और इन्द्रिय सम्बन्ध वाला स्तम्भ भी है। साथ ही उसमें उक्त दोनों अभाव भी विशेषणता सम्बंध से रहते हैं, तो भी स्तम्भ में पिशाच के अन्योन्याभाव के समान उसका अत्यंताभाव प्रत्यक्ष नहीं होता।

इसी प्रकार आत्मा में सुखाभाव और दुःखाभाव का तो प्रत्यक्ष है, पर धर्माभाव-अधर्माभावप्रत्यक्ष नहीं है। न्यायमत में सुख-दुःख का अनुभव मानस-प्रत्यक्ष रूप माना है, उसमें सुख-दुःख के अभाव से मन का स्वयंयुक्त विशेषणता सम्बन्ध बनता है। क्योंकि मन से संयुक्त आत्मा में विशेषणता सम्बन्ध से सुखाभाव और दुःखाभाव की विद्यमानता है। इसी प्रकार धर्माभाव और अधर्माभाव से भी मन का वैसा ही सम्बन्ध होने पर भी इन दोनों अभावों पर प्रत्यक्ष नहीं होता।

इसी प्रकार वायु में रूपाभाव के प्रत्यक्ष होते हुए भी गुरुत्वाभाव प्रत्यक्ष नहीं है। इन दोनों का वायु में अनुपलम्भ, चक्षु का वायु से संयोग-सम्बन्ध और चक्षु-संयुक्त वायु में रूपाभाव-गुरुत्वाभाव भी विशेषणता सम्बन्ध से विद्यमान हैं, तो भी चक्षु सम्बद्ध विशेषणता सम्बन्ध से वायु में रूपाभाव के चाक्षुष प्रत्यक्ष के समान गुरुत्वाभाव का चाक्षुष प्रत्यक्ष संभव नहीं। इसका अभिप्राय है कि इन्द्रियजन्य अभाव के प्रत्यक्ष अनुपलम्भ मात्र ही सहकारी नहीं होता, वरन् योग्य अनुपलम्भ ही सहकारी हो सकता है।

आत्मा में सुखाभाव-दुःखाभाव का मानस प्रत्यक्ष होने पर प्रत्यक्ष योग्य सुख-दुःख का अनुपलम्भ होने के कारण योग्य अनुपलम्भ रूप सहकारी हो सकता है, पर आत्मा में धर्माभाव और अधर्माभाव का मानस प्रत्यक्ष संभव नहीं। क्योंकि धर्म-अधर्म रूप प्रतियोगी का अनुपलम्भ होते हुए भी धर्म-अधर्म शास्त्र से जानने योग्य नहीं हैं। अतएव धर्म-अधर्म के योग्यानुपलम्भरूप न होने से ही धर्माभाव अधर्माभाव का मानस प्रत्यक्ष असंभव है।

पिशाच के दृष्टान्त से अनुपलम्भ का निर्णय

उक्त प्रकार से ही स्तम्भ में पिशाचात्यन्ताभाव का प्रत्यक्ष नहीं बनता। पिशाचरूप प्रतियोगी का अनुपलम्भ होते हुए भी,

पिशाच के प्रत्यक्ष योग्य न होने के कारण उसका अनुपलम्भ योग्यानुपलम्भ नहीं होता ।

यदि शंका करें कि पिशाच भेद ही पिशाचन्योऽन्याभाव है, उसका प्रतियोगी पिशाच ही है,उसके प्रत्यक्ष योग्य न होने से पिशाच के भेद का प्रयक्ष नहीं होना चाहिए । इसीलिए योग्यानु पलम्भ के न होने से पिशाचान्योऽन्याभाव भी प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिए । इस पर सिद्धान्ती कहे कि उक्त लक्षणयुक्त केवल योग्या नुपलम्भ नहीं, वरन् प्रत्यक्ष योग्य अधिकरण में प्रतियोगी का अनुपलम्भ भी योग्यानुपम्भ ही है । प्रतियोगी प्रत्यक्ष योग्य हो या परोक्षयोग्य, पर, अभाव अधिकरण प्रत्यक्ष योग्य हो और उसमें प्रतियोगी का अनुपलम्भ हो । स्तम्भवर्ति पिशाचान्योऽन्याभाव का प्रतियोगी पिशाच प्रत्यक्ष योग्य नहीं और उसमें प्रत्यक्ष होने की अपेक्षा भी नहीं, तो भी पिशाचन्योऽन्याभाव के अधिकरण स्तम्भ के प्रत्यक्ष योग्य होने से योग्यानुपलम्भ का सद्भाव होता है, इसी से स्तम्भ में पिशाच के अन्योऽन्याभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता ।

उक्त सामाधान भी नहीं बनता । इससे तो नहीं स्पष्ट होता है कि अभाव अभाव का प्रतियोगी प्रत्यक्षयोग्य हो अथवा अप्रत्य योग्य अभाव का अधिकरण प्रत्यक्ष योग्य हो और और प्रतियोगी का अनुपलम्भ हो तो अभाव प्रत्यक्ष में योग्य अनुपलम्भ सहकारी होता है । पर, इस प्रकार मानने से स्तम्भ में पिशाच का अत्य-न्ताभाव और आत्मा में धर्म-अधर्माभाव प्रत्यक्ष होने चाहिए । क्योंकि स्तम्भ में विद्यमान पिशाचात्यन्ताभाव का अधिकरण स्तम्भ प्रत्यक्ष के योग्य होने के समान ही आत्मा में वर्तमान धर्म अधर्माभव का अधिकरण आत्मा भी प्रत्यक्ष के योग्य है । इनमें

भेद इतना ही है कि स्तम्भ बाह्येन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष के योग्य होने से स्तम्भ में पिशाचात्यन्ताभाव का बाह्येन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष हो और आत्मा के मानस प्रत्यक्ष योग्य होने से आत्मा में धर्माभाव और अधर्माभाव का मानस प्रत्यक्ष होना चाहिए और वायु को प्रत्यक्षयोग्य न मानें तो वायु में वर्तमान रूपाभाव का प्रत्यक्ष भी नहीं होना चाहिए। पर, वायु में तो रूप का अभाव प्रत्यक्ष एवं अनुभव सिद्ध है, तब वैसा कैसे मान सकते हैं।

योग्यानुपलम्भ के दो भेद हैं। उनमें से एक प्रत्यक्ष योग्य प्रतियोगी का अनुपलम्भ रूप योग्यानुपलम्भ और दूसरा प्रत्यक्ष योग्य अधिकरण में प्रतियोगी का अनुपलम्भरूप योग्यानुपलम्भ कहलाता है। इनमें से पहला अत्यन्ताभाव के प्रत्यक्ष में सहकारी है। और दूसरा अन्योऽन्याभाव के प्रत्यक्षमें सहकारी है। इसलिए अन्योऽन्याभाव का प्रतियोगीप्रत्यक्ष में योग्य हो चाहे अयोग्य किन्तु अन्योऽन्याभावके प्रत्यक्षमें प्रत्यक्ष योग्य अधिकरणमें प्रतियोगी का अनुपलम्भरूप योग्यानुपलम्भ सहकारी बनता है।

सिद्धान्ती का उक्त नियम भी बनता नहीं। क्योंकि अन्योऽन्याभाव के प्रत्यक्ष में अधिकरण की प्रत्यक्ष योग्यता को हेतु मानने से वायु में रूपवत् भेद का प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिए। वायु के रूपवान् न होने का अनुभव सभी को होता है, पर, वक्ष्यमाण रीति से सिद्धान्ती का ऐसा अनुभव नहीं होना चाहिए क्योंकि वहाँ अन्योऽन्याभाव का अधिकरण वायु प्रत्यक्ष योग्य नहीं। यदि वायु में प्रत्यक्ष की योग्यता किसी प्रकार स्वीकार भी कर लें तो उसमें गुरुत्ववत् भेद का भी प्रत्यक्ष होना चाहिए परन्तु वायु के गुरुत्वयुक्त न होने का किसी को भी प्रत्यक्ष नहीं होता, पर सिद्धान्ती का वक्ष्यमाण रीति से वैसा प्रत्यक्ष होना ही चाहिए, क्योंकि अन्योऽन्याभाव के अधिकरण में वायु प्रत्यक्ष

योग्य अंगीकार कर लिया गया है। इसी प्रकार स्तम्भ में भी पिशाचवत् भेद परोक्ष है, जो कि नहीं होना चाहिए। क्योंकि अन्योऽन्याभाव के प्रत्यक्ष में अधिकरण की योग्यता के हेतु होने पर पिशाचवत्भेद का अधिकरण स्तम्भ प्रत्यक्ष योग्य ही है तो पिशाचवत् अन्योऽन्याभावरूप पिशाचवत् भेद का प्रत्यक्ष होना चाहिए, किन्तु स्तम्भ के पिशाचयुक्त न होने का प्रत्यक्षनहीं होता इस प्रकार अन्योऽन्याभाव के प्रत्यक्ष प्रतियोगी का अनुपलभ सहकारी होता है, यह नियम भी नहीं बनता।

इसी प्रकार प्रतियोगी की प्रत्यक्ष योग्यता को अत्यंताभाव के प्रत्यक्ष में सहकारी मान लें तो जल परमाणु में पृथिवीत्व का अत्यन्ताभाव प्रत्यक्ष होना चाहिए। क्योंकि उस अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी पृथिवीत्व का घटादि में चाक्षुष प्रत्यक्ष होने से वह प्रत्यक्ष योग्य है। साथ ही जल परमाणु में पृथिवीत्व का उपलभ्भ न होने से पृथिवीत्व का अनुपलम्भ होने और जल परमाणु से नेत्र का संयोग होने से जल परमाणु में विद्यमान पृथिवीत्वात्यन्ताभाव से चक्षु का स्वसंयुक्त विशेषणता सम्बन्ध भी है।

यदि कहें कि परमाणुओं के निरवयव होने से परमाणु से चक्षु का संयोग नहीं हो सकता। क्योंकि संयोग तो पदार्थ के एक देश में ही होता है। यहाँ परमाणु का देश अवश्य कहा है। पर, परमाणु का देश अवयवरूप होना संभव ही नहीं है। यदि समूचे परमाणु से संयोग होना कहें तो संयोग का स्वभाव अव्याप्यवृत्ति नहीं रहना चाहिए। पर, उसका स्वभाव अव्याप्यवृत्ति ही है, क्योंकि जो वस्तु किसी एक देश में हो, एक देश में न हो, उसे अव्याप्यवृत्ति कहते हैं। इस प्रकार परमाणु से चक्षु का संयोग नहीं बनता।

उक्त कथन भी अयुक्त है। यदि परमाणु से संयोग न हो तो द्वयणुक की सिद्धि न होने के साथ ही परमाणु महत्वन्त्यन्ता-

भाव का जो चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, वह भी नहीं होना चाहिए। इस प्रकार चक्षु संयुक्त विशेषता के सम्बन्ध से जल परमाणु में महत्वायताभाव का प्रत्यक्ष होने के समान जल परमाणु में चक्ष संयुक्त विशेषणता सम्बन्ध से पृथिवीत्वात्यन्ताभाव का भी प्रत्यक्ष होना चाहिए, परन्तु वैसा होता नहीं। इससे यही मानना ठीक है कि सब अभावों के प्रत्यक्ष एक रूप वाला योग्यानुपलम्भ या अन्योऽन्याभाव नहीं बनता और अत्यन्ताभाव के प्रत्यक्ष में विभन्न रूप वाला योग्यानुपलम्भ ही सहकारी हो सकता है।

पूर्वपक्षों की उपर्युक्त शंकाओं पर सिद्धान्ती इस प्रकार समाधान करते हैं—योग्यानुपलम्भ का योग्ये अनुपलम्भः' यह सप्तमी समास करने पर तो अधिकरण में प्रत्यक्ष योग्यता बनती है और तब योग्यानुपलम्भ भी होता है। पर, 'योग्यस्य अनुपलम्भः' रूप षष्ठी समास करने पर प्रतियोगी में प्रत्यक्ष योग्यता होने पर योग्यानुलम्भ बनेगा। वहाँ इन दोनों में से किसी एक प्रकार भी अनुपलम्भ मानने में दोष बताया और सहकारी मानना भी अयुक्त कहा है। इसलिए अन्य प्रकार के योग्यानुपलम्भ को ही सहकारी मानना उचित है। अर्थात् योग्यानुपलम्भ शब्द में से उक्त दोनों समासों को हटा कर 'नील घट' वाक्य के समान प्रथम समास मानना योग्य है। इस प्रकार जहाँ कर्मधारय समास हो, वहाँ पहले पदार्थ का दूसरे से अभेद प्रतीत होता है। इसलिए अभाव के प्रतियोगी और अधिकरण में योग्यता हो न हो, पर, अनुपलम्भ में योग्यता आवश्यक है। अनुपलम्भ में योग्यता-अयोग्यता को इस प्रकार बताया है—

अनुपलम्भ उपलम्भाभाव का ही नाम है। प्रतीति, ज्ञान और उपलम्भ तीनों ही पर्याय हैं और अनुपलम्भ शब्द का अर्थ प्रतीति

का अभाव होने से इन्द्रिय से घटाभाव के प्रत्यक्ष में घट की प्रतीति का जो अभाव है, वह सहकारी कहा जाता है। वहाँ घटाभाव का ज्ञान अभाव प्रमा रूप फल तथा घटज्ञान का अभाव घटाभाव प्रमा का सहकारी कारण समझना चाहिए और घट-ज्ञानाभाव घटानुपलम्भ कहलाता है. उप ज्ञानाभावरूप अनुपल-म्भ में और प्रकार की योग्यता तो नहीं बनती, पर जिस अनुप-लम्भ का उपलम्भरूप योग्य प्रतियोगी हो, वही अनुपलम्भ योग्य है और जिस अनुपलम्भ का उपलम्भ रूप अयोग्य प्रतियोगी वह अनुपलम्भ भी अयोग्य होता है। इससे यह स्पष्ट हुआ कि योग्य उपलम्भ का अभाव रूप योग्यानुपलम्भ ही सहकारी है और इस प्रकार अनुपलम्भ की योग्यता कथन का पर्यवसान उपलम्भ की योग्यता में होने से उपलम्भ में योग्यता आवश्यक है।

जिस अभाव के अधिकरण में प्रतियोगी के आरोपित होने पर प्रतियोगी के उपलम्भ का नियम पूर्वक आरोप होने पर वह उपलम्भ योग्य होता है और उसका अनुपलम्भ भी योग्य कह-लाता एवं उस अभाव का प्रत्यक्ष भी उस अधिकरण में होता है। पर, जिस अभाव के अधिकरण में उसी अभाव के प्रतियोगी का आरोप और प्रतियोगी के उपलम्भ का अनारोप हो वह उपलम्भ और उसका अनुपलम्भ दोनों ही अयोग्य एवं उस अभाव का उस अधिकरण में प्रत्यक्ष भी असंभव होता है। जैसे अन्धकार में घटाभाव का प्रत्यक्ष है, संभव नहीं। पर, स्तम्भ में पिशाच भेद प्रत्यक्ष है, यदि स्तम्भ अभेद रूप से होता तो उसका उपलम्भ भी होना चाहिए। इस प्रकार स्तम्भ में विद्यमान तादात्म्य सम्बन्ध से पिशाच के आरोप से उसके उपलम्भ का आरोप होना भी आवश्यक है। पर, इस प्रकार के

उपलम्भाभाव से पिशाच का स्तम्भ में तादात्म्य सम्बन्धअव-च्छिन्नाभाव प्रत्यक्ष होता है, जिसे अन्योऽन्याभाव कहा जाता है।

यहाँ एक शंका है कि तादात्म्य सम्बन्ध से पिशाच होने पर भी उसका नियमानुसार उपलम्भ संभव नहीं, क्योंकि पिशाच में पिशाच तो तादात्म्य संबध से है, पर वहाँ उसका उपलम्भ नहीं होने से पिशाचोपलम्भ का आरोप नहीं बनता, उस अवस्था में अन्योऽन्याभाव में अत्यंताभाव की रीति ही ग्रहणयोग्य है।

तो भी अन्य प्रकार से इन दोनों अभावों में भेद है, क्योंकि तादात्म्य सम्बन्ध से जो स्तम्भ में रहे उसका नियम से उपलम्भ होता है। तब यदि कोई अन्य पदार्थ तादात्म्य संबंध से स्तम्भ में विद्यमान हो तो उसका भी उपलम्भ होना आवश्यक है। इस प्रकार तादात्म्य संबध से स्तम्भ में पिशाचारोप करने पर उसके उपलम्भ का आरोप होने से पिशाच-भेद प्रत्यक्ष होता है। पर, पिशाचवत् का भेद उसी स्तम्भ में प्रत्यक्ष नहीं होता। इस प्रकार स्तम्भ में पिशाचभेद के समान पिशाचवत्ता का भेद भी अप्रत्यक्ष है तो स्तम्भ में पिशाचात्यन्ताभाव का प्रत्यक्ष कैसे होगा? इससे स्पष्ट हुआ कि प्रतियोगी के उपलम्भ का आरोप होने पर अभाव की प्रत्यक्षता संभव है।

अभाव की प्रत्यक्षता-अप्रत्यक्षता

इसी प्रकार आत्मा में सुख-दुःख होते तो सुख-दुःख का उपलम्भ भी होता। क्योंकि सुख-दुःख कभी अज्ञात नहीं होते, इसलिए आत्मा में विद्यमान सुखा-भाव दुःखाभाव का प्रत्यक्ष होता है। पर, आत्मा में धर्म-अधर्म होते तो धर्म-अधर्म का उप-लम्भ होता.इस प्रकार धर्म-अधर्म का आरोप होने पर भी उनके

उपलम्भ का आरोप नहीं होता, क्योंकि जो प्रत्यक्ष ज्ञान है, वही उपलम्भ है, तो भी इस प्रसंग में जिस इन्द्रिय से अभाव-प्रत्यक्ष किया जाय उससे उत्पन्न प्रत्यक्ष ज्ञान का ग्रहण 'उपलम्भ' शब्द से करना उचित है। जैसे कि सुख-दु:ख के अभाव का मन से प्रत्यक्ष होने पर मानस-प्रत्यक्ष का आरोप होता है। वैसे ही वायु में रूप का चाक्षुषाप्रत्यक्ष होने पर चाक्षुष-प्रत्यक्ष का आरोप होता है।

किन्तु धर्म-अधर्म के शास्त्र द्वारा जानने योग्य होने से उनका उपलम्भ संभव नही। इसलिए आत्मा में धर्म-अधर्म के आरोप से उनका उपलम्भारोप नहीं होता, जिससे धर्माभाव और अधर्माभाव भा अप्रत्यक्ष रहता है। इसी प्रकार वायु में गुरुत्वात्यन्ताभाव का भाव का प्रत्यक्ष न होकर रूपात्यन्ताभाव का प्रत्यक्ष होता है और जल परमाणु में पृथिवीत्वाभाव का प्रत्यक्ष न होकर जलत्व का प्रत्यक्ष ही सम्भव है। इससे यह स्पष्ट हुआ कि जिस अधिकरण में जिस अभाव के प्रतियोगी के आरोप से उसके उपलम्भ का आरोप होता हो तो उस अधिकरण में उस अभाव का प्रत्यक्ष हुआ करता है।

उपलम्भ के आरोप से अभाव का प्रत्यक्ष

उपलम्भ का आरोप जिस इन्द्रिय से होता हो, उसी से अभाव का प्रत्यक्ष हो सकता है, अन्य किसी इन्द्रिय से नहीं होता जैसे कि भूतल में घट होने पर नेत्र से ही उसका उपलम्भ होना चाहिए, पर वैसा न होने से भूतल में घट न होने का नेत्रजन्य उपलम्भारोप होने पर घटाभाव का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, ऐसे ही भूतल में घट होने पर उसका त्वक् इन्द्रिय से उपलम्भ का आरोप बने वहां घटाभाव का त्वाच प्रत्यक्ष होगा। इस प्रकार

जिस इन्द्रिय से उपलम्भारोप हो उसी से अभाव का प्रत्यक्ष होना बनता है। इसलिए वायु में रूपाभाव का चाक्षुष-प्रत्यक्ष है, त्वाच प्रत्यक्ष नहीं होता, इसी प्रकार मधुर द्रव्य में तिक्त रस के अभाव का रासन प्रत्यक्ष सम्भव है। ऐसे ही स्पर्शाभाव का त्वक् इन्द्रिय से ही उसका उपलम्भ होता, किन्तु अग्नि में शीत-स्पश का उपलम्भ सम्भव नहीं, इसलिए शीत-स्पर्श के आरोप से त्वक्जन्य उपलम्भ का आरोप होने से स्पर्शाभाव का प्रत्यक्ष त्वक्जन्य ही हो सकता है। इसी प्रकार परमाणु में महत्त्वाभाव का चाक्षुष-प्रत्यक्ष है। यद्यपि परिणाम और गुण का ज्ञान नेत्र और त्वचा दोनों से ही होता है, तो भी त्वचा से अपकृष्ट महत्व का ज्ञान होता तो उससे त्र्यणुक के महत्व का भी ज्ञान होना चाहिए किन्तु वैसा नहीं होने से अपकृष्टतम महत्व का ज्ञान केवल चक्षु से होता है और उसका आरोप परमाणु में किया जाता है, इसलिए चक्षुजन्य उपलम्भ का आरोप होने से महत्वाभाव ही परमाणु में चाक्षुष-प्रत्यक्ष होता है। वैसे ही आत्मा में सुख-दुःख के अभाव का मानस प्रत्यक्ष होता है, पर वह मानस प्रत्यक्ष अपने ही सुखादि का होता है, पराये का नहो होता।

इस प्रकार प्रतियोगी के आरोप से उपलम्भ का आरोप होने पर अभाव प्रत्यक्ष होता है जिसे कि योग्यानुपलम्भ कहते हैं, अथवा प्रतियोगी के आरोप से जिस उपलम्भ का आरोप बने वह जिसका प्रतियोगी हो, उसे योग्यानुपलम्भ कहने में दोष नहीं बनता। और यह स्पष्ट होता है कि जिस अधिकरण में, जिस प्रतियोगी का जिस इन्द्रिय से उत्पन्न आरोपित उपलम्भ हो सकता हो, उस अधिकरण में, उसी अभाव का उसी इन्द्रिय से जन्य की प्रत्यक्षता बनती है और जहाँ इस प्रकार से उपलम्भ

न हो सकता हो वहाँ अभाव का परोक्षज्ञान ही सम्भव है। इस भाँति न्याय मत में अभाव-प्रत्यक्ष में इन्द्रिय प्रमाणरूप करण, इन्द्रिय का अभाव से विशेषता सम्बन्ध व्यापार, अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञानरूप प्रमा फल और योग्यानुपलम्भ इन्द्रिय का सहकारी कारण है।

सामग्री सहित अभाव के प्रमाण का वर्णन

घटादि-चाक्षुष प्रत्यक्षमें आलोक संयोग के सहकारी कारण और नेत्रेन्द्रिय के करण होने के समान ही अभाव प्रत्यक्ष में तो योग्यानुपलम्भ सहकारी होता है, पर, अभाव के चाक्षुष प्रत्यक्ष में आलोक संयोग सहकारी नहीं होता। यद्यपि अंधेरे में भी घटाभाव का त्वाच-प्रत्यक्ष होते हुए भी चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता जबकि उजाले में घटाभाव का चक्षुष प्रत्यक्ष भी होता है इसलिए अन्वय-व्यतिरेक के न होने से चाक्षुष-प्रत्यक्ष में आलोक-संयोग भी सहकारी होता है, तो भी आलोक-संयोग के न होने के चाक्षुष प्रत्यक्ष में घट में कुम्हार के पिता के समान व्यर्थ ही रहता है। जैसे घट के कारण कुम्हार को सिद्धि में कुम्हार का पिता कारण सामग्री के अन्तर्भूत न होने से घट का कारण न होकर घट के कारण का कारण कहलाता है। वैसे ही अभाव-प्रत्यक्ष का सहकारी कारण योग्यानुपलम्भ होने के कारण उसकी सिद्धि का हेतु आलोक संयोग भी अभाव प्रत्यक्ष की कारण सामग्री के भीतर नहीं आता। क्योंकि जहाँ अनुपलम्भ के प्रतियोगी उपलम्भ का आरोप हो सकता हो, वहाँ योग्यानुपलम्भ होगा और घट के चाक्षुष उपलम्भ का उजाले में आरोप होता है, अँधेरे में नहीं होता। इसलिए घटाभाव के चाक्षुष प्रत्यक्ष के सहकारी कारण योग्यानुपलम्भ का साधक आलोक है।

प्राचीन न्याय ग्रन्थों के अनुसार प्रतियोगी के उपलम्भ की अन्य सब सामग्री होते हुए भी जहाँ प्रतियोगी मात्र का उपलम्भ न हो, वहाँ योग्यानुपलम्भ बनता है, क्योंकि इसमें केवल घटाभाव का प्रतियोगी घट नहीं है और आलोक-संयोग तथा द्रष्टा के चक्षुरूप घट के चाक्षुष-उपलम्भ की सब सामग्री होने के कारण वह योग्यानुपलम्भ होता है। पर, अन्धकार में घट के न होने से योग्यानुपलम्भ भी नहीं बनता। क्योंकि प्रतियोगी के चाक्षुषोपलम्भ की सामग्री में आलोक-संयोग सम्मिलित तो है, पर, है उसका अभाव । ऐसे ही जो स्तम्भ में तादात्म्य सम्बन्ध से हो, उसके उपलम्भ की सामग्री स्तम्भ में विद्यमान उद्भूतरूप एवं महत्व तो है, किन्तु पिशाच में उद्भूतरूप एवं महत्व के न होने तथा प्रतियोगी के उपलम्भाभाव से स्तम्भ में तादात्म्य सम्बन्ध से पिशाच का अनुपलम्भ उचित है और संयोग सम्बन्ध से जो स्तम्भ में वर्तमान हो उसके उपलम्भ की सामग्री उद्भूतरूप और महत्व नहीं है, इसलिए संयोग सम्बन्धावच्छिन्न पिशाचात्यन्ताभाव के प्रतियोगी पिशाच के उपलम्भ की सामग्री पिशाच में विद्यमान उद्भूतरूप और महत्व के अभाव तथा पिशाच के संयोग-सम्बन्ध से अनुपलम्भ योग्य नहीं बनता।

इस प्रकार योग्यानुपलम्भके होने और इन्द्रिय का सम्बन्ध अभाव से होने पर अभाव की प्रत्यक्ष प्रमा होती है। पर, योग्यानुपलम्भ के न होने पर अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव नहीं। इस प्रकार अभाव-प्रत्यक्ष में योग्यानुपलम्भ सहकारी और इन्द्रिय करण है, यह मत नैयायिकों का है।

वेदान्तमत की न्यायमत से विलक्षणता

वेदान्त मत में अभाव ज्ञान में प्रमाण और करण योग्यानुपलम्भ है, इन्द्रिय नहीं है, यही भट्ट का मत है। इस प्रकार इनके

अनुसार दोनों मतों में अभाव ज्ञान का हेतु अनुपलब्धि नामक भिन्न प्रमाण है और अनुपलब्धि को ही अनुपलम्भ कहते हैं न्याय मत में जो योग्यानुपलम्भ इन्द्रिय का सहकारी हैं, उसी प्रकार का योग्यानुपलम्भ अभाव प्रमा का प्रमाण और अनुपलम्भ उस का सहकारी कारण है । किन्तु, इन दोनों मतों में अनुपलब्धि ही प्रमाण है । यद्यपि अभाव प्रमा के उत्पन्न होने में अनुपलब्धि का कोई व्यापार नहीं हो सकता और प्रमा का व्यापारयुक्त कारण ही प्रमाण कहा जाता है, इसलिए अनुपलब्धि में प्रमाण नहीं बनता । तो भी प्रमा के व्यापारयुक्त कारण को अंगीकार नहीं किया है । पर वेदान्त और भट्ट के अनुसार सभी प्रमाणों के लक्षण भिन्न हैं, उनमें से किसी प्रमाण मे व्यापार है, किसी में नहीं है । जैसे प्रत्यक्ष प्रमा का व्यापारयुक्त असाधारण कारण प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमिति प्रमा का व्यापारयुक्त असाधारण कारण अनुमान और शाब्दी प्रमा का व्यापारयुक्त असाधारण कारण शब्द प्रमाण है । इन तीनों प्रमाणों के लक्षणों में न तो व्यापार का प्रवेश है और न उसकी अपेक्षा ही ।

अनुपलब्धि प्रमाण से अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष होते हुए भी अनुमान-प्रमाण और शब्द-प्रमाण से होने वाला अभाव-ज्ञान अप्रत्यक्ष ही है । इसमें नैयायिकों और वेदान्तियों के मत में इतना ही अन्तर है कि न्यायमत में अनुपलब्धि को अभाव प्रमा का सहकारी कारण तो माना है, परन्तु वे जैसी योग्यानुपलब्धि को इन्द्रिय के सहकारी मानते हैं, वैसी ही योग्यानुपलब्धि को वेदान्त और भट्ट के मत में स्वतन्त्र प्रमाण माना गया है ।

वेदान्त में इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का लक्षण

परन्तु, इन दोनों मतों में यह शंका बनती है कि जब इन्द्रिय जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष होता है तब अभावज्ञान में इन्द्रियजन्यता का

निषेध कर उसे प्रत्यक्ष नहीं कह सकते। इस शंका का समाधान निम्न प्रकार है—

इन्द्रियजन्य ज्ञान के ही प्रत्यक्ष होने का नियम नहीं, क्योंकि वैसा नियम हो तो ईश्वरीय ज्ञान भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। क्योंकि नैयायिकों के अनुसार ईश्वरीय ज्ञान नित्य होने से उसकी इन्द्रियजन्यता नहीं बनती और वेदान्तानुसार ईश्वरीय ज्ञान के माया की वृत्ति रूप होने से उसकी इन्द्रियजन्यता नहीं है। इसलिए इन्द्रियजन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, वरन् ज्ञान वहीं प्रत्यक्ष होता है, जहाँ प्रमाण चेतन का विरोध चेतन से अभेद हो।

यथार्थ में तो प्रमाण चेतन और विषय चेतन दोनों ही सदा अभेद होते हैं और जो भेद प्रतीत होता है उसका कारण उपाधि भेद ही है। भिन्न देश में उपाधि के होने पर ही उपहित का भेद होता है, किन्तु एक देश में ही उपाधि हो तो वह भेद प्रतीत नहीं होता। जैसे घट और घट के रूप के एक देश में रहने पर घटोपहित और घटरूपोपहित आकाश एक ही है और यद्यपि मठाकाश घटाकाश से भिन्न भी हो सकता है, तो भी मठ रहित देश में घट के न होने से घटाकाश मठाकाश से भिन्न नहीं होता। इस प्रकार वृत्ति और विषय के भिन्न देश में रहने तक तो वृत्ति उपहित चेतन और विषय उपहित चेतन की भिन्नता होती है, किन्तु वृत्ति के विषय देश में पहुँचने पर वृत्ति चेतन भी विषय चेतन होजाता है, इसलिए यह दोनों अभिन्न है। जहाँ का परस्पर अभेद माना है, वहाँ विषय देश में जितना वृत्ति भाग है, उतने वृत्तिभाग में दोनों चेतन एक ही हैं और इस प्रकार विषय चेतन से वृत्ति चेतन का अभेद होने पर ज्ञान ही प्रत्यक्ष है।

परोक्षज्ञान एवं उनकी सामग्री

यदि विषय चेतन से वृत्तिचेतन का अभेद हो तो वहाँ ज्ञान को परोक्ष कहते है। संस्कार से उत्पन्न स्मरणरूप अन्तःकरण की वृत्ति शरीर के अन्तर में और उसका विषय या तो देशान्तर में होता है या नष्ट होने से विषय चेतन से वृत्तिचेतन का अभेद संभव न होने से स्मृतिज्ञान भी परोक्ष ही होता है। जिस पदार्थ के पहले अनुभव के संस्कारों का इन्द्रिय से संयोग हो, उसके विषय में 'यह वही है' ऐसा ज्ञान होना प्रत्यभिज्ञा कहलाता है। यहाँ इन्द्रियजन्य वृत्ति के विषय देश में जाने से विषय चेतन से वृत्तिचेतन का अभेद होता है,जिससे प्रत्यभिज्ञा ज्ञान को प्रत्यक्ष ता होती है। जहाँ पहले अनुभव के संस्कारों का अभाव और इन्द्रिय जन्य वृत्ति ही हो, वहाँ केवल 'अयम्' अर्थात् 'यह' ऐसा जो ज्ञान होता है, वह अभिज्ञा प्रत्यक्ष कहलाता है और मुख्य सिद्धान्त में 'यह वही है' ऐसा ज्ञान भी स्मृतिरूप होता है, इसलिए तो परोक्ष और 'यह' अंश में इन्द्रियजन्य है, इसलिए प्रत्यक्ष है। इस प्रकार 'यह वही है' ऐसे ज्ञान में प्रत्यक्षत्व मात्र नहीं, वरन् अंश-भेद से अपरोक्षत्व और परोक्षत्व दोनों ही धर्म हैं।

केवल संस्कार जन्य वृत्ति ही हो, उसका 'वह' ऐसा जो आकार है, वह वृत्ति है। स्मृति उसी की होती है जिसका पहले इन्द्रिय द्वारा या अनुमानादि के द्वारा ज्ञान हुआ हो। इसलिए स्मृतिज्ञान में पहला अनुभवकरण और उस अनुभव से उत्पन्न ज्ञान व्यापार होता है, क्योंकि जिसका पहले अनुभव हुआ हो उसी की स्मृति होती हैं और जिसका पहले अनुभव नहीं हुआ उसकी स्मृति भी कभी नहीं हो सकती। इस प्रकार पहले के अनुभव से स्मृति का व्यतिरेक मानना चाहिए। जहाँ एक के होने से दूसरा हो वहां 'अन्वय' और जहां एक के न होने से

दूसरा न हो वह 'व्यतिरेक' कहा जाता है। इस प्रकार के अन्वय व्यतिरेक से ही कार्य—कारण का ज्ञान संभव है। उस प्रकार स्मृति के अन्वय—व्यतिरेक में पहले अनुभव का भान होने से पहला अनुभव और स्मृति का कार्य-कारण भाव माना जाता है पर, स्मृति के अव्यवहित पहले काल में पहले अनुभव की उपलब्धि न होने से स्मृति के उत्पन्न होने में पहले अनुभव के किसी अन्य अव्यवहित रूप व्यापार की मान्यता होती है।

जहाँ प्रमाण के बल से कारणता तो बनती हो, पर, कार्य से अव्यवहित पहले समय में कारण की सत्ता न बनती हो, वहाँ व्यापार की संभावना होती है। जैसे कि शास्त्र के प्रमाण से यज्ञ में स्वर्ग की साधनता मानते हैं और उस यज्ञ के नष्ट होने बहुत समय के अन्तर से स्वर्ग मिलता है, किन्तु उस यज्ञ के न रहने के अव्यवहित पूर्व समय में यज्ञ में करणता नहीं हो सकती। इसलिए शास्त्र द्वारा निश्चय की हुई कारणता के निर्वाहार्थ अपूर्व यज्ञ का व्यापार मानते हैं। इस प्रकार अपूर्व मान लेने पर कोई दोष नहीं रहता। जो धर्म कहा जाता है, वह यज्ञजन्य अपूर्व ही है। अपूर्व की उत्पत्ति यज्ञ से होती है और वह यज्ञजन्य अपूर्व ही है। अपूर्व की उत्पत्ति यज्ञ से होती है और वह यज्ञ जन्य स्वर्ग का जनक होने से व्यापार है। जैसे स्वर्ग की साधनता के निर्वाहार्थ यज्ञ का अपूर्व व्यापार मानते हैं और वह अपूर्व कभी प्रत्यक्ष नहीं होता, वैसे ही स्मृति की कारणता में अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा सिद्ध पहले के अनुभव के निर्वाहार्थ उस संस्कार का व्यापाररूप से मानते हैं, जो कि सदा अप्रत्यक्ष ही रहता है।

जिस अन्तःकरण में पहला अनुभव हो और जिसमें स्मृति उत्पन्न होती हो, वह संस्कार उस अन्तःकरण का धर्म होता है।

न्यायमत में अनुभव, संस्कार और स्मृति 'आत्मा के धर्म' तथा अनुभव से उत्पन्न संस्कार 'भावना' कहे जाते हैं। इस प्रकार वे पूर्वानुभवजन्य संस्कार स्मृति के जनक होने से व्यापार कहलाते हैं। इस प्रकार पूर्वानुभव स्मृति का कारण और संस्कार व्यापार होते हैं। यद्यपि स्मृति के उत्पन्न से अव्यवहित पहले समय में पहले के अनुभव का अभाव होने पर भी उसके व्यापार रूप संस्कार की विद्यमानता रही है, इसलिए पहले अनुभव के नष्ट होने पर भी स्मृति उत्पन्न होती है।

इस प्रकार संस्कार अप्रत्यक्ष रहता है और उसकी सिद्धि अनुमान या अर्थापत्ति से ही होती है। इसलिए जब तक पहले अनुभव की स्मृति रहती है, तब तक ही संस्कार रहता है और जिस स्मृति के पश्चात् वह स्मृति न हो उसे चरम स्मृति कहते है। उस चरम स्मृति में संस्कार के नष्ट हो जाने से उस पदार्थ की पुनः स्मृति नहीं होती। इस प्रकार पहले अनुभव से उत्पन्न संस्कार अनेक सजातीय स्मृतियाँ कराता रहता है और चरम स्मृति होने तक एक ही संस्कार रह सकता है।

स्मृति में चरमता का ज्ञान कार्य से होता है। किसी ग्रन्थ— कार के मत में पहले अनुभव से उत्पन्न संस्कार ही पहली स्मृति कराता हैं और फिर वह संस्कार नाश को प्राप्त है। उस पहली स्मृति से अन्य संस्कार की उत्पत्ति होती है और उससे अन्य सजातीय स्मृति उत्पन्न होती है। उस अन्य स्मृति से स्वजनक संस्कार नष्ट होता और उससे अन्य सस्कार उत्पन्न हो जाता है, जो कि तीसरी स्मृति को उत्पन्न करता है। इस प्रकार संस्कार की उत्पत्ति अनुभव से ही नहीं स्मृति से भी होती है। परन्तु जिस स्मृति के अनन्तर उत्तर सजातीय स्मृति नहीं हो उससे संस्कार भी नहीं हो सकता। इस मत के अनुसार उत्तर स्मृति

का कारण स्मृतिज्ञान और प्रथम स्मृति का कारण पूर्वानुभव अंगीकार हुआ है। दोनों स्थलों में संस्कार ही व्यापार है। पूर्वमत में स्मृति को स्मृति का कारण न मानकर पूर्वानुभव का ही स्मृति कारण माना है, उस पूर्वानुभव से उत्पन्न संस्कार ही सब सजातीय स्मृतियों में व्यापार है। दोनों ही पक्ष यद्यपि स्मृतिज्ञान को प्रमा नहीं मानते, तो भी स्मृति को यथार्थ-अयथार्थ के भेद से दो प्रकार की अंगीकार करते हैं। इस प्रकार ग्रन्थों में स्मृति विषयक दो पक्ष हैं।

इसी प्रकार अनुमानादि से उत्पन्न ज्ञान में प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि स्मृति के विषय के वृत्ति से व्यवहित होने के समान ही अनुमानादि से उत्पन्न ज्ञानों का विषय भी वृत्ति देश में नहीं, वरन् व्यवहित पर्वतादि देशों में होने के कारण अनुमानादि के द्वारा भूत, वर्तमान और भविष्यत् पदार्थों का अनुमिति आदि के रूप में ही ज्ञान होता है। इसलिए अनुमिति आदि के विषय ज्ञान के देश-काल से भिन्न देश-काल में रहते हैं।

प्रत्यक्ष ज्ञान का निरूपण

इन्द्रियजन्य ज्ञान के विषय पदार्थ अपने ज्ञान से भिन्न देश-काल में न रहकर स्वज्ञान के ही देशकाल में होते हैं, इसीलिए इन्द्रियजन्य सकल ज्ञान अपरोक्ष होते हैं। अद्वैतमतानुसार अन्तःकरण की परिणाम रूप वृत्ति के ही ज्ञान होने से ज्ञान और वृत्ति एक ही अर्थ में कहे गए है। तो भी अद्वैतवाद में इन्द्रिय जन्य ज्ञान के ही प्रत्यक्ष होने का नियम नहीं माना जाता वरन् यह स्वीकार किया जाता है कि वृत्तिदेश में अन्य प्रमाणजन्य विषय होने पर भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

जहाँ भूतल में घटाभाव का ज्ञान होता हो, वहाँ नेत्र का भूतल से संयोग होने पर अन्तःकरण की वृत्ति भूतल देश जाकर

भूतल में घट के न होने की वृत्ति का आकार धारण करती है। वहां वृत्ति भूतलांश में नेत्रजन्य और घटाभावांश में अनुपलब्धि-जन्य है। जैसे कि 'पर्वत अग्नियुक्त है' यह वृत्ति पर्वतांश में तो नेत्रजन्य और अग्न्यांश में अनुमानजन्य होती है। वैसे ही भूतल के घटाभाव देश में भी अंशभेद से एक ही वृत्ति इन्द्रिय और अनुपलब्धि से उत्पन्न प्रमाणों से होती है। इसमें वृत्ति-अवच्छिन्न चेतन का भूतल-अवच्छिन्न चेतन से अभेद होता और भूतल—अवच्छिन्न चेतन ही घटाभाव-अवच्छिन्न चेतन है, इसलिए वृत्ति-अवच्छिन्न चेतन का घटाभाव-अवच्छिन्न चेतन से अभेद होने के कारण घटाभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष हीं अंगीकार किया जाता है।

पर, अभावाधिकरण के प्रत्यक्ष योग्य होने और उस अधि-करण के प्रत्यक्ष इन्द्रिय व्यापार होने पर उक्त प्रकार सम्भव होता है। किन्तु जहाँ अधिकरण के प्रत्यक्ष में इन्द्रिय-व्यापार की सभावना न हो, वहाँ अनुपलब्धि प्रमाण से उत्पन्न अभाव का ज्ञान भी परोक्ष होता है। जैसे कि वायु में रूप के न होने का ज्ञान उन्मीलित नेत्र को भी योग्यानुपलब्धि से होता है तथा योग्यानुपलब्धि से ही परमाणु में महत्व के अभाव का ज्ञानबिना नेत्रोन्मीलन व्यापार के भी संभव है। वहाँ वृत्ति के विषय देश में न जाने से अनुपलब्धि प्रमाण से उत्पन्न वायु में रूप का अभाव और परमाणु में महत्व के अभाव का ज्ञान परोक्ष ही होता है। इससे सिद्ध हुआ कि अनुपलब्धि प्रमाण से उत्पन्न अभाव का ज्ञान कहीं प्रत्यक्ष और कहीं अप्रत्यक्ष है।

अभावज्ञान की सर्वत्र परोक्षता

यदि विचार पूर्वक देखें तो अनुपलब्धि प्रमाण से उत्पन्न अभाव का ज्ञान कहीं भी अपरोक्ष नहीं, वरन् सर्वत्र प्रत्यक्ष ही

होता है। क्योंकि विषय चेतन से प्रमाण चेनन का अभेद होजाय तब विषय के प्रत्यक्ष योग्य न होने पर भी उसका अप्रत्यक्ष ज्ञान ही होता है। जैसे कि शब्दादि प्रमाण से धर्म-अधर्म का ज्ञान हो तो विषय चेतन से प्रमाण चेतन का भेद नहीं बनता। क्योंकि धर्म-अधर्म का निवास अन्तःकरण देश में है, इससे अन्तःकरण और धर्म-अधर्म रूप उपाधि से भिन्न देशीय न होने से धर्म—अधर्म अवच्छिन्न चेतन की प्रमाण चेतन से भिन्नता कभीं नहीं बनती। तो भी धर्म-अधर्म के प्रत्यक्ष योग्य न होने से धर्म-अधर्म का शब्दादि से उत्पन्न ज्ञान कभी अपरोक्ष नहीं हो सकता। इस प्रकार धर्म-अधर्म धर्माधर्मी के अपरोक्षयोग्य न होने के समान ही अभाव पदार्थ भी अपरोक्षयोग्य नहीं हो सकता, क्योंकि वैसा होता तो विभिन्न वादियों में परस्पर इस विषय में कोई विवाद नहीं रहना चाहिए था, पर, मीमांसक के अनुसार अभाव अधिकरण है, जबकि नैयायिक के अनुसार अभाव अधिकरण से भिन्न है, आस्तिक मत के अभाव पदार्थ है और नास्तिक मत में तुच्छ एवं अलीक। इस प्रकार अभाव के स्वरूप में विभिन्न मत हैं, किन्तु प्रत्यक्ष योग्य घटादि के स्वरूप में घटादि अधिकरण से भिन्न होने न होने बिषयक विवाद नहीं होता। इसीलिए अभाव पदार्थ प्रत्यक्ष के योग्य नहीं और इस स्थिति में भूतल में घटा—भाव का ज्ञान होता है तो प्रमाण चेतन का घटाभाव अवच्छिन्न चेतन से अभेद होते हुए भी अभाव के अंश में यह ज्ञान अप्रत्यक्ष और भूतलांश में प्रत्यक्ष है। इस प्रकार अनुपलब्धि प्रमाण से उत्पन्न अभाव ज्ञान को सवत्र परोक्ष मानें तो भट्ट के मत से भी विरोध नहीं बनता।

न्यायमत वालों का अभाव ज्ञान को इन्द्रियजन्य और प्रत्यक्ष कहना ठीक नहीं। वायु में रूपाभाव और परमाणु में महत्वा—

भाव का चाक्षुष-प्रत्यक्ष भी असंभव है। क्योंकि वायु में रूपा-भाव और परमाणु में महत्वाभाव को देखने के लिए कोई भी नेत्र उन्मीलन व्यापार में समर्थ नहीं, वरन् निमीलित नेत्र को जो रूपाभाव और महत्वाभाव का ज्ञान होता है उसका कारण योग्यानुपलब्धि है, किन्तु यह निश्चित है कि निमीलित नेत्र को घटादि का चाक्षुष ज्ञान कभी हो ही नहीं सकता। इसलिए वायु में रूपाभाव और परमाणु में महत्वाभाव का चाक्षुष प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष ज्ञान ही सम्भव है। यदि न्याय मत वाले यह कहें कि अभाव के ज्ञान में अन्वय-व्यतिरेक दिखाई देने इन्द्रिय ही अभाव के ज्ञान में हेतु होती है।

उक्त शंका का भेदधिक्करादि ग्रन्थों में इस प्रकार समाधान किया गया है कि इन्द्रिय का अन्वय व्यतिरेक अधिकरण ज्ञान में ही चरितार्थ हो सकता है। जैसे कि भूतल में घटाभाव का ज्ञान हो तो नेत्रेन्द्रिय से अभाव के अधिकरण भूतल का ज्ञान होकर योग्यानुपलब्धि से घटाभाव का ज्ञान होता है इस प्रकार इंद्रिय कीं सफलता घटाभाव के अधिकरण भूतल के ज्ञान में ही है, अभाव के ज्ञान में नहीं है।

किन्तु उक्त शंका और उसका समाधान दोनों ही ठीक नही क्योंकि उक्त प्रकार से वायु में रूपाभाव और परमाणु में महत्वा-भाव का ज्ञान नेत्र-व्यापार से नहीं वरन् उसके बिना ही होता है। इससे इंद्रिय में करणता नहीं हो सकती। इस प्रकार शंका का उक्त समाधान भी नहीं कह सकते।

नैयायिक का यह कथन कि घट की अनुपलब्धि से इंद्रिय से अभाव की प्रतीति होती है, इसलिए अनुपलब्धि और इन्द्रिय घटाभाव-ज्ञान के हेतु होते हैं। इस पर भेद धिक्कारवादी का

समाधान है कि घटाभाव के अधिकरण का ज्ञान इन्द्रिय से होने पर भी घटाभाव का ज्ञान अनुपलब्धि से हो सकता है।

उक्त समाधान भी असंगत है, क्योंकि इन्द्रिय योग्य अधिकरण होने पर ही उक्त समाधान बन सकता है, किन्तु वैसा न होने पर इसकी संभावना नहीं है। यदि वायु में रूपाभाव की अनुपलब्धिजन्य और नेत्रजन्य प्रतीति मानें तो वहाँ वायु की प्रतीति ही नेत्रजन्य है, जबकि रूपाभाव की प्रतीति अनुपलब्धि-जन्य है, यह कहना भी असगत है। क्योंकि मूल से ही वायु में रूप का अभाव होने से नेत्र की योग्यता संभव नहीं और इसी--लिए अभावज्ञान केवल अनुपलब्धिजन्य ही सिद्ध होता है। उभयजन्यता की प्रतीति में विरोध की आशंका होने पर अद्वैत-वादियों का समाधान इस प्रकार है—

'भूतल में अनुपलब्ध होने से नेत्र के द्वारा घटाभाव का निश्चय करता हूँ' इस कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि अनुपलब्धियुक्त नेत्र से भूतल में घटाभाव के निश्चय वाला हूँ' वरन् यह अभिप्राय है कि 'भूतल में घट की उपलब्धि न होने से मैं घटाभाव के निश्चय वाला हूँ'। तात्पर्य यह कि अभाव के निश्चय का हेतु अनुपलब्धि ही है और उस अनुपलब्धि की प्रतियोगी उपलब्धि में ही इन्द्रियजन्यता की प्रतीति है, अभाव के निश्चय में नहीं है। इससे यह स्पष्ट हुआ कि इन्द्रियजन्यता का उपयोग केवल निषेधयोग्य उपलब्धि में है, किन्तु अभाव के निश्चय की उत्पत्ति उपलब्धि के अभाव रूप अनुपलब्धि से ही होती है।

भेदधिक्कारादि और वेदान्त परिभाषादि ग्रन्थों का यह समाधान प्रसिद्ध नहीं कि 'इन्द्रिय जन्यता अधिकरण ज्ञान में होते हुए भी अभाव ज्ञान में भासती है, क्योंकि यह समाधान

प्रत्यक्षयोग्य भूतलादि अभाव के अधिकरण होने पर तो हो सकता था, किन्तु प्रत्यक्ष के अयोग्य अभाव के अधिकरण वायु आदि होने पर उक्त समाधान नहीं बन सकता । इस प्रकार नैयायिकों की शंका का उपर्युक्त समाधान ही ठीक है और अभाव का अनुपलब्धि-प्रमाणजन्य होना ही निश्चिय होता है ।

अनुपलब्धि प्रमाणाम शंका-समाधान

यदि न्यायमत वाले यह शंका करें कि अभाव प्रमा का पृथक् प्रमाण मानने में गौरव और घटादि की प्रत्यक्ष प्रमा में इन्द्रिय को प्रमाणता से अभाव प्रमा की उत्पत्ति मानने में लाघवता होती है । अद्वैतवाद में इस शंका का यह समाधान है कि नैयायिक भी अनुपलब्धि को कारण मानते हुए भी उसमें कारणता स्वीकार नहीं करते । किन्तु अद्वैतवाद में इन्द्रिय को करण न मानने से इन्द्रिय का अभाव से विशेषणता सम्बन्ध नहीं माना जाता ।

वेदान्त परिभाषा रचयिता के पुत्र ने ही उस ग्रन्थ की टीका की है, उसमें न्यायमत के संस्कारों की अधिकता थी । उनके अनुसार अनुपलब्धि प्रमाण पृथक् नहीं है, वरन् इन्द्रिय से ही अभाव ज्ञान होता है । यदि कहे कि अभाव से इन्द्रिय-सम्बन्ध नहीं होता और जब तक विषय से सम्बन्ध न हो तब तक इन्द्रिय जन्य ज्ञान भी नहीं हो सकता न्यायमतानुसार मान्य विशेषणता और स्वसम्बध विशेषणता सम्बन्ध अप्रसिद्ध है । एसा अद्वैत—वादियों का कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि भूतल घटाभाव वाला है, यह प्रतीति सभी मानते हैं । इसी प्रतीति से घटाभाव में आधेयता और भूतल में अधिकरणता की प्रतीति होती है । परस्पर के सम्बन्ध बिना आधाराधेय भाव की असंभावना से भूतलादि अधिकरण में अभाव का सम्बन्ध सर्व सम्मत है । अभाव को प्रत्यक्ष न मानने वालों जो भी अभाव तथा भूतल

आदि में अभाव की अधिकरणता दोनों ही मान्य है, इसलिए अधिकरण से अभाव का सम्बन्ध सभी अंगीकार करते हैं। फिर व्यवहार के लिए उस सम्बन्ध का कोई नाम होना आवश्यक होने के कारण ही अधिकरण में अभाव के सम्बन्ध को विशेषणता सम्बन्ध नाम दिया गया है। इसलिए विशेषणता सम्बन्ध और इन्द्रिय एवं अधिकरण का संयोग सम्बन्ध दोनों ही अप्रसिद्ध नहीं माने जा सकते।

'निघटं भूतलं पश्यामि' अर्थात् 'भूतल को घट-रहित देखता हूँ ऐसा अनुव्यवसाय भी होने के कारण भूतलादि में अभावज्ञान का होना नेत्रादिजन्य ही है, क्योंकि नेत्रजन्य ज्ञान होने पर 'देखता हूँ' यह अनुव्यवसाय बनता है। पर, अद्वैतमत में भूतलज्ञान नेत्रजन्य और घटाभाव-ज्ञान अनुपलब्धिजन्य है, किन्तु ऐसा होने पर तो अनुव्यवसाय के ज्ञान में स्वविषय व्यवसाय की विलक्षणता प्रतीत होनी चाहिए जो कि नहीं होती। जैसे 'पर्वतोवह्निमान्' का ज्ञान पर्वतांश में प्रत्यक्ष और वह्नि-अंश में अनुमतिरूप है और उसका यह अनुव्यवसाय भी होता है कि 'मैं पर्वत को देखता और वह्नि का अनुमान करता हूँ' इसमें व्यवसाय की विलक्षणता भी प्रतीति होती है, जो कि यहाँ नेत्रजन्यत्व एवं अनुमानजन्यत्व हैं। इसी प्रकार अभावज्ञान में भी नेत्रजन्यत्व और अनुपलब्धिजन्यत्व विलक्षणता होती तो उसकी प्रतीति अनुव्यवसाय में भी होनी चाहिए थी। किन्तु यहाँ अनुव्यवसाय में केवल नेत्रजन्यत्व की प्रतीति होने से अभावज्ञान को इन्द्रियजन्य ही मानना चाहिए। अद्वैतवादी वैसा न मानें तो भी वे उसे अनुपलब्धिजन्य अंगीकार करके प्रत्यक्ष रूप ही बताते हैं, जो कि समीचीन नहीं। क्योंकि इस मान्यता से तो 'प्रत्यक्षज्ञान इंद्रियजन्य ही होता है' इस नियम में बाधा उपस्थित हो जायगी।

इस प्रकार वेदान्त परिभाषा के टीकाकार ने न्यायमत का उज्जीवन लिखा वह सभी अद्वैत ग्रन्थों के विरुद्ध एव असंगत हैं। उसका समाधान यह है —

(१) अभाव को अपने अधिकरण से सम्बन्ध सर्व समस्त एवं प्रसिद्ध बताना समीचीन नहीं। क्योंकि अभाव और अधि— करण इष्ट होने पर भी उनमें परस्पर विशेषणता सम्बन्ध मान कर प्रत्यक्ष ज्ञान की करणता मानना प्रसिद्ध नहीं है। अभाव ज्ञान को इन्द्रियजन्य मानने वालों के मत में ही इन्द्रियजन्य ज्ञान का कारण विशेषणता सम्बन्ध को माना गया है।

(२) 'निर्घटं भूतलं पश्यामि' ऐसा अनुव्यवसाय न होना भी असम्भव है। क्योंकि 'मैं घटाभाव विशिष्ट भूतल के चाक्षुषज्ञान से युक्त हूँ' इस वाक्य से यही अनुव्यवसाय होता है इसमें घटाभाव विशेषण और भूतल विशेष्य है। इससे चाक्षुषज्ञान की विषयता विशेषण रूप घटाभाव में नहीं, वरन् विशेष्यरूप भूतल में है। इस पर भी यह विषयता घटाभाव विशिष्ट भूतल में भासती है। क्योंकि, व्यवहार में कहीं विशेषणमात्र का कहीं विशेष्यमात्र का धर्म और कहीं विशेषण-विशेष्य दोनों के धर्म विशिष्ट में प्रतीत होने का नियम है, जैसे दण्डीं पुरुष के ज्ञान में दण्ड-विशेषण और पुरुष विशेष्य है और जहाँ दण्ड नहीं, केवल पुरुष है, वहाँ दण्डी पुरुष के न होने की प्रतीति होती है। इस प्रकार अभाव विशेषण रूप दण्ड का होते हुए विशेष्य रूप पुरुष का होते हुए भी विशेषणमात्र में विद्यमान अभाव की प्रतीति दण्ड विशिष्ट पुरुष में होती है। जहाँ दण्ड होते हुए भी पुरुष का अभाव होने के कारण विशेष्य मात्र का अभाव होते हुए भी दंड और पुरुष दोनों के न होने के कारण दण्डविशिष्ट पुरुष में ही उसकी प्रतीति होती है। क्योंकि दण्डी पुरुषो नास्ति' में विशिष्ट में विशेषण और विशेष्य दोनों का ही अभाव भासित होता

है। इसी प्रकार घट रहित भूतल को देखता हूँ'इस वाक्य में भी चाक्षुषज्ञान की विषयता विशेषण रूप घटाभाव में न होकर विशेष्य रूप भूतल में है, तो भी उस विषयता की प्रतीति घटाभाव विशिष्ट भूतल में होती है।

(३) यह कहा गया कि घटाभाव और भूतल दोनों के ही विजातीय ज्ञान के विषय होने पर 'मैं पर्वत को देखता और वहाँ अग्नि का अनुमान करता हूँ' ऐसा विलक्षण व्यवसाय के ज्ञान का विषय कर्ता विलक्षण अनुव्यवसाय होने के समान अनुव्यवसाय में विलक्षणता यहाँ होनी चाहिए तो यह कहना भी नहीं बनता। क्योंकि अभाव ज्ञान को अनुपलब्धि प्रमाण से उत्पन्न हुआ मानने वालों को घट को अनुपलब्धि से घटाभाव का निश्चय करता और भूतल को नेत्र से देखता हूँ। ऐसा अबाधित अनुव्यवसाय होने से घटाभाव और भूतल में व्यवसाय ज्ञान को विलक्षण विषयता प्रतीत होती है।

(४) अद्वैतवाद में यह दोष कहना कि वे अभाव ज्ञान को अनुपलब्धि से उत्पन्न समझकर प्रत्यक्ष कहते है और प्रत्यक्षाज्ञान इन्द्रियजन्य ही होता है, अनुपलब्धिवादी के मत में इस नियम का बाधक है और सिद्धान्ती के अज्ञान से होने के कारण समीचीन नहीं है। क्योंकि सिद्धान्त में अनुपलब्धि प्रमाण से उत्पन्न सभी अभावों के ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है पर, कोई ज्ञान प्रत्यक्ष और कोई ज्ञान अप्रत्यक्ष माना है। जैसे वायु में रूपा और परमाणु में महत्वाभाव का ज्ञान अनुपलब्धिजन्य होते हुए भी अप्रत्यक्ष माना गया है। यह विषय पहले प्रतिपादन कर चुके है। वेदान्त परिभाषादि ग्रन्थों में जहाँ कहीं अभावज्ञान प्रत्यक्ष कहा है, वहाँ वह प्रौढिवाद से ही कहा है। प्रतिवादी की उक्ति को स्वीकार करके भी अपने मत में दोष के परिहार करने को प्रौढिवाद कहा जाता है।

(५)प्रतिवादी का यह कहना भी कि अभाव ज्ञान को इन्द्रियजन्य न मानकर प्रत्यक्ष रूप मानें तो प्रत्यक्षज्ञान के इन्द्रियजन्य होने के नियम में बाधा उपस्थित होगी । समीचीन नहीं है। क्योंकि यहां यह शंका होता है कि क्या सभी प्रत्यक्षज्ञान इन्द्रियजन्य ही होते हैं ? अथवा इन्द्रियजन्य सभी ज्ञान प्रत्यक्ष ही होते हैं, परोक्ष नहीं होते ? इन दोनों पक्षों में प्रत्यक्ष पक्ष तो ठीक नही बनता, क्योंकि ईश्वर का ज्ञान प्रत्यक्ष होते हुए भी इन्द्रियजन्य नहीं है। ईश्वर का ज्ञान न्यायमत में नित्य है, इसलिए उसे इन्द्रियजन्य नहीं कह सकते और सिद्धान्त में मायाजन्य है तथा ईश्वर के इन्द्रिय हैं भी नहीं, इसलिए उसका इन्द्रियजन्य होना असंभव है और 'दसवांतू है' इस वाक्य से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष होते हुए भी इन्द्रियजन्य नहीं होता। यदि कहें कि दसवें पुरुष को अपने देह में दसमता का ज्ञान होता है और उस देह के नेत्रयोग्य होने के कारण दसवें का ज्ञान नेत्रजन्य है, तो यह कहना भी नहीं बनता। क्योकि मन्द नेत्र वाले को भी इस वाक्य के सुनते ही अपने में दसवें का ज्ञान हो जाता है। यदि इसे नेत्रजन्य ही मानें तो इसकी उत्पत्ति नेत्र—व्यापार के बिना नहीं होना चाहिए, किन्तु नेत्र व्यापार के बिना होता हुआ देखा जाता है, इसलिए उसे नेत्रजन्य नहीं मान सकते।

यदि कहें कि दसवें का ज्ञान मनोजन्य होनेसे इन्द्रियजन्य हैं, तो यह कहना भी अयुक्त है। क्योंकि देवदत्त आदि आत्मा के नाम नहीं,वरन् न्यायमत में यह नाम शरीर विशिष्ट आत्मा के और वेदान्त में सूक्ष्मविशिष्ट स्थूल देह के माने गये हैं। यदि कहें कि मन का अवधान होने पर ही दसवें का ज्ञान होता है जो कि विक्षिप्त मन को नहीं हो सकता। इसलिए अन्वय-व्यतिरेक से भी इस ज्ञान का हेतु मन ही है,तो दसवें का ज्ञान मानस होने से इन्द्रियजन्य हो यह भी नहीं हो सकता। क्योंकि ऐसे अन्वय-व्यति-

रेक से सब ज्ञानों का हेतु मन ही होता है। विक्षिप्त मानस को किसी प्रमाण से ज्ञान न होने और संयत मानस को सर्व ज्ञान होने से तो सब ज्ञानों को मानस कहना उचित है। सब ज्ञानों का कारण सामान्य और सर्व प्रमाणों का सहकारी होते हुए भी मनसहित चक्षु से होने वाले चाक्षुष ज्ञानों में से मन सहित अनुमानजन्य ज्ञान को अनुमिति ज्ञान, मनयुक्त शब्द प्रमाणजन्य ज्ञान को शाब्दज्ञान और अन्य प्रमाण के अभाव में केवल मन से होने वाले ज्ञान को मानसज्ञान कहते हैं। वैसे तो मन से ही आन्तरिक सुख-दुखादि का ज्ञान होने के कारण आन्तर पदार्थों के ज्ञान को ही मानस कहते हैं और क्योंकि इन्द्रिय-अनुमान आदि के बिना केवल मन से ही बाह्य पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए यह नहीं कह सकते कि दसवें का ज्ञान मानस है। ऐसा न्यायसम्मत मत है, किन्तु सिद्धान्त में कोई ज्ञान मानस नहीं है, क्योंकि स्वयं प्रकाश शुद्ध आत्मा के प्रकाश में किसी प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है, इसलिए आत्मज्ञान मानस नहीं हो सकता और सुखादि साक्षीभास्य हैं। क्योंकि सुख-दुःख के उत्पन्न होते में इष्ट-अनिष्ट का सम्बन्ध निमित्त होने से सुख-दुःख को विषय करने वाली जो अन्तःकरण की वृत्ति होती, जिसकी उत्पत्ति में किसी प्रमाण की अपेक्षा न होने से ही सुख-दुःख आदि साक्षीभास्य कहलाते हैं। यद्यपि जिस वृत्ति मे आरूढ साक्षी जिस विषय का प्रकाश करता है, वह वृत्ति अनुमानादि प्रमाणजन्य हो तो वह विषय साक्षी—भास्य न होकर प्रमाणजन्यज्ञान की विषय हो होगा किन्तु किसी प्रमाण के व्यापार बिना ही उत्पन्न हुई वृत्ति में आरूढ़ साक्षी जिस विषय को प्रकाशित करता है, उस विषय को साक्षी भास्य कहते है। इस प्रकार सुखादिगोचर वृत्ति प्रमाणजन्य नहीं वरन् संस्कारजन्य होती हैं और इसी कारण सुखादि साक्षीभास्य कहलाते हैं।

पूर्वप्रसंगानुसार सुखादि का ज्ञान मानस नहीं है, वरन् सुखादि साक्षीभास्य हैं, क्योंकि वहाँ मन के किसी असामान्य विषय की उपलब्धि नहीं होती । इसलिए अन्तःकरण के सर्वज्ञानों का उपादानरूप होने पर भी नैयायिकों का यह कहना कि 'मनरूप इन्द्रिय ज्ञान का स्वतन्त्र करण कहलाती है' युक्ति संगत नहीं है । इस प्रकार दसवें का ज्ञान मानस न होकर शब्द प्रमाण जन्य एवं प्रत्यक्ष है । इससे सिद्ध हुआ कि प्रत्यक्ष ज्ञानों के इन्द्रियजन्य होने की प्रथम पक्ष की मान्यता नियम विरुद्ध है और इन्द्रियजन्य ज्ञानों के ही प्रत्यक्ष होने की सिरे पक्ष की मान्यता में सिद्धान्त की हानि नहीं होती । क्योंकि सिद्धान्तानुसार इन्द्रिय जन्य ज्ञान अप्रत्यक्षरूप नहीं, वरन् सर्वत्र प्रत्यक्ष होते हैं, पर, सब्दादि से भी कहीं प्रत्यक्षज्ञान होना संभव है ।

यथार्थ में अभावज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं, वरन् योग्यागुपलब्धि प्रमाण से उत्पन्न हैं । न्यायमत में जितने भी अभावज्ञान इन्द्रियजन्य स्वीकार किये गये हैं, वे सब वेदान्तमत में अनुपलब्धिजन्य ही हैं । इस प्रकार अभावज्ञान अनुपलब्धि प्रमाणजन्य तथा अभावज्ञान के उत्पन्न होने में अनुपलब्धिव्यापार-रहित असामान्य कारण होने से अभावज्ञान की असामान्य कारणता को ही अनुपलब्धि प्रमाण का लक्षण समझना चाहिए ।

जिज्ञासु को अनुपलब्धि प्रमाण के निरूपण का उपयोग यह है कि 'नेहनानास्ति किंचन' अर्थात् 'यहाँ किंचित् भी नानात्व नहीं है' इत्यादि श्रुति प्रपंच का तीनों काल में जैसा अभाव बताती है, वैसा त्रैकालिक अभाव बनता नहीं । इसमें श्रुति का अभिप्राय प्रपंच के परमार्थिकत्व विशिष्ट त्रैकालिक अभाव को ही बताना है, जिसकी सिद्धि अनुपलब्धि प्रमाण से भी हो सकती है ।

इसे स्पष्ट रूप में इस प्रकार समझना चाहिए कि यदि परमार्थरूप से यह प्रपंच होता तो जैसे इसकी उपलब्धि अपने काल में और जाग्रत अवस्था में होती है, वैसे ही स्वप्न और सुषुप्ति काल में भी होती है। किन्तु प्रपंच की उपलब्धि परमार्थरूप से सर्व काल और सर्व अवस्थाओं में न होकर अपने ही काल में होती है, इसलिए परमार्थरूप से इसका अभाव कहा जाता है।

इस प्रकार प्रपंच के अभाव का अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि से हो सकता है। जिज्ञासु के लिए अन्य अनेक अभावों के ज्ञान भी अपेक्षित हैं, जो कि अनुपलब्धि प्रमाण से ही हो सकते हैं।

॥ षष्ठ प्रकाश समाप्त ॥

सप्तम प्रकाश

स्वतः प्रमात्व प्रमाण निरूपण

समवायी, असमवायी, निमित्त और संयोग के लक्षण

कारण उपादान और निमित्त के भेद से दो प्रकार का होता है। जिसके स्वरूप में कार्य की स्थिति हो वह उपादान कारण है, उसी को समवायी कारण कहते हैं। जैसे कि कपाल घट का उपादान कारण होता है।

कार्य से तटस्थ रह कर जो कार्य उत्पन्न करे वह निमित्त कारण है। जैसे कि कुम्हार, चक्र, दण्ड आदि घट के निमित्त कारण होते हैं। इस प्रकार कारण के यह दो भेद माने गए हैं।

परन्तु न्याय और वैशेषिक मतों में कारण के तीन भेद माने गए हैं—(१) समवायी, (२) असमवायी और (३) निमित्त। जो कारण कार्य के समवायि कारण से सम्बन्ध रख कर कार्यको उत्पन्न करने वाला हो, वह 'असमवायि कारण' कहलाता है। जैसे कि घट का असमवायि कारण कपाल-संयोग है, क्योंकि घट के समवायी कारण कपाल से सम्बन्धित और घट का जनक दो कपालों का संयोग ही है। नैयायिकों के अनुसार यदि समवायि कारण के संयोग को कार्य का जनक न मानने से वियुक्त कपालों से ही घट उत्पन्न होजाना चाहिए। इस प्रकार उन्होंने द्रव्योत्पत्ति में अवयवों के संयोग को कारण रूप माना है। उस अवयव संयोग में न तो समवायि कारणता बनती है, और न निमित्त

कारणता ही क्योंकि कार्य की स्थिति अवयव-संयोग में नहीं, वरन् अपने अवयवों में होनेसे अवयव-सयोग में समवायिकारणता असंभव है और अवयव संयोग कार्य से तटस्थ भी नहीं है,वरन् स्वावयव में कार्यद्रव्य और अवयव-संयोग दोनों ही समानाधिकरण रहने से अवयव संयोग में निमित्त कारणता नहीं बनती। इसीलिए तीन प्रकार के कारण अंगीकार किये गये हैं।

जैसे द्रव्योत्पत्ति में अवयव संयोग समवायि कारण है, वैसे ही गुणोत्पत्ति में कहीं गुण और कहीं क्रिया असमवायि कारण माने गये हैं। जैसे पीले तन्तु से नीला वस्त्र ही उत्पन्न हो सकता है, पीला, लाल या किसी अन्य रंग का नहीं हो सकता, इसलिए उसके नीले होने में तन्तु का नीला रंग ही कारण है। वस्त्र के उस नीले रूप का समवायी कारण वस्त्र ही है, तन्तु का नीलरूप नहीं। वैसे ही वस्त्र का नीला रूप वस्त्र के नीले रूप से तटस्थ भी नहीं रह सकता, वरन् वस्त्र और तन्तु दोनों का नीलारूप तन्तु में ही रहता होने से और दोनों के समानाधिकरण होने से दोनों सम्बन्धी हैं, तटस्थ या असम्बन्धी नहीं हो सकते। यद्यपि समवाय सम्बन्ध से वस्त्र का नील रूप वस्त्र में रहता है, तो भी अपने समवायि-समवाय सम्बन्ध से तो वस्त्र का नीलरूप तन्तु में ही रहता है। इस प्रकार वस्त्र के नील रूप से तन्तु का नील रूप तटस्थ न होने से निमित्त कारण नहीं, वरन् तन्तु का नील रूप वस्त्र के नील रूप का असमवायी कारण है।

संयोग-प्रसंग के अनेक स्थानों में आने से गुणोत्पत्ति में क्रिया की असमवायि कारणता का उदाहरण कहने के लिए पहले संयोग की उत्पत्ति का निरूपण करते हैं। कर्मज और संयोगज के भेद से संयोग दो प्रकार का होता है। क्रिया जिसकी उत्पत्ति

में असमवायि कारण हो, वह कर्मज संयोग और संयोगरूप असमवायि कारण से जो उत्पन्न हो वह संयोगज संयोग होता है।

कर्मज संयोग के भी दो प्रकारहैं—(१) अन्यतर कर्मज और (२) उभय कर्मज । इनमें से अन्यतरकर्मज सयोग वह है जो संयोग के आश्रयरूप दो पदार्थों में एक की क्रिया से संयोग हो, जैसे कि पक्षी की क्रिया से वृक्ष और पक्षी का संयोग होने पर अन्तरकर्मज संयोग बनता है। उसमें वृक्ष और पक्षी दोनों ही उस सयोग के सकवायि कारण होते हैं, उनमें एक समवायि कारण पक्षी में उसकी क्रिया का रहना समवाय-सम्बन्ध से है, वह पक्षि-सम्बन्धिनी क्रिया ही पक्षी और वृक्ष के संयोग की जननी होती है और इसीलिए पक्षी की वह क्रिया दोनों के संयोग का असमवायि कारण होती है।

उभयकर्मज संयोग वह है, जिसमें मेषद्वय की क्रिया से मेष-द्वय का संयोग होता हो, क्योंकि उस संयोग की आश्रय दोनों मेष समवायि कारण और उन दोनों की क्रिया असमवायि कारण होती है। जहाँ हाथ की क्रिया से हाथ और वृक्ष का संयोग हो, वहाँ हाथ-वृक्ष परस्पर संयोग होने वाले व्यवहार के समान कार्य वृक्ष संयुक्त होने का व्यवहार भी हो सकता है। जो संयोग वाला है, वह संयुक्त कहलाता है। यहाँ हाथ और वृक्ष के संयोग में हाथ की क्रिया असमवायि कारण है, इसी प्रकार यदि शरीर और वृक्ष में भी क्रिया हो तो काय-वृक्ष संयोग भी क्रियाजन्य हो सके, पर वृक्ष के समान शरीर में भी क्रिया नहीं है, क्योंकि अवयवी की क्रिया तभी कहलाती है, जबकि सभी अवयवों में क्रिया हो और यहाँ हाथ के अतिरिक्त और सभी अवयव निष्क्रिय रहते हैं, इसलिए शरीर में क्रिया का कहना ठीक नहीं होता।

इसलिए कार्य-तरु संयोग में काय-क्रिया को असमवायि कहना भी असम्भव है, बरन् अन्यतरकर्मज हाथ-वृक्ष का संयोग ही शरीर-वृक्ष संयोग का असमवायि कारण होता है। स्व अर्थात् हाथ-वक्ष-संयोग, उसका समवायि हाथ, उसमें समवेत शरीर, उसका हाथमें समवेतत्वधर्म रूप सम्बन्ध होने से परम्परा सम्बन्ध का समानाधिकरण्य के सम्बन्ध में पर्यवसान होता है। समानाधिकरण्य का अर्थ एक अधिकरण में वर्तन है और एक अधिकरण में वृत्ति वालों को समानाधिकरण कहते हैं। यहाँ हाथवृक्ष का संयोग समवाय सम्बन्ध से हाथ में रहता है और शरीर भी समवाय सम्बन्ध से हाथ में रहने के कारण दोनों ही समानाधिकरण हैं और इसीलिए उन दोनों का समानाधिकरण सम्बन्ध भी है।

इस स्थल में शरीर और उक्त संयोग दोनों ही साक्षात् सम्बन्ध से हाथ में रहने के कारण समानाधिकरण हैं, किन्तु जहाँ एक तो साक्षात् सम्बन्धसे रहे और दूसरा परम्परा सम्बन्ध से तो वहाँ भी समानाधिकरण ही कहलायगा और उनका समानाधिकरण्य सम्बन्ध ही बनेगा, यह प्रत्यक्ष प्रमाण में बता चुके हैं। हाथ-वृक्ष-संयोग की प्रतीति होने पर ही शरीर-वृक्ष संयोग की प्रतीति सम्भव है, इसलिए शरीर वृक्ष-संयोग का कारण हाथ-वृक्ष-संयोग ही है। यह संयोगज संयोग का उ.ाहरण हुआ, इसी को कारण अकारणजन्य कार्य-अकार्य संयोग भी कहते हैं। यहाँ दो संयोगों में हाथ-वृक्ष-संयोग 'हेतु-संयो।' और शरीर-वृक्ष-संयोग 'फल-संयोग' होता है। इसमें कारण शब्द से फल संयोग के आश्रय का समवायि कारण लिया जाता है, इसलिए कारण शब्द से हाथ का और अकारण शब्द से वृक्ष का ग्रहण होता है, क्योंकि वृक्ष और शरीर का समवायि कारण वक्ष नहीं है, इसलिए वृक्ष को अकारण मानागया है। इसी प्रकार

है ? संयोग के आश्रय से जन्य का ग्रहण कार्य-शब्द से तथा हेतु संयोग के आश्रय से अजन्य का ग्रहण अकार्य शब्द से होता है। इस प्रकार कारण हाथ और अकारण वृक्ष के संयोग से कार्य-रूप शरीर और अकार्यरूप वृक्ष का संयोग उत्पन्न होजाता है। इसलिए यह संयोगज संयोग कारण अकारण संयोगजन्य कार्य-अकार्य-संयोग कह सकते हैं, अन्यथा यह कर्मज संयोग तो है ही।

जहाँ कपाल के कर्म से दो का संयोग हो वहाँ भी कर्मज संयोग ही है, क्योंकि जिस कपाल के कर्म से दो कपालों का संयोग होता है, उसी कर्म से कपाल काश का संयोग भी उत्पन्न होता है और क्योंकि कपालद्वय संयोग और कपालाकाश संयोग दोनों एक ही क्षण में उत्पन्न होते हैं, इसलिए उनका परस्पर कार्य-कारण भाव नहीं बनता। इस प्रकार कपालद्वयसंयोग के समान कपालाकाश-संयोग के भी कपाल की क्रिया से उत्पन्न होने से इसे कर्मज संयोग ही समझना चाहिए। इस प्रकार से तीन प्रकार का संयोग मानते हैं।

किसी ग्रन्थकार ने चौथे प्रकार का संयोग भी सहज संयोग के नाम से माना है। जैसे कि स्वर्ण में पीतरूप (पीले वर्ण का) और गुरुत्व का आश्रय रूप पार्थिव भाग तथा अग्नि के संयोग से नष्ट न होने वाला द्रव्यत्वाश्रयरूप तैजस भाग, यह दोनों होते हैं और उन दोनों का सहज संयोग है। यदि स्वर्ण को केवल पार्थिव भाग कहें तो लाख आदि पार्थिवद्रव्यत्व के अग्नि संयोग से नष्ट होने के समान स्वर्ण के द्रव्यत्व का भी नाश सम्भव होता और यदि स्वर्ण को केवल तैजस मानें उसमें पीतरूपत्व और गुरुत्व का अभाव होता, पर, वैसा न होने से यही मानना [illegible] है कि स्वर्ण पार्थिव और तैजस दोनों भागों से युक्त है। मीमांस[illegible] के अनुसार यही नित्य संयोग कहलाता है। इस प्रकार अ[illegible]

संयोग द्रव्य की उत्पत्ति में असमवायि कारण और गुणोत्पत्ति में कहीं गुण, कहीं क्रिया असमवायि कारण है। इस प्रकार न्याय और वैशेषिक के अनुसार समवायि, असमवायि और निमित्त, यह तीन प्रकार के कारण होते हैं।

असमवायि-कारण का खण्डन

परन्तु न्याय और वैशेषिक से भिन्न मतों में उपादान और निमित्त दो कारण ही अंगीकार किये गये हैं उक्त दोनों मत जिसे असमवायि कारण कहते हैं, उससे भी निमत्त कारण ही माना है। तीन कारण मानने वालों ने पहले कहा था कि असमवायि कारण में निमित्त कारण के लक्षण का प्रवेश नहीं, इस पर दो कारण मानने वाले इस प्रकार समाधान करते हैं—

जहाँ तीन कारण कहने वाले निमित्त कारण का लक्षण कार्य से तटस्थ और कार्य का जनक होना बताते हैं। वह निमित्त कारण अनेक प्रकार के है, उनमें से कोई तो कार्य के उपादान में समवेत होता है और कोई उपादान के उपादान में, कोई कर्त्ता-रूप से चेतन एवं स्वतन्त्र होता है और कोई जड़ होता है। यदि थोड़ी सी विलक्षणता से ही असमवायि कारण को पृथक् मान लें तो घट के कारण कपाल संयोग में और घट रूप के कारणकपाल रूप में भी कारणता का भेद स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि घट का कारण कार्य के उपादान में और घटरूप का कारण कपालरूप कार्य के उपादान के उपादान में समवेत है। अतएव, इन दोनों में भी कारण का भेद होने से एक असमवायि कारण ही नहीं, वरन् कोई चौथा कारण और मानना चाहिए। परन्तु कुम्हार और दण्डचक्ररूप कारणों में जड़-चेतन के भेद से अन्तर होते हुए भी दोनों का निमित्त कारण एक ही होता है। निर्ि

कारण में अन्य भी अनेक विलक्षणताएँ उपलब्ध होती हैं। जैसे कि कोई कारण कार्य का समकालीन होता है और कोई कारण कार्य से पूर्व कालीन होता है। जैसे जल के पात्र के सन्निधानसे भित्ति पर धूप का प्रतिबिम्ब पड़ता है,उसका निमित्तकारण जलपात्र है, क्योंकि उसके अपसारणसे वह प्रतिबिम्ब नहींरहता। इसलिएसन्निहित जल पात्रके प्रति बिम्ब का निमित्त कारण कार्य-कालीन होता है.और प्रत्यक्ष ज्ञानमें अपने ज्ञानके निमित्त कारण कारण बननै वाले विषय भी का कार्य कालीन ही होते हैं। इस प्रकार निमित्त कारण के अनेक भेद होने से थोड़े से भेद से ही असमवायि कारण को भिन्न मान लें तीन कारण ही क्यों, अनेक कारण मानने होंगे। अतएव समवायि कारण से भिन्न सभी कारणों में एक प्रकार की कारणता मानना ही उपयुक्त है, चाहे उसका नाम निमित्त कारण रहे अथवा असमवायि कारण। इस प्रकार के दो भेद समवायि कारण और निमित्त कारण ही होते हैं।

इस प्रकार कारण क दो भेक अद्वैतज्ञान में उपयोगी होते हुए भी अन्य प्रकार से कारण की परस्पर विलणक्षना कहना अनुपयोगी ही है। इसलिए तत्वज्ञान में उपयुक्त पदार्थ के निरूपण में कारण का तीसरा भेद बताना ठीक नहीं। न्याय और वंशेषिक मत के अनुसार पहले तो तत्वज्ञान में उपयोगी पदार्थ के निरूपण की प्रतिज्ञा की और फिर अनुपयोगी पदार्थों का विस्तृत निरूपण किया, इससे प्रतिज्ञा का बाध स्पष्ट है। इस पर भी तार्किक यदि ऐसा कहें कि तत्वज्ञान का हेतु मनन है और इतर पदार्थों के ज्ञानाभाव में इतर भेद की अनुमिति रूप मनन में इतर पदार्थों का निरूपण भी तत्वज्ञान में उपयोगी होता है।

तार्किक का उक्त कथन नहीं बनता, क्योंकि सुने हुए अर्थ के निश्चय में अनुकूल तथा सन्देह की निवृत्ति करने वाली युक्तियों

के चिन्तन को मनन कहते है। इसके विपरीत भेदज्ञान से अनर्थ उत्पन्न होता है। मनन पद से भी आत्मा का इतर भेद भासित नहीं होता, क्योंकि मनन का अर्थ केवल चिन्तन ही है, जिसका पर्यवसान अभेद-चिन्तन में ही है।

यदि तार्किक यह कहें कि कार्य की उत्पत्ति तीन प्रकार के कारण से ही सम्भव है। पाँच प्रकार के अभावों में प्रागभाव के अनादि-सान्त होने से उसकी उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु नाश होता है। अन्योऽन्याभाव और अत्यन्ताभाव दोनों के अनादि अनन्त होने से, इनकी भी उत्पत्ति नहीं। सामयिकाभाव सादि-सान्त होने से उत्पत्ति-नाश वाला और प्रध्वंसाभाव सादि-अनन्त होने से उत्पत्ति वाला तो है, किन्तु नाश वाला नहीं है। इस प्रकार सामयिकाभाव और प्रध्वंसाभाव दोनों ही उत्पत्ति वाले होने से कार्य हैं। पर, इन दोनों के समवायि या असमवायि कारण नहीं हो सकते, क्योंकि समवायि कारण उसे कहते हैं, जिसमें कार्य की उत्पत्ति समवाय सम्बन्ध से होती हो। किन्तु अभाव के किसी में भी समवाय सम्बन्ध से न रहने के कारण अभाव का समवायि कारण भी नहीं हो सकता।

समवयि कारण से सम्बन्धित कार्य के जनक को असमवायि कारण कहते हैं। किन्तु जब अभाव का समवायि कारण ही नहीं, तब अभाव के समवायि कारण से सम्बन्धित कार्य के जनक का होना भी असम्भव है और इसीलिए उसका असमवायि कारण भी नहीं हो सकता। अतएव इन दोनों अभावों की उत्पत्ति निमित्त कारण मात्र से है।

उक्त शंका का निराकरण इस प्रकार करते है कि सर्ग के आरम्भ में ईश्वर की इच्छा से परमाणु में क्रिया होने के कारण तर्क तर्क में व्यभिचार उपस्थित होता है। क्योंकि वहाँ परमाणु

में क्रिया का समवायि कारण परमाणु और निमित्त कारण ईश्वर की इच्छा आदि हैं। वहाँ यदि परमाणु की क्रिया का जनक कोई हो तो उसे समवायि कारण कहें, किन्तु वैसा कोई है ही नहीं तो कैसे कह सकते हैं? इसलिए सर्गारम्भ में परमाणु की क्रिया को दो कारणों से उत्पन्न मानना चाहिए तीन कारणों से उत्पन्न नहीं। इस प्रकार तार्किक के उक्त नियम के असम्भव होने से उसका खण्डन होता है।

वृत्ति ज्ञान का उपादान और निमित्त कारण

अन्तःकरण की ज्ञानाकार वृत्ति का उपादान कारण अन्तःकरण और निमित्त कारण प्रत्यक्षादि प्रमाण एवं इन्द्रिय-संयोगादि व्यापार हैं। ईश्वर की ज्ञानरूप वृत्ति का उपादान माया और निमित्त कारण अदृष्टादि हैं। इसके विपरीत भ्रमरूप वृत्ति का उपादान अविद्या और निमित्त कारण दोष होता है। इस प्रकार वृत्ति के यह कारण कहे गये हैं।

ग्रन्थारम्भ में वृत्ति का जो लक्षण कहा है, उसके अनुसार विषय के प्रकाश में हेतु अन्तःकरण और अविद्या का परिणाम वृत्ति है। अनेक ग्रन्थों में अज्ञान नष्ट करने वाले परिणाम को वृत्ति बताया है। यद्यपि विषय चेतन में स्थित अज्ञान तो प्रत्यक्ष-ज्ञान के बिना नष्ट नहीं होता और प्रमातचेतन में स्थित अज्ञान परोक्ष ज्ञान से भी मिट सकता है और असत्वापादक अज्ञानांश का नाश भी परोक्ष ज्ञान से सम्भव है, इसलिए परोक्षज्ञान में भी उक्त लक्षण की अव्याप्ति नहीं बनती, तो भी सुख-दुःखाकार वृत्ति, ईश्वर की मायारूप वृत्ति और अविद्या की भ्रमरूप वृत्ति में उक्त लक्षण की अव्याप्ति होती ही है। क्योंकि पहले सुखादि उत्पन्न हों और पीछे उनका ज्ञान हो तो सुखादि के ज्ञान से उन

का अभाव नष्ट होना बन सकता था, किन्तु अज्ञात सुखादि की उत्पत्ति कभी नहीं होती और सुखादि एवं उनके ज्ञान की उत्पत्ति समकालीन ही होने से अज्ञात सुखादि के न होने से सुखादिगोचर वृत्ति से अज्ञान का नाश असम्भव है। वैसे ही ईश्वर को सभी पदार्थ सदैव प्रत्यक्ष होने से वहाँ तो अज्ञानाभाव से ही माया की वृत्ति रूप ज्ञान से अज्ञान का नाश नहीं हो सकता। इसी प्रकार शुक्ति-रजतादि भ्रमरूप पदार्थों तथा उनके ज्ञानों की उत्पत्ति एक ही समय में होने से उस भ्रमवृत्ति से अज्ञान नष्ट नहीं हो सकता। वैसे ही धारावाहिक वृत्ति होने पर भी द्वितीय आदि वृत्तियों में उक्त लक्षण की अव्याप्ति होने से यह सिद्ध होता है कि विषय-प्रकाशक परिणाम ही वृत्ति है, अज्ञाननाशक परिणाम वृत्ति नहीं है। अभिप्राय यह कि अस्ति व्यवहार और अन्तःकरण का परिणाम वृत्ति कहलाता है, क्योंकि प्रकाशक-परिणाम को वृत्ति कहने पर वृत्ति की प्रकाशकता अज्ञात पदार्थ को प्रकाशित करने वाली होगी।

यथार्थ में तो अनावृत्ति चेतन के सम्बन्ध से ही विषय का प्रकाश हो सकता है, तब विषय प्रकाशन की कल्पना नहीं बन सकती। इसलिए वृत्ति में अज्ञाननाशकता के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की प्रकाशकता न होने से वृत्ति के ऊपर कहे पहले लक्षण की भी दूसरे लक्षण के समान सुखादिगोचर वृत्ति में अव्याप्ति होगी। इस प्रकार अस्ति व्यवहार की हेतु अविद्या और अन्तःकरण के परिणाम को वृत्ति कहते हैं। इस प्रकार घटादि-गोचर अन्तःकरण की वृत्ति ही घटादि ज्ञान कहलाती है, यद्यपि अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार वृत्ति-अवच्छिन्न चेतन ही ज्ञान है, उसमें से बाधा-रहित विषयगोचर वृत्ति-अवच्छिन्न चेतन प्रमा-ज्ञान और बाधित रस्सी में सर्पादि तद्गोचर वृत्ति-अवच्छिन्न

चेतन अप्रमाज्ञान कहलाता है। तो भी चेतनमें ज्ञान प्रमा और अप्रमाशब्दों का प्रयोग वृत्ति के सम्बन्ध मात्र से ही होनेसे अनेक स्थानों में वृत्ति को भी ज्ञान कहा गया है। इस प्रकार प्रमा और अप्रमा के भेद से वृत्ति दो प्रकार की समझनी चाहिए।

प्रमा-अप्रमारूप वृत्तिज्ञान का भेद

प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप प्रमावृत्ति का सामान्य निरूपण हुआ। अब अप्रमा पर प्रकाश डालते हैं यथार्थ और अयथार्थ के भेद से अप्रमा भी दो प्रकार की है। इनमें ईश्वरीय ज्ञान और सुखादि-गोचर ज्ञान यथार्थ अप्रमा और सीप-रजतादि भ्रम अयथार्थ अप्रमा है। प्रमाणजन्य यथार्थ ज्ञान को प्रमा कहते हैं, क्योंकि ईश्वरीय ज्ञान और सुखादिगोचर ज्ञान किसी प्रमाण से उत्पन्न न होने से प्रमा नहीं होते और दोषजन्य होने से भ्रम भी नहीं है।

अनेक ग्रन्थों में प्रमा का जो लक्षण कहा है, उसके अनुसार ईश्वरीय ज्ञानादि भी यथार्थ एवं प्रमाज्ञान हैं। किन्तु यथार्थ और अयथार्थ के भेद से स्मृति के दो प्रकार हैं और वे दोनों ही प्रमा नहीं हो सकते। क्योंकि सीप-रजतादि ज्ञान स्मृति से भिन्न और अबाधित अर्थ को विषय करने वाले नहीं, वरन् बाधित अर्थ को ही विषय करने वाले होने से प्रमा नहीं हो सकते स्मृति-ज्ञान भी अबाधि अर्थ को विषय करता है, परन्तु स्मृतिज्ञान में प्रमा का व्यवहार नहीं होता। इसलिए स्मृति से भिन्न अबाधित अर्थगोचर प्रमा कहलाता है।

यद्यपि अन्य यथार्थ ज्ञानों की भाँति यथार्थ स्मृति भी संवादी प्रवृत्ति की जनक होती है,इसलिए प्रमा का लक्षण स्मृतिसामान्य ही मानना चाहिए। तो भी सवादी प्रवृत्ति में उपयुक्त प्रमात्व के

स्मृति में होने पर भी वह प्रमात्व अबाधित अर्थगोचरत्व में ही होता है, स्मृति में नहीं होता। क्योंकि लौकिक और शास्त्रीय के भेद से व्यवहार दो प्रकार का होता है। उनमें शास्त्र की परिभाषा से बाहर के जो शब्द लोक में प्रयुक्त हों, वह लौकिक व्यवहार और शास्त्र की परिभाषा के अनुसार जो शब्द प्रयुक्त हों वह शास्त्रीय व्यवहार माना जाता है। लौकिक व्यवहार में स्मृति में तो प्रमा का व्यवहार नहीं ही होता, और शास्त्रीय व्यवहार में भी स्मृति में प्रमा का व्यवहार नहीं किया जाता। परन्तु प्राचीन ग्रन्थकारों ने स्मृति से भिन्न जो यथार्थ ज्ञान है, उसी में प्रमा का व्यवहार किया है। इसलिए प्रमा का लक्षण स्मृति से व्यावृत्त करना ही युक्त है।

प्राचीन आचार्यों ने इसीलिए प्रमा के लक्षण में कहा है कि यथार्थ अनुभव ही प्रमा है, क्योंकि स्मृति से भिन्न ज्ञान ही अनुभव कहा गया होने से स्मृति में प्रमा-व्यावहार नहीं बनता। फिर, स्मृतिज्ञान प्रत्यक्षादि ज्ञानों से विलक्षण भी होता है,क्योंकि स्मृति में उस अनुभवत्व का अभाव है जो प्रत्यक्षादि सर्वज्ञानों में होता है। इससे अनुभवत्व के सत्वासत्व से प्रत्यक्षादि प्रमा और स्मृति को सजातीय नहीं मानते। जैसे कि प्रत्यक्ष अनुमिति और शाब्दादि प्रमा ज्ञानों में अपरोक्षत्व, अनुमितित्व और शाब्दत्वादि विलक्षण धर्म होते हैं, इससे प्रत्यक्षादि विजातीय प्रमा के करण प्रमाण भी प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्दादि भेद से परस्पर भिन्न हैं, वैसे ही स्मृति को भी सर्व अनुभवरूप प्रमा से विजातीय समझना चाहिए। उस स्मृति का कारण अनुभव किसी भी प्रमा का करण न होने से प्रमाण भी नहीं होता, इसलिए प्रमाणजन्यता का अभाव होने से स्मृति प्रमा नहीं हो सकती।

यद्यपि व्याप्ति प्रत्यक्ष अनुमिति की करण है, इसलिए वह अनुभवजन्य होती है, वैसे ही पद का प्रत्यक्ष शाब्दी प्रमा गर्व

में गाय को सादृश्य की प्रत्यक्ष उपमिति प्रमा अनुभवजन्य और प्रत्यक्ष ज्ञान भी अनुभव का विशेष होने से अनुभव को कोई प्रमाण न कहना अयुक्त है। तो भी व्याप्तिज्ञान व्याप्तिज्ञानत्वरूप से अनुमिति का हेतु है, पर वह व्याप्ति ज्ञान अनुभवत्वरूप से अनुमिति का हेतु नहीं है।

इसी प्रकार पद के प्रत्यक्ष एवं सादृश्यज्ञान को अनुभत्वरूप से शाब्दी और उपमिति प्रमा के हेतु नहीं मान सकते। किन्तु स्मृतिज्ञान में पूर्व अनुभव ही स्मृति रूप होता है, इसलिए वह प्रमाण नहीं होता। यदि स्मृतिज्ञान को भी प्रमा कहें तो विजातीय करण का प्रमाण कोई पृथक् ही होने से न्याय में अनुभव संज्ञक पाँचवाँ प्रमाण और भट्ट-वेदान्त मत में सातवाँ प्रमाण कहलाना चाहिए। इसीलिए कोई भी ग्रन्थकार स्मृति में प्रमा का अंगीकार नहीं करते।

यदि कोई केवल यथार्थ ज्ञान से स्मृति में प्रमा मानें तो उनके अनुसार प्रमा के लक्षण में स्मृतिभिन्न का निवेश न करके अबाधित अर्थ को विषय करने वाले ज्ञान को ही प्रमा का लक्षण मानना चाहिए। परन्तु वहाँ भ्रमरूप अनुभव से उत्पन्न अयथार्थ स्मृति के बाधित अर्थ को विषय करने वाली होने से उसमें अतिव्याप्ति नहीं बनती। पर, यथार्थ अनुभव जन्य स्मृति में प्रमा-व्यवहार के इष्ट होने से उक्त लक्षण को अव्याप्ति सम्भव नहीं। क्योंकि लक्षण के लक्ष्य में घटित होने पर ही अतिव्याप्ति होती है। किन्तु यहाँ यथार्थ स्मृति के भी लक्ष्य होने के कारण उसमें अतिव्याप्ति का होना असम्भव है।

इस मत के अनुसार वृत्ति के दो भेद हैं—यथार्थ और अयथार्थ। इनमें यथार्थ प्रमा और अयथार्थ अप्रमा कहलाती है। इन्होंने प्रमा के भी सात भेद माने है—प्रत्यक्ष, अनुमिति,

शाब्दी, उपमिति, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, यह छः तो हैं ही, सातवाँ भेद यथार्थ स्मृति होगा। पर, सभी ग्रन्थों की मर्यादानुसार स्मृति में प्रमा-व्यवहार न होने से प्रमा के छः भेद ही सर्व मान्य हैं। इनमें प्रत्यक्ष प्रमा के दो भेद माने गए हैं—बाह्य प्रमा और अनान्तर प्रमा जो अबाधित बाह्य पदार्थ गोचर वृत्ति है, वही वाह्य प्रत्यक्ष प्रमा है। छः प्रकार की बाह्य प्रत्यक्ष प्रमाओं में से पाँच तो पंचेन्द्रियजन्य होती है और छठी भी कहीं शब्द से बाह्यगोचर प्रत्यक्ष वृत्ति मानी गई है। जैसे कि 'दसवाँ तू है' इस वाक्य से स्थूल देह का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

अनेक ग्रन्थकारों ने अनुपलब्धि प्रमाणजन्य अभावगोचर वृत्ति को भी प्रत्यक्ष वृति माना है। उनके अनुसार श्रोत्रादि पाँच इन्द्रियाँ,शब्द और अनुपलब्धि यह सात करण बाह्य प्रत्यक्ष प्रमा के हैं, इसलिए वे बाह्य प्रत्यक्ष प्रमा को सात प्रकार की मानते है। किन्तु यह पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि धर्म-अधर्म के समान अभाव में प्रत्यक्ष योग्यता न होने से वृत्ति-अवच्छिन्न चेतन का अभाव-अवच्छिन्न चेतन से भेद न होने पर भी अभाव गोचर वृत्ति प्रत्यक्ष नहीं वरन् अनुमिति आदि की ही भाँति अनुपलब्धि प्रमाण से उत्पन्न अभावगोचर वृत्ति की प्रत्यक्ष वृत्ति से विलक्षणता होती है, इसलिए बाह्य प्रत्यक्ष प्रमा के सात भेद न मानकर छः ही मानने चाहिए।

आन्तर प्रत्यक्ष प्रमा के भेद

आन्तर प्रत्यक्ष प्रमा भी दो प्रकार की है—(१) आत्मगोचर और (२) अनात्मगोचर। इनमें से आत्मगोचर के भी दो भेद माने गए हैं—(१) शुद्धात्मगोचर और (२) विशिष्टात्मगोचर। शुद्धात्मगोचर के भी दो भेद हैं—(१) ब्रह्मगोचर, और (२) ब्रह्म

अगोचर। जैसे कि त्वं पदार्थ का बोध कराने वाले वेदान्त वाक्य से 'मैं शुद्ध प्रकाश हूँ' ऐसी वृत्ति होती है, वहाँ वृत्तिदेश में ही अन्तःकरण-उपहित शुद्ध चेतन होने से वृत्ति-अवच्छिन्न चेतन और विषय-अवच्छिन्न चेतन की अभिन्नता होती है, जिससे वृत्ति प्रत्यक्ष भी है और उसके विषय शुद्ध चेतन में ब्रह्मत्व भी है, तो भी वह वृत्ति अवान्तर वाक्य से होती है, इसलिए आत्माकार होकर ही ब्रह्माकार नहीं होजाती।

यदि यह वृत्ति महावाक्यजन्य होती तो अवश्य ही ब्रह्माकार होती। क्योंकि शब्दजन्यज्ञान सन्निहित पदार्थ के शब्द द्वारा बोधित रूप से ही विषय करता है। जैसे कि दसवें पुरुष को शब्द 'दशमोस्ति' अर्थात् 'दसवाँ है' इस प्रकार बोधन करे तो सुनने वाले को स्वयं दसवाँ होते हुए भी 'मैं दसवाँ हूँ' ऐसा ज्ञान नहीं होता। यहाँ दसवें में आत्मत्व होते हुए भी आत्मत्व बोधक शब्द का अभाव होने से दसवें को आत्मत्व का बोध नहीं होता। इसी प्रकार आत्मत्व में सदा ब्रह्मत्व होने पर भी ब्रह्मत्व बोधक शब्द के न होने से आत्मा को ब्रह्मत्व का ज्ञान नहीं हो पाता। इसलिए उपर्युक्त वृत्ति ब्रह्म-अगोचर शुद्धात्मगोचर प्रत्यक्ष प्रमा है।

सिद्धान्त में इन्द्रियजन्य ज्ञान का प्रत्यक्ष होना स्वीकार नहीं किया गया, किन्तु वृत्ति-अवच्छिन्न चेतन से विषय अवच्छिन्न चेतन का अभेद ज्ञान की प्रत्यक्षता में हेतु होता है। जहाँ इन्द्रिय संयुक्त घटादि हो, वहाँ इन्द्रिय द्वारा बाहर गई अन्तःकरण की वृत्ति विषयाकार होकर विषयों से सम्बन्ध होती है। इसलिए वृत्ति चेतन और विषय चेतन की एकदेश में उपाधि होने से उपहित चेतन का भी भेद नहीं रहता।

वैसे ही सुखादि रूप ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं और शुद्ध आत्म-ज्ञान भी इन्द्रिय जन्य न होकर शब्दजन्य है, फिर भी विषय चेतन और वृत्ति चेतन का भेद नहीं बनता। क्योंकि सुखाकार वृत्ति की स्थिति और सुख दोनों ही अन्तःकरण में हैं। इससे वृत्ति उपहित चेतन और विषय उपहित चेतन का भेद नहीं है। आत्माकार वृत्ति का उपादान कारण अन्तःकरण है और वृत्ति के अन्तःकरण उपहित चेतन के अभिमुख होने से आत्माकार वृत्ति की स्थिति भी अन्त करण देश में है, इसलिए अन्तःकरण को ही शुद्ध आत्मा की उपाधि समझो। इस प्रकार एक स्थान में ही दोनो उपाधि होने से वृत्ति चेतन और विषय चेतन अभेद है, इसलिए सुखादि ज्ञान और शुद्ध आत्मज्ञान प्रत्यक्ष रूप ही है।

जहाँ विषय का वृत्ति के द्वारा अथवा साक्षात् सम्बन्ध प्रमाता से हो, उस विषय ज्ञान के प्रत्यक्ष होने से विषय की प्रत्यक्षता बनती है। जैसे घट का प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर ही यह कहा जा सकता है कि घट प्रत्यक्ष रखा है।

प्रमाता से बाह्य पदार्थों का सम्बन्ध वृत्ति द्वारा होता है, जबकि सुखादि का उससे सम्बद्ध साक्षात् माना जाता है, प्रमाता से अतीत के सुखादि का वर्तमान सम्बन्ध न होने के कारण उन का ज्ञान भी प्रत्यक्ष नहीं वरन् स्मृति रूप है। यद्यपि अतीत के सुखादि का प्रमाता से सम्बन्ध था हुआ, पर प्रत्यक्ष लक्षण में वर्तमान का निवेश है और प्रमाता से वर्तमान से सम्बन्धित योग्य विषय प्रत्यक्ष है तथा उस योग्य विषय का ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। धर्मादि का प्रमाता से सदा सम्बन्ध रहता है, इससे प्रत्यक्ष कहना उचित है, पर उनका ज्ञान शब्दादि से होता है, इसलिए प्रत्यक्ष नही कह सकते और धर्मादि प्रत्यक्ष के योग्य भी नहीं हैं। योग्यता और अयोग्यता अनुभवानुसार अनुमेय अर्थात् अनुमान के योग्य हैं। जिसमें प्रत्यक्षता का अनुभव हो

वह योग्य और अनुभव न हो अयोग्य है। यह ज्ञान अनुमान अथवा अर्थापत्ति से होता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष योग्य वस्तु का प्रमाता से वर्तमान सम्बन्ध होने पर प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

ब्रह्मज्ञान की परोक्षता में शंका-समाधान

इस विषय में शंका हो सकती है कि ब्रह्मगोचर ज्ञान परोक्ष परोक्ष नहीं होना चाहिए, क्योंकि ब्रह्म का प्रमाता से सम्बन्ध न हो तो बाह्यादि ज्ञान के समान ब्रह्मज्ञान भी प्रत्यक्ष न-ीं होता। जब अवान्तर वाक्य से 'सत्य स्वरूप,ज्ञान स्वरूप, अनन्त स्वरूप 'ब्रह्म' की वृत्ति हो तब भी ब्रह्म का प्रमाता से सम्बन्ध रह ा है। इससे अवान्तर वाक्य से उत्पन्न ब्रह्मज्ञान को भी प्रत्यक्षता होनी चाहिए किन्तु सिद्धान्त में उसे परोक्ष माना है, इमलिए उक्त प्रकार से हो नहीं सकता।

इसका समाधान यह है कि प्रत्यक्ष के लक्षण में विषय का विशेषण योग्यता प्रमाणजन्य ज्ञान का विशेषण है,। इसलिए उक्त दोष नहीं बनता। इसका कारण यह है कि प्रमाता से वर्तमान सम्बन्ध वाले योग्य विषय का योग्यता प्रमाणजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है, इस लक्षण में उक्त दोष नहीं आता। क्योंकि श्रोता के स्वरूप बोधक पदघटित वाक्य से प्रत्यक्ष ज्ञान और श्रोता के स्वरूप बोधक पदरहित वाक्य से परोक्ष ज्ञान होता है।

विषय सन्निहित एवं प्रत्यक्ष योग्य होने पर भी स्वरूप बोधक पदरहित वाक्य से प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। जैसे कि 'दशमोऽस्ति' (दसवां है) और 'दशमस्त्वमसि (दसवां तू है) वाक्यों में से प्रथम तो स्वरूप बोधक और पद रहित है और द्वितीय वाक्य श्रोता के स्वरूप के बोधक 'त्वं' पद से युक्त है

इनमें प्रथम वाक्य से श्रोता को दशम का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। वाक्यजन्य ज्ञान का विषय दशम पुरुष दोनों स्थल में अति सन्निहित है।

जो स्वरूप से भिन्न, किन्तु सम्बन्धी हो वह सन्निहित और प्रत्यक्ष के योग्य है। दशम पुरुष श्रोता स्वरूप ही है, उससे भिन्न नहीं है। वह यदि प्रत्यक्ष योग्य न हो तो द्वितीय वाक्य से भी दशम का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होना चाहिये, किन्तु वैसा होता है, इसलिए उसे प्रत्यक्ष योग्य मानना ही होगा इस प्रकार अति सन्निहित और वाक्य जन्य प्रत्यक्ष योग्य दशम का वाक्य से प्रत्यक्ष ज्ञान न हो तो वह वाक्य अयोग्य होगा। पर, द्वितीय वाक्य से उसी दशम का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, इसलिए वह योग्य ही है। वाक्यों की योग्यता-अयोग्यता में अन्य कोई हेतु नहीं, वरन् स्वरूप-बोधक पद घटितत्व और पद रहितत्व ही योग्यता अयोग्यता के सम्पादक हैं।

इस प्रकार जैसे दशमस्त्वमसि' (दसवां तू है) वाक्य जो योग्य प्रमाण उससे उत्पन्न 'दशमोऽहम्' (दसवाँ मैं हूं)यह प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, वैसे हो 'दशमोऽस्ति' (दसवाँ है) वाक्य जो अयोग्य प्रमाण है, उससे उत्पन्न दशम का ज्ञान परोक्ष है।

इसी प्रकार ब्रह्म बोधक वाक्य के भी दो भेद हैं--(१) अवान्तर वाक्य जैसे सत्यज्ञानमनन्तं ब्रह्म' और (२) महावाक्य जैसे तत्वमसि'। अवान्तर वाक्यों में श्रोता का स्वरूप बोधक पद न होने से प्रत्यक्ष ज्ञान के उत्पन्न होने में योग्य अवान्तर वाक्य का अभाव है, पर, महावाक्यों में श्रोता के स्वरूप बोधक 'त्वं' आदि पद हैं, इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान के उत्पन्न होने में योग्य महावाक्य हैं। इस प्रकार महावाक्य योग्य प्रमाण है और उनसे जन्यज्ञान प्रत्यक्ष है तथा सत्य ज्ञान अनन्त ब्रह्म' इत्यादि वाक्य से उत्पन्न ब्रह्मज्ञान परोक्ष होता है।

अवान्तर वाक्यों से परोक्ष ब्रह्मज्ञान

अवान्तर वाक्य के दो प्रकार हैं—(१) तत्पदार्थ बोधक और (२)त्वपदार्थ बोधक। उनमें तत्पदार्थ बोधक वाक्य अयोग्य और त्वंपदार्थ बोधक योग्य है,क्योंकि उनमें श्रोता के स्वरूप का बोध कराने वाले पद हैं। इसलिए त्वंपदार्थ बोधक अवान्तर वाक्य से अपरोक्ष ज्ञान होता है। पर,वह अपरोक्ष ज्ञान ब्रह्म-अभेद गोचर न होने से परमपुरुषार्थ का साधक नहीं होता। किन्तु परम पुरुषार्थ के साधक अभेदज्ञान में पदार्थ शोधन के द्वारा उपयोगी पुरुषार्थ के साधक अभेदज्ञान में पदार्थ शोधन के द्वारा उपयोगी होता है। इस प्रकार प्रमाता से सम्बद्ध ब्रह्म योग्य है,तो भी अयोग्य अवान्तर वाक्यों से ब्रह्म का परोक्षज्ञान ही हो सकता है।

इस कथन में यह शंका हो सकती है कि प्रमाता से वर्तमान सम्बन्ध वाले योग्य विषय का योग्य प्रमाणजन्य ज्ञान प्रत्यक्षज्ञान है अथवा सुखादि के प्रत्यक्ष में उक्त लक्षण का अभाव है? क्योंकि सुखादि प्रत्यक्ष में प्रमाणजन्यता न होने से योग्य प्रमाण जन्यता किसी प्रकार भी संभव नहीं है। इससे उक्त लक्षण में अव्याप्ति दोष बनता है।

उक्त शका का समाधान यह है कि लक्षण में योग्य प्रमाण-जन्यता का प्रवेश नहीं, वरन् अयोग्य प्रमाण अजन्यता का प्रवेश है, इससे अव्याप्ति दोष बन नहीं नहीं सकता। क्योंकि प्रमाता से वर्तमान सम्बन्ध वाले योग्य विषय का अयोग्य प्रमाण से अजन्य ज्ञान ही प्रत्यक्षज्ञान कहलाता है। इस प्रकार कहे अवान्तर वाक्य से उत्पन्न ब्रह्मज्ञान की व्यावृत्ति होती है।

ब्रह्मास्ति' (ब्रह्म है) यह परोक्षज्ञान जन्य है, अजन्य नहीं और सुखादि अपरोक्षज्ञान का संग्रह होता है, क्योंकि [illegible]

प्रमाण से उत्पन्न है तथा इन्द्रियजन्य घटादि ज्ञान महावाक्य जन्य ब्रह्मज्ञान योग्य प्रमाण से उत्पन्न होने के कारण अयोग्य प्रमाण से अजन्य है। इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान का उक्त लक्षण निर्दोष है। इस प्रकार यहां प्रमाता से विषय के अभेद रूप तादात्म्य सम्बन्ध विषयगत प्रत्यक्षता में हेतु है तथा विषय की प्रत्यक्षता ज्ञानगत प्रत्यक्षता में हेतु है।

इसमें शंका हो सकती है कि प्रमाता से अभिन्न अर्थ को अपरोक्ष मानकर अपरोक्ष अर्थ वाले गोचर ज्ञान को अपरोक्षता कहते हैं तो स्वप्रकाश आत्म-सुख रूप ज्ञान में अपरोक्ष ज्ञान के लक्षण की अव्याप्ति होगी। क्योंकि जिसका अपरोक्ष विषय है उस ज्ञान को अपरोक्ष कहे तो ज्ञान और विषय का परस्पर भेद सापेक्ष विषय'विषयी भाव सम्बन्ध है। उसी स्थान में ज्ञानगत प्रत्यक्ष लक्षण होने से विषय-विषयी भाव के सम्भव न होने से उसमें उक्त लक्षण नहीं हो सकता।

यद्यपि भट्ट के शिष्य प्रभाकर के मत में जिसका अपना स्वरूप प्रकाश है, वह स्वप्रकाश कहलाता है। इस प्रकार स्वप्रकाश पद के अर्थ से भी अभेद में विषय-विषयी भाव हो सकता है। तो भी प्रकाश्य-प्रकाशक का भेद अनुभवसिद्ध होने के कारण प्रभाकर का विषयविषयी भाव अयुक्त है। इसलिए स्वप्रकाश पद का वह अर्थ नहीं, वरन् अद्वैत ग्रन्थों ने 'स्व' का अर्थ निज सत्ता से और प्रकाश का अर्थ संशयादि से रहितात है। इस प्रकाश स्वप्रकाश ज्ञान से अभिन्न स्वरूप सुख में विषय—विषयी भाव के अभाव से उसमें अपरोक्ष का उक्त लक्षण नहीं हो सकता।

स्वव्यवहारानुकूल चैतन्य से अनावृत्त विषय का अभेद अपरोक्ष विषय का लक्षण तथा अनावृत विषय से स्वव्यवहारानुकूल

चेतन का अभेद अपरोक्षज्ञान का लक्षण होता है, इससे शब्द जन्य ब्रह्मज्ञान में भी अपरोक्षता हो सकती है।

विषय तो घटादि प्रत्यक्ष के वृत्ति काल में घटादि होने पर भी चेतन नहीं और चेतन उसका अधिष्ठान भी है, वह चेतन में सर्वव्यवहार हेतु वृत्ति के न होने से प्रकाशता रूप व्यवहार के प्रतिकूल है। तथा स्वव्यवहार के अनुकूल जो वृत्ति अवच्छिन्न चेतन है, वह उस घटादि विषयाकार वृत्ति के न होने से उस घटादि विषय से भिन्न है जिस साक्षी चेतन में धर्म-अधर्म का भी अभेद है। वह साक्षी उनमें अपरोक्ष अयोग्यता के न होने से अपने व्यवहार के अनुकूल चेतन नहीं है।

यद्यपि संसार दशा में भी वृत्ति विशिष्ट चेतन जीव का ब्रह्म से अभेद होने के कारण ब्रह्म के अपरोक्ष होने का व्यवहार तथा अवान्तर वाक्य जन्य ब्रह्म का ज्ञान भी प्रत्यक्ष होना चाहिए। तो भी संसार दशा में आवृत ब्रह्म का अपने व्यवहार के अनुकूल चेतन से अभेद है और अनावृत ब्रह्मरूप विषय का भेद होने से ब्रह्म में प्रत्यक्षत्व नहीं होता। इसी प्रकार अवान्तर वाक्यजन्य ज्ञान का भी आवृत विषय से अभेद होने के कारण उस ज्ञान का प्रत्यक्षत्व नहीं बनता। इससे उक्त चेतन से अनावृत विषय का अभेद विषयगत सपरोक्षत्व का और अनावृत विषय से उक्त चेतन का अभेद ज्ञानगत अपरोक्षत्व का प्रयोजक है।

इसमें शंका करें कि चेतन में घटादि अध्यस्त होने और विषयाकार वृत्ति के समय वृत्ति चेतन में विषय चेतन का ऐक्य होने से स्व-अधिष्ठान विषय चेतन से अभिन्न घटादि का वृत्ति चेतन से अभेद होने पर भी उसकी उपाधि रूप वृत्ति से अभेद असम्भव है। जैसे रस्सी में कल्पित सर्प-दण्ड-माला का परस्पर भेद होता है और ब्रह्म में कल्पित द्वैत का यद्यपि ब्रह्म से भेद

नहीं, तो भी परस्पर भेद ही होता है, वैसे ही वृत्ति चेतन से वृत्ति का और घटादि का अभेद हो सकता है। उनकी उपाधि-भूत वृत्ति और घटादि विषय का परस्पर अभेद न होने से वृत्ति रूप प्रत्यक्ष ज्ञान में उक्त लक्षण की अव्याप्ति होता है।

इसका समाधान यह है कि अद्वैत विद्याचार्य के अनुसार अपरोक्षता धर्म वृत्ति का नहीं, चेतन का है। जैसे अनुमितित्व इच्छात्व आदि धर्म अन्तःकरण वृत्ति के हैं, वैसे अपरोक्षता धर्म वृत्ति में नहीं वरन् विषयकार उपहित चेतन का होने से चेतन की अपरोक्षता की उपाधि वृत्ति होतो है। इससे वृत्ति में उसका अपरोक्ष करने पर वृत्तिज्ञान भी अपरोक्ष होता है। यदि वृत्ति का धर्म मानें तो सुखादि अपरोक्ष वृत्ति के अस्वीकृत पक्ष में साक्षी रूप प्रत्यक्ष ज्ञान में प्रत्यक्ष व्यवहार नहीं होना चाहिए। इससे वृत्ति का धर्म नहीं है। इस प्रकार वृत्तिज्ञान नहीं, वरन् चेतन ज्ञान लक्ष्य है, इसलिए अव्याप्ति दोष नहीं बनता।

अज्ञान की निवृत्ति में शंका-समाधान

एक विषय वाले ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति का अर्थ परोक्ष ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होनी चाहिए। इस दोष के निरा-करणार्थ अपरोक्ष ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति बताई है, उसमें अन्योन्याश्रय दोष होता है। क्योंकि ज्ञान की अपरोक्षता की सिद्धि के आश्रित ही अज्ञान की निवृत्ति बताई हैं और अनावृत्त विषय का स्वव्यवहार के अनुकूल ही चेतन से अभेद होता है। ज्ञान की अपरोक्षता कहने से अज्ञान की निवृत्ति के अधीन ज्ञान कों प्रत्यक्षता की सिद्धि बताई इसीलिए परस्पर की अपेक्षा होने से अन्योन्याश्रय दोष होता है।

इसका समाधान यह है कि केवल ज्ञान से अज्ञान का निवा-रण और प्रत्यक्ष ज्ञान से अज्ञान का निवारण होना नहीं कह

सकते. वरन् यह कहना युक्त होगा कि प्रमाण के माहात्म्य से जहाँ ज्ञान का विषय से तादात्म्य संबंध हो, वहाँ उस ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होती है। प्रमाण के माहात्म्य से बाह्य इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान और महावाक्य रूप प्रमाण की महिमा से शब्द से उत्पन्न ब्रह्मज्ञान विषय से तादात्म्य संबंध युक्त होता है. इससे उपर्युक्त उभयज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होती है।

यद्यपि ब्रह्म सभी का उपादान कारण है, इसलिए ब्रह्मगोचर सर्व ज्ञानों का तादात्म्य सम्बन्ध समझना चाहिए। उससे अनुमिति रूप ब्रह्मज्ञान से और अवान्तर वाक्य से उत्पन्न ब्रह्म के परोक्ष ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होनी चाहिए तो भी महावाक्य से जीव-ब्रह्म का अभेद रूप गोचरज्ञान होता है। उसका विषय से तादात्म्य सम्बन्ध तो प्रमाण के माहात्म्य से कहते हैं। अन्य ज्ञान का ब्रह्म से तादात्म्य सम्बन्ध जो कहा वह ब्रह्म में व्यापाकता और लोक की उपादानता होने के कारण विषय के माहात्म्य से कहा गया है। इस प्रकार उपर्युक्त प्रत्यक्ष ज्ञान के लक्षण में अन्योन्याश्रय दोष भी नहीं है और इसीलिए उक्त लक्षण में कोई दोष नहीं बनता।

पूर्व प्रसंगके अनुसार शुद्धात्मगोचर प्रत्यक्षप्रमा भी दो प्रकार की है—(१) ब्रह्मगोचर, और (२) ब्रह्म-अगोचर। इनमें से ब्रह्म अगोचर पर तो प्रकाश डाल चुके, अब ब्रह्मगोचर का निरूपण करते हैं। महावाक्य के 'अहं ब्रह्मास्मि' के रूप में ब्रह्म से अभिन्न आत्मा को विषय करने वाली ब्रह्मगोचर, शुद्ध आत्मगोचर प्रत्यक्ष प्रमा कहलाती है। इस 'अहं ब्रह्मास्मि ज्ञान को वाचस्पति ने मनोजन्य कहा है, किन्तु दूसरों के मत में इसे वाक्य—जन्य माना गया है।

इसमें भी यह भेद है कि संक्षेप शारीरिक के सिद्धान्त में तो महावाक्य से ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान ही हो सकता है, परोक्ष

नहीं। पर, अन्य ग्रन्थकारों के मत में विचार सहित महावाक्य से अपरोक्ष ज्ञान हो सकता है फिर भी सर्व मत में 'अहं ब्रह्मास्मि ज्ञान' शुद्ध आत्मगोचर ब्रह्मगोचर और प्रत्यक्ष है। इस अर्थ में किसी का कोई विवाद नहीं।

इस प्रकार यह शुद्ध आत्मगोचर प्रत्यक्ष प्रमा से दो भेद बताये गए किन्तु विशिष्ट आत्मगोचर प्रत्यक्ष प्रमा के 'मैं अज्ञ हूँ मैं कर्त्ता हूँ' में सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं मनुष्य हूँ' इत्यादि अनन्त भेद हैं। यद्यपि अबाधित अर्थ को विषय करने वाला ज्ञान प्रमा कहलाता किन्तु 'मैं कर्त्ता हूँ' इत्यादि ज्ञान का 'मैं अकर्त्ता हुँ' इत्यादि ज्ञानों से बाध होजाता है, इसलिए उन ज्ञानों को प्रमा नहीं कह सकते। तो भी ससार-दशा में उक्त ज्ञानों का बाध न होने वाले अर्थ को ही प्रमा कहते हैं। यह विशिष्ट आत्मगोचर आन्तर प्रत्यक्ष प्रमा के भेद हुए। इनके अतिरिक्त 'मेरे में सुख है, मेरे में दुःख है' इत्यादि सुख-दुःखादि गोचर ज्ञान भी आत्म-गोचर प्रत्यक्ष प्रमा है। किन्तु 'में सुखी हूँ, मैं दुःखो हूँ' इत्यादि प्रमा में तो असंपद का अर्थ आत्मा विशेष्य और सुख-दुःखादि विशेषण हैं। पर 'मेरे में सुख है, मेरे में दुःख है' इत्यादि प्रमा में सुख-दुःखादि विशेष्य और आत्मा विशेषण है, इसलिए 'मुझ में सुख है' मुझ में दुःख है' इत्यादि ज्ञान को आत्मगोगर प्रत्यक्ष प्रमा नहीं, वरन् सुखादि विशेष्य होने के कारण अनात्म गोचर आनन्तर प्रत्यक्ष प्रमा कहते हैं। इस प्रकार आन्तर प्रत्यक्ष प्रमा के भेद कहे गए।

अन्तःकरण की स्मृतिरूप जो वृत्ति यथार्थ-अयथार्थ के भेद से दो प्रकार की है, उनमें यथार्थ स्मृति के दो भेद माने गए हैं (१) आत्म स्मृति, और (२) अनात्म स्मृति। तत्वमसि आदि महावाक्यजन्य अनुभव के संस्कारों से होने वाली आत्मज्ञान की स्मृति ही यथार्थ आत्म स्मृति कहलाती है। किन्तु जहाँ व्याव—

हारिक प्रपंच के मिथ्यात्व-अनुभव के संस्कारों से प्रपंच की मिथ्यात्वरूप से होने वाली स्मृति यथार्थ अनात्म स्मृति है।

इसी प्रकार अयथार्थ स्मृति के भी दो भेद हैं-(१ आत्मगोचर अयथार्थ स्मृति और (२) अनात्मगोचर अयथार्थ स्मृति। अहंकारादि में आत्मत्व के भ्रमपूर्ण अनुभव के संस्कारों से अहङ्कारादि में होने वाली आत्मत्व की स्मृति आत्मगोचर अयथार्थ स्मृति और प्रपंच में सत्यत्व-भ्रम के संस्कारों से प्रपंच के सत्य होने की स्मृति अनात्मगोचर अयथार्थ स्मृति होती है।

इस प्रकार यथार्थ-अयथार्थ भेद से दो प्रकार की जो स्मृति बताई गई, उनमें स्मृति से भिन्न यथार्थ वृत्ति प्रमा रूप होती है और द्वितीय प्रकार की यथार्थ वृत्ति यथार्थ अनुभव जन्य स्मृति रूप होती है। अबाधित अर्थ विषयक अनुभव ही यथार्थ एवं प्रमा है। इस प्रकार अनुभव में जो यथार्थता होती है उसे अबाधित अर्थ के अधीन और स्मृति में जो यथार्थता होती है, उसे यथार्थ अनुभव के अधीन समझना चाहिए। क्योंकि स्मृति से भिन्न अनुभव के भी यथार्थ और अयथार्थ—दो भेद है। उनमें से यथार्थ अनुभव का निरूपण तो कर चुके, अब आगे अयथार्थ वृत्ति में अयथार्थ अनुभव का निरूपण किया जाता है।

भ्रम का लक्षण और भेद

अयथार्थ के भी दो प्रकार हैं—(१) संशय रूप, और (२) निश्चयरूप। अयथार्थ ही भ्रम कहलाता है, इसलिए संशय ज्ञान को भी भ्रमरूप समझना चाहिए और स्वाभावाधिकरण में अवभास को भ्रम कहा है।

संशयज्ञान परस्पर विरुद्ध द्विविषयक माना गया है। उन दोनों में एक का अभाव होने से संशय में भ्रम के लक्षण की

प्रतीनि होती है। एक विशेष्य में परस्पर बिरोधी दो विशेषणों के ज्ञान को संशय कहते हैं। जैसे स्थाणु के ज्ञान में 'स्थाणु है या नहीं अथवा 'स्थाणु है या पुरुष है ?' यह दोनों ही ज्ञान संशय कहलाते हैं। यहां पहले ज्ञान में स्थाण विशेष्य और स्थाणुत्व और स्थाणुत्व का अभाव दोनों विशेषण हैं, जो कि परस्पर विरुद्ध हैं, दोनों का एक अधिकरण में साथ रहना संभव नहीं इसलिए स्थाणुरूप एक विशेष्य में स्थाणुत्व और स्थाणुत्व के अभावरूप दोनों विरुद्ध विशेषणों का ज्ञान होने से पहले संशय में भ्रम का लक्षण घटित होता है।

इसी प्रकार द्वितीय संशय में भी भ्रम का लक्षण घटित होता है, क्योंकि स्थाणु रूप एक विशेष्य में स्थाणुत्व और पुरुषत्व दो विरुद्ध विशेषणों का ज्ञान होता है। स्थाणुत्व और स्थाणुत्व के अभाव में परस्पर विरोध होने के समान ही एक विशेष्य में स्थाणुत्व और पुरुषत्व का विरोध भी अनुभूत ही है। इस प्रकार पहला संशय परस्पर विरुद्ध भाव और अभावगोचर और दूसरा संशय दोनों विरुद्ध भाव गोचर समझना चाहिए।

न्यायग्रन्थों के अनुसार तो संशयज्ञान नियम से ही भावा—भावगोचर होता है, केवल भावगोचर हो ही नहीं सकता। क्योंकि जहाँ 'स्थाणु है या पुरुष ? ऐसा संशय हो वहाँ भी स्थाणुत्व, स्थाणुत्वाभाव, पुरुषत्व और पुरुषत्वाभाव यह चार कोटियाँ होती हैं। इसलिए संशय द्विकोटिक हो सकता है या चतुष्कोटिक, इससे सशय दो प्रकार का होना सिद्ध होता है। इसमें 'स्थाणु है या नहीं ?' यह संशय द्विकोटिक और स्थाणु है या पुरुष ? यह संशय चतुष्कोटिक है। कोटि का अभिप्राय एक धर्मी में प्रतीत होने वाले धर्म से है।

परन्तु संशय ज्ञान केवल एक ही अंश में भ्रमरूप है, सर्वांश में नहीं हो सकता। जहाँ स्थाणु उसके होने, न होने का संशय हो

वहाँ स्थाणुत्व के अभाव रूप अभावांश में ही भ्रम रूप होता है। किन्तु 'स्थाणु है या नहीं ? ऐसा संशय पुरुष में होने पर स्थाणु-त्व और उसके अभाव इन दो अंशों में से पुरुष में स्थाणुत्व का अभाव होने से अभाव अंश में भ्रम नहीं और पुरुष में स्थाणुत्व न होने से स्थाणुत्व के भावांश में यह भ्रम बनता है। इस प्रकार भावाभाव गोचर संशय हो वहाँ उसके ज्ञान में एक अंश ही रह कर अन्य अंशों में भ्रम होता है।

परन्तु, सिद्धान्त के अनुसार उभय विरोधी भावगोचर संशय मान लें.तो उसके सर्वांश में ही भवत्व सम्भव है। जैसे स्थाणु है या पुरुष ? यह संशय न्यायानुसार चतुष्कोटिक न मान कर उभय कोटिक मान लें और स्थाणु एवं पुरुष से भिन्न किसी और पदार्थ में ही स्थाणु है या पुरुष ?' यह शंशय होने पर उस के धर्मों में स्थाणुत्व और पुरुषत्व दोनों का ही अभाव होने से दोनों का ज्ञान भ्रमरूप ही है।

संशय में विशेष्य को धर्मी और विशेषण को धर्म कहते हैं। इसलिए एक धर्मी में अनेक विरुद्ध धर्मों का ज्ञान संशय कहलाता है। यद्यपि पूर्वोक्त लक्षण से इस लक्षण का विरोध तो नहीं है, तो भी इतना भेद तो है ही कि पूर्वोक्त-लक्षण में उभय पद होने से उस लक्षण की चतुष्कोटिक संशय में अव्याप्ति बनती है क्यों-कि चतुष्कोटिक संशय में एक विशेष्य में दो विशेषणों की प्रती-ति न होकर चार की होती है। यद्यपि जहाँ चार हैं,वहाँ तीन,दो और एक अवश्य हागा, तो भी न्यून संख्या का अधिक संख्या से बाध होता है इसीलिए पाँच ब्राह्मण होते हुए भा जो उन्हे चार बतावे वह झूठ बोलने वाला हो कहा जायगा। इस प्रकार न्यून सख्या अधिक संख्या के अन्तर्गत होते हुए भी उस न्यून संख्या का व्यवहार न होने से उभय पद घटित पहले कहे लक्षण की चतु-

ष्कोटिक संशय में अव्याप्ति बनने से उभय के स्थान पर नाना' पद कथन किया है क्योंकि जो एक से भिन्न हो उसे नाना कहने के कारण द्विकोटिक संशय के समान चतुष्कोटिक संशय भी चार धर्मगोचर होते हैं। इसलिए नाना धर्मों के अन्तर्गत आने से यहाँ अव्याप्ति नहीं बनती। इसलिए सशय को भ्रमरूप कहा है।

संशय रूप भ्रम प्रमाग सशय और प्रमेय संशय के भेद से दो प्रकार का है। इनमें प्रमाणगोचर सन्देह प्रमाण संशय है, इसे ही प्रमागगत असम्भावना कहते हैं। प्रमाण संशय का स्वरूप यह हैं कि 'वेदान्त वाक्य अद्वितीय ब्रह्म का बोध कराते है अथवा अन्य अर्थ का? इस संशय की निवृत्ति शारीरिक के प्रथम अध्याय के पढ़ने-सुनने से हो सकती है।

आत्म संशय और अनात्म संशय के भेद से प्रमेय संशय दो प्रकार का माना गया हैं। इनमें भी दोनों के ही अनेक भेद हैं। अनात्म-शशय के अनेक भेदों पर प्रकाश डालना अनुपयोगी है और आत्म संशय के भेदों को इस प्रकार समझना चाहिए कि आत्मा ब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न? यदि अभिन्न है तो मोक्ष-काल में ही या सदा अभिन्न है? यदि वह सदा अभिन्न है तो आनन्दादि ऐश्वर्य से युक्त है या उससे रहित यदि आनन्दादि से युक्त है तो आनन्दादि उसके स्वरूप हैं अथवा गुण ?

इससे लेकर तत्वं पदार्थ विषयक अनेक प्रकार के संशय हैं और केवल त्व पदार्थ गोचर संशय को भी आत्मगोचर ही समझना चाहिए। उसके भी अनेक प्रकार हैं—आत्मा शरीरादि से भिन्न है या अभिन्न? भिन्न है तो अणु मध्यम या विभु-परिमाण वाला है? यदि विभु हैं तो कर्त्ता हैं अथवा अकर्त्ता? यदि अकर्त्ता है तो परस्पर भिन्न होकर अनेक है या एक ?

उक्त प्रकार त्वं पदार्थ गोचर अनेक संशय होने के समान ही केवल तत्पदार्थ गोचर संशय के भी अनेक प्रकार हैं जैसे कि वैकुण्ठादि लोकों में निवास करने वाला विष्णु हाथ-पांव आदि अवयवयुक्त परिच्छिन्न शरीरी है अथवा अशरीरी विभु ? यदि अशरीरी विभु हैं तो वह परमाणु आदि साक्षेप जगत्कर्त्ता है या निरपेक्ष ? यदि परमाणु-निरपेक्ष कर्त्ता है तो केवल कर्त्ता है या निमित्त एवं उपादान रूप कर्त्ता ? यदि निमित्तोपादान रूप है तो कर्म-निरपेक्ष कर्त्ता होने के कारण विशमकारिता आदि दोषों मे युक्त है अथवा सापेक्ष कर्ता होने से विषमकारिता आदि दोषों से रहित ? इस प्रकार अनेक भेद वाले यह तत्त्वं पदार्थ गोचर सर्व संशय प्रमेय संशय ही हैं। इनका निवारण मनन से ही हो सकता है।

ज्ञान और मोक्ष के साधन का संशय भी प्रमेय संशय ही है। क्योंकि प्रमा का विषय प्रमेय कहलाता है और ज्ञान-मोक्ष के साधन प्रमा के ही विषय हैं, इसलिए प्रमेय ही हो सकते है, इन संशयों का निवारण शारीरिक के तीसरे अध्याय के सुनने और मनन करने से सम्भव हैं। इसी प्रकार मोक्ष के स्वरूप का संशय भी प्रमेय संशय ही कहा जाता है, उसकी निवृत्ति शारीरिक के चौथे अध्याय के श्रवण-मनन से हो सकती है। क्योंकि उसमें पहले साधन का विचार करके फिर मोक्ष रूप फल का विचार किया है, इसलिए साधन विचार वाले अंश से साधन-संशय की और शेषांश से फल संशय की निवृत्ति सम्भव है।

निश्चयरूप भ्रमज्ञान

भ्रमज्ञान भी संशय और निश्चय के रूप से दो प्रकार का है उनमें संशय-भ्रम पर प्रकाश डाल चुके हैं, अब निश्चय-भ्रम पर

प्रकाश डालते हैं—

संशय से भिन्न ज्ञान को निश्चय कहते हैं। सीप का सीपत्व रूप से यथार्थ ज्ञान और सीप का रजतत्वरूप से अयथार्थ ज्ञान, दोनों ही संशय से भिन्न होने के कारण निश्चय रूप ही हैं। उन में निश्चयरूप भ्रम वह है जो बाधित अर्थ विषयक और संशय से भिन्न हो। जैसे सीप में रजतत्व के निश्चय का विषय रजत बाधित है, क्योंकि सीप के ज्ञान से ही रजत का बाध होजाता है अर्थात् ब्रह्मज्ञान के बिना सीप आदि के ज्ञान से ही जिसका बाध हो उसे बाधित और ब्रह्मज्ञान के बिना जिसका बाध न हो उसे अबाधित समझना चाहिए। अथवा प्रमाता के होते हुए जिसका बाध न हो वह अबधित है।

अबाधित के भी दो भेद हैं—(१) सदा अबाधित और (२) व्यावहारिक अबाधित। जिसका कभी बाध न हो, ऐसा चेतन है और जिसका व्यवहार दशा में ही बाध न हो, ऐसा अज्ञान, पंच भूत और भौतिक प्रपंच हो सकता है। इसी प्रकार बाधित भी दो प्रकार का है-(१)व्यावहारिक पदार्थ-अवच्छिन्न चेतन का विवर्त और (२) प्रातिभासित पदार्थ-अवच्छिन्न चेतन का विवर्त जैसे सीप में रजत व्यावहारिक पदार्थावच्छिन्न चेतन का विवर्त है, क्योंकि सीप में चांदी की अधिष्ठान सीपअवच्छिन्न चेतन सीप-व्यावहारिक है। किन्तु यदि स्वप्न में सीप प्रतीत होकर उसमें चांदी का भ्रम होने लगे तो स्वप्न में ही चांदी का सीप-ज्ञान से बाध होता और उस चाँदी का अधिष्ठान स्वप्न-सीप अवच्छिन्न चेतन होता है और वह स्वप्न की सीप प्रातिभासिक होती हैं। इस प्रकार बाधित पदार्थ के दो भेद है, उनके निश्चय को भ्रमरूप निश्चय ही समझना चाहिए।

अध्यास-लक्षण एवं भेद

भ्रमज्ञान के विषय में शास्त्रकारों के विभिन्न मत हैं, किन्तु भाष्यकार ने उन मतों से विलक्षण असाधारण मत ही व्यक्त किया है भाष्यकार के अनुसार 'अधिष्ठान से विषम सत्ता वाला अवभाव अभ्यास कहलाता है। जैसे कि सीप में चांदी का भ्रम होने पर सीप में ही चांदी उत्पन्न होती है तो तात्कालिक चांदी और उसके ज्ञान को भी सिद्धान्त में अवभाव या अध्यास कहेंगे, किन्तु अन्य शास्त्रकार सीपदेश में चांदी का उत्पन्न होना नहीं मानते।

व्याकरण के अनुसार भी अध्यास और अवभास पद के वाच्य ज्ञान और विषय दोनों ही हैं, इसीलिए सिद्धान्त में अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यास के भेद से दो प्रकार का अध्यास अंगीकार किया गया है इनमें भी अर्थाध्यास अनेक प्रकार का माना है, जैसे केवल सम्बन्ध का अध्यास, सम्बन्ध विशिष्ट सम्बन्धी का अध्यास केवल धर्म का अध्यास धर्म विशिष्ट धर्मी का अध्यास अन्योऽन्याध्यास और अन्तराध्यास इनमें भी आत्मा में अनात्मा के अध्यास और अनात्मा में आत्मा के अध्यास भेद से अन्तराध्यास भी दो प्रकार का होता है। इस प्रकार अर्थाभ्यास के अनेक प्रकार का होते हुए भी पहले कहे अध्यास—लक्षण का समन्वय सर्वत्र ही है। इस प्रकार ज्ञान और विषय दोनों ही अध्यास या अवभाव कहे जाते हैं, क्योंकि भ्रमरूप ज्ञान और उसका विषय दोनों ही अवभास है।

इस प्रकार अध्यास का अधिष्ठान सर्वत्र ही चेतन को मानें तो अधिष्ठान की सत्ता परमार्थं तथा अध्यस्त की सत्ता प्राति—भासिक होने के कारण अधिष्ठान से विषम सत्तायुक्त अवभाव

प्रत्यक्ष है। सर्प का अधिष्ठान रस्सी तो लोक-प्रसिद्ध है ही, इससे चेतन के अवच्छेदकता सम्बन्ध से रस्सी भी सर्प का आश्रय है, क्योंकि चेतन में सर्प की अधिष्ठानता का अवच्छेदक रस्सी है, इसलिए रस्सी में अवच्छेदकता सम्बन्ध बनता है। इस प्रकार इस सम्बन्ध से भी सर्प का अधिष्ठान रस्सी कहे तो भी रस्सी की सत्ता व्यावहारिक और सर्प की प्रातिभासिक होने के कारण अध्यस्त की अधिष्ठान से विषम सत्ता होती है। इस प्रकार सर्व अध्यासों में अधिष्ठान की अधिष्ठान से ही विषम सत्ता होती है।

आधारता की प्रतीति वाला पदार्थ अधिष्ठान कहलाता है, चाहें वह आधारता परमार्थ से हो अथवा व्यावहारिक। क्योंकि इस प्रसंग में ऐसा कुछ आग्रह नहीं है कि जो आधार परमार्थ से हो वही अधिष्ठान होता हो। क्योंकि आत्मा में अनात्मा का अध्यास होने के समान ही अनात्मा में आत्मा का अध्यास होता है और अनात्म में आत्मा की आधारता परमार्थ से नहीं, वरन् आरोपित होने से इस प्रसंग में केवल आधार को ही अधिष्ठान कहा है। अनात्मा में आत्मा का अध्यास हो तो अनात्मा अधिष्ठान होता है, जिसकी सत्ता व्यावहारिक और अनात्मा की पारमार्थिक होने से भी अवभाव अधिष्ठान से विषम सत्ता वाला ही होता है।

अन्योऽन्याध्यास विषयक शंका-समाधान

यद्यपि 'आत्मा का अधिष्ठान अनात्मा' कहने से आत्मा का आरोपित होना सिद्ध होता है, परन्तु वह आरोपित होना कल्पित ही है। इसलिए आत्मा का भी कल्पित होना और अनात्मा में आत्मा का अध्यास होना बताना भा नहीं बनता। तो भी भाष्य कार ने शारीरिक के प्रारम्भ में आत्म-अनात्म का अन्योऽन्या-

ध्यास कहा होने से अनात्मा में आत्मा के अध्यास का निषेध नहीं बनता और परस्पर अध्यास ही अन्योऽन्याध्यास कहलाता है। इसलिए अनात्म में आत्मा का अध्यास मान कर ही उक्त शंका का इस प्रकार समाधान करे—

स्वरूपाध्यास और संसर्गाध्यास के भेद से अध्यास दो प्रकार का है। जिस पदार्थ का सत्-असत् से विलक्षण स्वरूप हो और अनिर्वचनीय उत्पन्न हो वह स्वरूपाध्यास होता है। जैसे रस्सी में सर्प का और आत्मा में अहंकारादि रूप अनात्मा का स्वरूपाध्यास होता हैं, वैसे ही व्यावहारिक या पारिमार्थिक स्वरूप वाले पदार्थ में जो अनिर्वचनीय सम्बन्ध उत्पन्न हो वह संसार्गाध्यास कहलाता है। जैसे मुख और दर्पण दोनों ही पदार्थों के व्यावहारिक होने पर भी मुख का दर्पण से सम्बन्ध नहीं, तो भी दर्पण में तो मुख का सम्बन्ध दिखाई देने से उस सम्बन्ध की अनिर्वचनीय उत्पत्ति है। वैसे ही लाल वस्त्र में 'रक्तःपट' वस्त्र के लाल होने की प्रतीति होती है, जिसने लाल रूप वाले पदार्थ का वस्त्र में भी तादात्म्य सम्बन्ध भी प्रतीति होता है। परन्तु लाल रूप का द्रव्य तो कुसुम्भ हैं, वस्त्र नहीं, इसलिए लाल रूप का तादात्म्य सम्बन्ध में वस्त्र में न होकर कुसुम्भ में ही है। इस प्रकार यद्यपि लालरूप युक्त कुसुम्भ और वस्त्र दोनों ही व्यावहारिक हैं, तो भी उन दोनों का तादात्म्य सम्बन्ध अनिर्वचनीय ही उत्पन्न होता है। उक्त दृष्टान्तानुसार चेतन के पारमार्थिक होने से चेतन का अहङ्कार में अध्यास असम्भव होते हुए भी अहंकार में चेतन का अध्यास हो सकता है इस भांति आत्म चेतन में वर्तमान तादात्म्य का अनिर्वचनीय सम्बन्ध अहंकार में उत्पन्न होने के कारण चेतन तो कल्पित नहीं हो सकता, वरन् अहंकार में चेतन का जो तादात्म्य सम्बन्ध हो, वह कल्पित है। इस प्रकार यद्यपि अद्वैत ग्रन्थों में भी उक्त उदाहरणों में अन्यथा

ख्याति स्वीकार की गई है, तो भी ब्रह्मविद्याभरण में सर्व त्र ही ही उक्त प्रकार से अनिर्वचनीय ख्याति मानी गई है।

विचार सागर में और इस ग्रन्थ में भी पहले कह चुके है कि अधिष्ठान से आरोप्य का जहाँ सम्बन्ध हो, वहां अन्यथा—ख्याति होती है। पर, यह कथन ग्रन्थान्तर की रीति से ही समझना चाहिए। यदि अधिष्ठान-आरोप्य के संबंध में सर्वत्र अन्यथा ख्याति का आग्रह हो तो अहङ्कार में अन्यथाख्याति से चेतन के तादात्म्य की प्रतीति कहने में भी कोई बाधा उपस्थित नहीं होता अभिप्राय यह है कि पारमार्थिक पदार्थ के न होते हुए भी उसकी प्रतीति हो तो व्यावहारिक पदार्थ में पारमार्थिक पदार्थ का अनिर्वचनीय सम्बन्ध तथा उसका अनिर्वचनीय ज्ञान हो उपजता है। परन्तु व्यावहारिक पदार्थ के न होते हुए भी उनका प्रतीति होने पर तो अनिर्वचनीय सम्बन्ध ही नहीं, वरन् अनिर्वचनीय सम्बन्धी और उस सम्बन्धी का अनिर्वचीय ज्ञान और कहीं सम्बन्धमात्र का अनिर्वचनीय ज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार अधिष्ठान-अध्यस्त की विषम सत्ता का सर्वत्र होना ही बनता है।

अनात्माध्यस्त आत्मा की परमार्थ सत्ता

अनात्मा में आत्माध्यास होने पर अध्यस्त की परमार्थ सत्ता के कारण विषम सत्ता होने विषयक उपर्युक्त कथन का यह तात्पर्य है कि शुद्ध पदार्थ से विशिष्ट पदार्थ के पृथक् होने से जहाँ अनात्मा में आत्मा के सम्बन्ध का अध्यास बताया है, वहाँ आत्मा के स्वरूप का नहीं, वरन् सम्बन्ध विशिष्ट आत्मा का ही अध्यास समझो। क्योंकि आत्मा के अपने स्वरूप से सत्य होने के कारण ही उसके स्वरूप की दृष्टि से अध्यस्त रूप आत्मा की परमार्थिक सत्ता ऊपर कहीं है। अध्यस्त के कल्पित होते हुए भी आत्म—

सम्बन्ध विशिष्ट कल्पित हो तो भी उसमें विद्यमान शुद्ध स्वरूप आत्मा कल्पित नहीं हो सकती, क्योंकि शुद्ध की विशिष्ट से पृथकता के कारण शुद्ध में विशिष्ट की कल्पितता का स्पर्श संभव नहीं। इस प्रकार आत्म सम्बन्ध का अध्यासमात्र कहने से तो सम्बन्ध विशिष्ट आत्मा का अध्यास और अध्यस्त की परमार्थ सत्ता कहना ही अधिक उपयुक्त है। क्योंकि केवल आत्म-सम्बन्ध का अध्यास कहने से ही अधिष्ठान-आरोप्य की विषम सत्ता असंभव है। क्योंकि इधर अहङ्कार में आत्मा का सम्बन्ध और उधर घटादि में स्फुरणरूप चेतन का तादात्म्य सम्बन्ध अध्यस्त होने से घट में स्फुरण रूप चेतन के सम्बन्ध से घट में स्फुरण के स्फुरित होने का व्यवहार प्रतीत होता है।

उक्त दोनों स्थानों में आत्म-चेतन सम्बन्ध के अधिष्ठान अहङ्कार और घटादि दोनों व्यावहारिक हैं उनमें चेतन का सम्बन्ध भी प्रातिभासिक न होकर व्यावहारिक ही है। क्योंकि यदि वह प्रातिभासिक होता तो उसका बोध भी बिना ब्रह्मज्ञान के ही हो जाना चाहिए था। परन्तु वैसा नहीं होता। इस प्रकार आत्म-सम्बध और अधिष्ठान रूप अनात्म, दोनों की एकहीव्यावहारिक सत्ता होने के कारण न तो विषम सत्ता रहती है और न अध्यास का लक्षण ही होता है। इसीलिए सम्बन्ध मात्र का अध्यास नहीं वरन् सम्बन्ध विशिष्ट आत्मा की अनात्मा में अध्यास समझना चाहिए।

यद्यपि चेतन ही सत्ता स्वरूप है और उसका भेद कहना भी नहीं बनता, तथापि चेतन स्वरूप सत्ता से भिन्न जो सत्ता संज्ञक पदार्थ है, उसमें उत्कर्ष या अपकर्ष का भेद बन सकता है और उसी के तीन भेद हुए हैं पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक। प्रातिभासिक में भी उत्कर्ष और अपकर्ष हो

सकते हैं। जैसे कि स्वप्न में दिखाई देने वाले पदार्थ बहुत-से हों तो भी उनका बाध स्वप्न में ही हो जाता है, किन्तु स्वप्न वाले पदार्थ जाग्रत में ही बाधित हो जाते हैं, उनकी अपेक्षा, जिनका बाध स्वप्न में होता है उनकी सत्ता अपकृष्ट होती है। इस प्रकार उत्कर्ष-अपकर्ष रूप सत्ता का चेतन से पृथक होना सिद्ध है।

अब अध्यास का अन्य लक्षण बताते हैं अपने अभाव के अधिकरण में अवभास ही अध्यास कहा गया है। जैसे सीप में चांदी का अभाव पारमार्थिक और व्यावहारिक होता तथा चांदी अनिर्वचनीय होती है, इसलिए रजताभाव की अधिकरण सीप में चांदी और चाँदी का ज्ञान होने से वहाँ चांदी का अवभास होता है। इस प्रकार कल्पिताधिकरण में कल्पित न होने से अध्यास का यह लक्षण सर्वत्र घटित होता है।

भावाभाव के निरोध विषयक शंका-समाधान

एक अधिकरण में भाव-अभाव का विरोध होने पर भी केवल भावाभाव को लेकर ही पदार्थों का विरोध नहीं कह सकते वरन् उसे अनुभव के अनुसार ही कह सकते हैं। जैसे घटत्व और पटत्व दोनों के भाव रूप होते हुए भी उनका एक अधिकरण में रहना संभव न होने से परस्पर विरोध रहता है। परन्तु द्रव्यत्व और घटत्व का एक अधिकरण में रहना संभव होने से उनमें विरोध नहीं बनता। वैसे ही, वर्तमान घट के अधिकरण भूतल में भूकाल विशिष्ट घट का अभाव रहने और उनके परस्पर अविरोध होने से शुद्ध घटाभाव से तो घट का विरोध होता है, पर, विशिष्ट घटाभाव से नहीं होता।

इसी प्रकार संयोग सम्बन्ध से घटयुक्त में भूतल में समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न घटाभाव से घट का विरोध नहीं होता।

जैसे ही समान सत्ता वाले प्रतियोगी और अभाव के परस्पर विरोध होने उनका एक अधिकरण में रहना असंभव होते हुए भी विषय सत्ता वाले प्रतियोगी का अभाव से विरोध नहीं बनता। क्योंकि परमार्थिक और व्यावहारिक सत्ता तो कल्पित के अभाव की होती है तथा प्रातिभासिक सत्ता कल्पित की, इसलिए उनका विरोध बनता नहीं। जैसे कि जहाँ सीप में चांदी का भ्रम हो वहां चांदी का व्यावहारिक अभाव है और चांदी के पारमार्थिक न होने से केवलान्वयी ही है, इसलिए सीप में चांदी का पार—मार्थिक अभाव भी बनता है। इस प्रकार भ्रमज्ञान और उसके विषय के अनिर्वचनीय उत्पन्न होने पर भी उसका अभाव व्याव-हारिक ही होता है। इस प्रकार व्यावहारिक अभाव का विरोध व्यावहारिक प्रतियोगी से होता है, किन्तु विषय सत्ता वाले प्रतियोगी से नहीं होता।

अध्यास-प्रसंग में शंकाएँ

इस प्रसंग निम्न चार शंकाएँ होती है—

(१) पहले जो यह कहा है कि स्वप्न प्रपंच का साक्षी अधि–ष्ठान है, वह अयुक्त है। क्योंकि अपने अधिष्ठान में आरोपित होने वाला अपने अधिष्ठान से ही सम्बद्ध भासित होता है। जैसे सीप में आरोपित चाँदी 'यह चांदी है' इस प्रकार अपने अधिष्ठान सीप की इदंता से ही सम्बद्ध प्रतीत होती है और आत्मा में आरोपित कर्त्तृत्वादि 'मैं कर्त्ता हूँ' इस प्रकार अपने अपने अधि-ष्ठान आत्मा से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार स्वप्न के हाथी आदि साक्षी में आरोपित हो तो मैं हाथी हूँ या मुझमें हाथी है, इस प्रकार स्वप्न के हाथी आदि साक्षी के सम्बद्ध प्रतीत होने चाहिए, पर वैसा प्रतीत नहीं होता।

(२) पहले गया कि 'सीप में चाँदी का अभाव व्यावहारिक है या पारमार्थिक' यह कथन हो नहीं सकता। क्योंकि अद्वैतमत में चेतन से भिन्न किसी भी पदार्थ को पारमार्थिक नहीं माना, केवल चेतन को ही माना हैं, तो वैसा मानने पर अद्वैतवाद की हानि होगी। पर, सीप में चांदी के पारमार्थिक न होने से वहां पारमार्थिक चाँदी का अभाव कहना बन सकता है, जबकि सीप में चांदी का पारमार्थिक अभाव कहना नहीं बनता हैं।

(३) यह कहा गया कि सीप में अनिर्वचनीय चांदी की उत्पत्ति-नाश होते है, वह भी असंभव। क्योकि यदि सीप में चाँदि के उत्पत्ति नाश हो सकते हों तो घट के उत्पत्ति-नाश के समान चांदी के उत्पत्ति-नाश भी भासित होने चाहिए। जैसे घट के उत्पन्न होने पर घट उत्पन्न हुआ और घट के नष्ट होने पर घट नष्ट होगया, ऐसी घट की उत्पत्ति-समाप्ति प्रतीत होती है। वैसे ही सीप में चांदी के उत्पन्न होने पर अब चांदी उत्पन्न हुई और सीप के ज्ञान से चाँदी के न रहने पर 'अब चांदी नष्ट हो गई' इस प्रकार सीप में चाँदी के उत्पत्ति-नाश की प्रतीति होनी चाहिए। पर, यथार्थ में तो सीप में केवल चाँदी प्रतीत होती है, उसका उत्पत्ति-नाश प्रतीत नहीं होता. इसलिए शास्त्रान्तर की रीति से अनिर्वचनीय ख्याति न बन कर अन्यथा-ख्याति बनना ही युक्त संगत लगता है।

(४) पहले जो कहा कि भ्रम स्थान में सत्-असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय चाँदी आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं। यह ठीक नहीं। क्योंकि सत् और असत् एक दूसरे से विलक्षण होते हैं। पर, यहाँ सत् से जो विलक्षणता है वह असत् नहीं और असत् से जो विलक्षणता है वह सत् नहीं है। इस प्रकार यह दोनों ही कथन विरुद्ध हैं।

उक्त शंकाओं के समाधान

उक्त शंकाओं के समाधान क्रमशः इस प्रकार है—

(१) अध्यास पूर्व अनुभवों से उत्पन्न संस्कारों से ही होता है और पूर्व अनुभव के समान सस्कार होने पर, उस संस्कार के समान ही अध्यास होता है । सर्व अध्यासों का उपादान अविद्या सर्वत्र समान होते हुए भी निमित्त कारण रूप पूर्व अनुभवजन्य संस्कार विलक्षण ही होते हैं। जिस पदार्थ के अहमाकार ज्ञान में उत्पन्न संस्कार के सहित अविद्या का परिणाम होता हो, उस पदार्थ का अध्यास अहमाकार रूप होता है और जिस पदार्थ के ममताकार ज्ञान से उत्पन्न संस्कारयुक्त अविद्या का परिणाम होता हो, उसका अध्यास ममताकार रूप होता है तथा जिसका इदमाका अनुभव से उत्पन्न संस्कार वाला परिणाम अविद्या का हो उसका अध्यास इदमाकार ही हो सकता है। इस स्थान में स्वप्न के हाथी आदि का पूर्वानुभव अहमाकारादि नहीं वरन् इदमाकार ही होता है, इसलिए 'यह हाथी है' यही प्रतीति होती है, 'मुझ में हाथी है' यह प्रतीति कभी नहीं होती। संस्कार अनुमेय होते हैं और यहाँ संस्कार का जनक पूर्व अनुभव अध्यास रूप है और उस अनुभव का जनक अन्य संस्कार भी इदमाकार होता है। इस प्रकार अध्यास-प्रवाह के अनादि होने से पूर्व अनुभव की इदमाकारता में कोई हेतु न मानने वाली शंका बनती नहीं। क्योंकि अनादि पक्ष में कोई भी अनुभव पहला, नहीं, वरन् सर्व अनुभव पहले-पहले के बाद-बाद के होते हैं।

(२) चांदी के अभाव को पारमार्थिक मानने से द्वैतमत की हानि वाली शंका का समाधान यह है कि सिद्धान्त में सकल पदार्थों के कल्पित होते हुए भी उनका अभाव पारमार्थिक और ब्रह्मरूप है, यह भाष्यकार का मत है। इसमें यह कहना युक्त है

कि ऐसा मानने से अद्वैत की हानि सम्भव नहीं है। इसमें युक्ति आगे दी जायगी।

(३) तीसरी शंका हैं कि सीप में चांदी की उत्पत्ति मानें तो उसकी प्रतीति होनी चाहिए। इसका समाधान यह है—

सीप में चांदी और चांदी में सीप की इदंता, दोनों ही पारस्परिक तादात्म्य सम्बन्ध से अध्यस्त होने के कारण 'यह चाँदी है' ऐसी चाँदी की प्रतीति सीप में होती है। चाँदी में सीप की इदंता का सम्बन्ध अध्यस्त होने के समान ही उसमें सीप का प्राक्सिद्धत्व धर्म भी अध्यस्त है। चाँदी की प्रतीति काल से पहले सिद्ध हुए को प्राक् सिद्ध कहते हैं। चाँदी के प्रतीत होने के समय से पहले सिद्ध सीप है, इसलिए उसी में प्राक्सिद्धत्व धर्म रहता है। इस प्रकार चांदी में सीप की इदंता के साथ ही सीप के प्राक्सिद्धत्व धर्म का भीं अध्यास होने से 'अब चाँदी उत्पन्न हुए' ऐसा प्रतीत न होकर यह प्रतीत न होकर यह प्रतीत होता है कि 'पहले उत्पन्न हुई चाँदी को देखता हूँ। इस प्रतीति का विषय प्राग्जातत्व सीप में है, चाँदी में नहीं। चांदी में इदानींजातत्व है, परन्तु प्राग्जातत्व की प्रतीति अवश्य होती है।

इस स्थान में यदि चाँदी में अनिर्वचनीय प्राग्जा तत्व का उत्पन्न होना मानें तो गौरव है। औंर यदि चाँदी में सीप के प्राग्जातत्व का उत्पन्न होना मानें तो अन्यथाख्याति मान लेते हैं और सिद्धान्त में एसा मानते है, तो भी सीप के प्राक्सिद्धत्व धर्म का चांदी में अनिर्वचनीय सम्बन्धउत्पन्न होने की मान्यता वाला पक्ष ही उचित है और फिर 'रजत के नाश होने पर उसके नाश को प्रतीति होनी चाहिए' इस शंका का यह समाधान है कि सीप रूप अधिष्ठान का ज्ञान होने पर ही चांदी का नाश होता है,

जिससे चाँदी का बाध होता है। अर्थात् त्रिकाल में भी सीप में चांदी नहीं है, यह निश्चय बाध कहलाता है और यह निश्चय नाश की प्रतीति का विरोधी भी है। क्योंकि ताश में निमित्त प्रतियोगी होता है, जबकि बाध में प्रतियोगी सदा बाध प्रतीत होता है।

(४) 'सत्-असत् से विलक्षण नहीं कह सकते' इस चौथी शंका का समाधान है कि स्वरूपहीन को सत् से विलक्षण और विद्यमान स्वरूप को असत् से विलक्षण कहने से तो अवश्य विरोध होता, क्योंकि एक ही पदार्थ में स्वरूप का होना और न होना, दोनों नहीं हो सकते। इसलिए यहां सत्-असत् से विलक्षण का उक्त अर्थ न मान कर यह समझना चाहिए कि जिसका त्रिकाल में बाध न हो वह सत् और जिसका बाध होजाय वह 'सत् से विलक्षण होता है। तथा जो शश के सींग और वन्ध्या के पुत्र के समान स्वरूपरहित हो वह 'असत्' और उससे विलक्षण अर्थात् स्वरूपवान असत् से विलक्षण होता है। इस प्रकार बाध-योग्य, किन्तु स्वरूपवान् 'सत्-असत् विलक्षण' का अर्थ समझना चाहिए।

अध्यास-भेद का अनुवाद

इस प्रकार भ्रमज्ञान होने पर सर्वत्र ही अनिर्वचनीय पदार्थ के उत्पन्न होने पर कहीं संबंध और कही सम्बन्धी की उत्पत्ति होती है। जैसे कि सीप में चांदीरूप सम्बन्धी की और चांदी में सीप-वर्ती तादात्म्य-सम्बन्ध की तथा चांदी में सीप-वर्ती प्राक्सित्व धर्म के अनिर्वचनीय सम्बन्ध की भी उत्पत्ति होती है। जब चांदी में न तो सीपवर्ती तादात्म्य को अन्यथा ख्याति हैं और न

सीप के प्राग्जातत्व की अन्यथा ख्याति ही। इस प्रकार यह उदाहरण अन्योऽन्याध्यास का ही है।

सबन्धाध्यास और स्वरूपाध्यास के भेद से अन्योऽन्याध्यास दो प्रकार का है। जहाँ अन्योऽन्याध्यास हो, वहाँ अधिष्ठान और अध्यास परस्पर अध्यास स्वरूप से नहीं होता, वरन् आरोपित का अपने ही अधिष्ठान में स्वरूपाध्यास होता है। जैसे कि चांदीत्व धर्मविशिष्ट चाँदी का जो अध्यास सीप में होता है, वह स्वरूप से अध्यास होने के कारण सीप में चांदी का स्वरूपाध्यास कहलाता है। परन्तु चांदी में सीप का स्वरूप से अध्यास नहीं होता, वरन् सीप में विद्यमान इदंतारूप धर्म का अध्यास होने से सम्बन्धाध्यास कहलता हैं।

धर्म के सम्बन्धाध्यास और धर्मी के सम्बन्धाध्यास के भेद से सम्बन्धाध्यास के दो प्रकार हैं। प्रथम जैसा सीप के इदन्तारूप धर्म का अध्यास और दूसरा जैसा दर्पण से मुखरूप धर्मी के सम्बन्ध का अध्यास कहा है। वैसे ही आत्मा में अन्तःकरण का तो स्वरूपाध्यास होता है किन्तु अन्तःकरण में आत्मा का स्वरूपाध्यास न होकर सम्बन्धाध्यास होता है और यहीं संसर्गाध्यास कहलाता है। इसी प्रकार घट स्फुरण करता है' या 'पट स्फुरण करता है' इस भाँति आत्मा-स्फुरण रूप सम्बन्ध की प्रतीति सभी जड़ पदार्थों में होने से आत्मस्थ स्फुरण का सम्बन्धाध्यास निखिल पदार्थों में होता है। वैसे ही इन्द्रियों के कानापन, बहिरापन, गूँगापन आदि धर्म आत्मा में प्रतीत होने से आत्मा में इन धर्मों का अध्यास तो होता है, किन्तु आत्मा में धर्मीरूप इन्द्रियों का तादात्म्याध्यास नहीं होता।

जैसे आत्मा में ब्राह्मणत्व आदि धर्म विशिष्ट देह का तो तादात्म्याध्यास होता है, किन्तु देहत्व विशिष्ट देह का नहीं

होता। इसीलिए विवेकी पुरुष यह व्यवहार तो करते हैं कि 'मैं ब्राह्मण हूँ' अथवा' में मनुष्य हूँ' किन्तु यह व्यवहार कभीं नहीं करते कि 'मैं देह हूँ' और इसीलिए अविद्या की महिमा के कारण आत्मा में इन्द्रियों का अध्यास न होते हुए भी इन्द्रिय के काना-पन आदि धर्मों का अध्यास होता है। यह धर्माध्यास का उदाहरण हुआ।

जो अन्याश्रित अर्थात् परतन्त्र हो, वह धर्म कहलाता है। इससे सम्बन्ध स्वतन्त्र न होने से धर्म ही होता है और सम्बन्ध का जो अध्यास है, वही धर्माध्यास समझना चाहिए। परन्तु धर्म के दो भेद माने गए हैं, उनमें एक तो अनुयोगी प्रतियोगी की प्रतीति के अधीन प्रतीति का विषय और दूसरा केवल अनुयोगी की प्रतीति के अधीन प्रतीति का विषय माना जाता है। किन्तु कभी अनुयोगी की प्रतीति न होने पर भी धर्म की प्रतीति हो जाती है। जैसे घटत्व की प्रतीति में अनुयोगी की प्रतीति की तो अपेक्षा होती है, पर, 'घटत्व नित्य है' ऐसी शब्द जन्य प्रतीति में वैसी अपेक्षा नही होती। इस प्रकार दो भाँति के धर्मों में से अनुयोगी-प्रतियोगी की प्रतीति के बिना जो धर्म प्रतीत न हो, वह धर्म ही सम्बन्ध कहलाता है और घटत्व आदि धर्म मात्र है, वह सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार सम्बन्धाध्यास का ही धर्माध्यास समझना चाहिए।

जिन अन्योऽन्याध्यास, सम्बन्धाध्यास, स्वरूपाध्यास, धर्माध्यास और धर्मी के अध्यास के सोदाहरण लक्षण ऊपर कहे गए उन सभी अध्यासों के दो भेद होते हैं—अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यास। जो अनिर्वचनीय वस्तु की प्रतीति हो वह ज्ञानाध्यास और उस ज्ञान का विषय अनिर्वचनीय पदार्थ अर्थाध्यास कहलाता है। इस प्रकार क्योंकि भ्रमकाल और भ्रमस्थान मे

अनिर्वचनीय विषय और उसके ज्ञान के साथ-साथ उत्पन्न होने इन दोनों अध्यासों के लक्षण होने स्वाभाविक है। परन्तु परोक्ष और प्रत्यक्ष के भेद से भ्रम के भी दो प्रकार हैं जहाँ अग्नि-रहित देश में अग्नि का अनुमिति ज्ञान ही परोक्ष भ्रम है। उसे इस प्रकार समझिये कि अग्नि का व्याप्य महानसत्व नहीं, वरन् धर्म है। किन्तु यदि महानस में बार-बार अग्नि-दर्शन के अभ्यास से महानसत्व में अग्नि की व्याप्यता का भ्रम हो और अग्निशून्य महानस में भी यह अनुमान हो कि पहले देखे हुए महानस के समान यह महानस महानसत्व होने से अग्नियुक्त है तो महानस में अग्नि का अनुमिति रूप परोक्ष भ्रम होता है और विप्रलम्भक वाक्य से भी अग्नि का शाब्दी परोक्ष भ्रम होता है किन्तु परोक्ष भ्रम हो तो अनिर्वचनीय विषय उत्पन्न होना नहीं मान सकते वरन् उस स्थान में असत् अग्नि की ही प्रतीति होती हैं। यद्यपि अध्यास का लक्ष्य प्रत्यक्ष भ्रम हैं, तथापि अग्नि के अभाव वाले अधिकरण में अग्नि की प्रतीति होने के कारण स्वाभावाधिकरण में अवभास तो मानना ही होगा, क्योंकि विषय और ज्ञान अव-भाव ही कहलाते हैं।

इसप्रकार यद्यपि अग्नि के अभावाधिकरण में अग्नि का परोक्ष ज्ञान रूप अवभास होने के कारण उक्त अध्यास के लक्षण की परोक्ष भ्रम में अति व्याप्ति होते हुए भी उक्त लक्षण में अव-भास पद से प्रत्यक्ष ज्ञान ग्रहण किया जाता है। इसलिए उक्त लक्षण की अति व्याप्ति परोक्ष भ्रम में संभव नहीं। पर, जहाँ परोक्ष भ्रम हो, वहाँ नैयायिकादि के अन्यथाख्याति से निर्वाह करने के समान अद्वैत मत में भी उससे विलक्षण कहने का आग्रह नहीं है। पर,अद्वैत मत प्रत्यक्ष भ्रमरूप प्रतिभासिक अ-ध्यास में ही विलक्षणता मानता है क्योंकि कर्तृत्वादि अनर्थ रूप

भ्रम प्रत्यक्ष ही है और स्वात्मरूप के ज्ञान से उस भ्रम के निवारणार्थ ही अध्यास का निरूपण होता है। इसलिए अध्यास प्रतिपादन में दृष्टान्त के लिए प्रत्यक्ष भ्रम को मानने में ही अद्वैतमत का आग्रह है, परोक्षभ्रम में नहीं।

सिद्धान्त में अनिर्वचनीयख्याति

सिद्धान्त में अनिर्वचनीय ख्याति को इस प्रकार माना है कि जहाँ रस्सी में सर्प-भ्रम होता है, वहाँ अधिष्ठान का सामान्यज्ञान और विशेष अज्ञान अध्यास का हेतु होने से सदोष नेत्र रूप प्रमाण से रस्सी का इदमाकार सामान्य ज्ञान ही सम्भव है, विशेष ज्ञान नहीं। उस सदोष नेत्र का रस्सी से सम्बन्ध होने पर अन्तःकरण की जो इदमाकार वृत्ति रस्सी देश में जाती है उससे प्रमातृचेतन का इदंपदार्थ से अवच्छिन्न चेतन से भेद नहीं बनता इससे रस्सी का सामान्य इदरूप के प्रत्यक्ष होने पर उस प्रत्यक्ष विषय का इदमाकार ज्ञान भी प्रत्यक्ष ही होता है। क्योंकि प्रमातृचेतन का जिस विषय से अभेद हो, वह विषय और उसका ज्ञान दोनों ही प्रत्यक्ष कहा जाता है।

क्योंकि यहाँ प्रमातृचेतन का विषयचेतन से वृत्ति द्वारा अभेद होने के कारण वह अभेद भी बाधारहित है। इसलिए यद्यपि घटादि विषयों के प्रत्यक्ष में घटादि विषयों से प्रमातृचेतन का जो अभेद-हेतु कहा है, वह बनता नहीं। तो भी 'प्रमातृचेतन का विषय से अभेद विषय के प्रत्यक्षत्व का हेतु' कहने से प्रमातृचेतन और विषय का ऐक्य नहीं, वरन् प्रमातृचेतन की सत्ता ही जिस विषय की सत्ता बन जाय, उस विषय का प्रत्यक्ष होना ही विवक्षित है।

घट का अधिष्ठान घट-अवच्छिन्न चेतन और रस्सी का अधिष्ठान रस्सी-अवच्छिन्न चेतन है। इस भांति सर्व विषयों का अधिष्ठान विषय-अवच्छिन्न चेतन ही है तथा भ्रम स्थान में भी अधिष्ठान की सत्ता से अध्यस्त की सत्ता पृथक् नहीं होती वरन् जो अधिष्ठान की सत्ता है वहीं अध्यस्त की सत्ता समझनी चाहिए इस प्रकार विषयावच्छिन्न चेतन की सत्ता और विषय को सत्तामें अभिन्नता होता है तथा अन्तःकरण की वृत्ति से प्रमातृचेतन का विषय से जहां अभेद हो वहाँ प्रमातृचेतन भी विषयचेतनसे अभिन्न रहता हुआ ही विषय का अधिष्ठान बनता है। अतएव अपरोक्ष वृत्ति के विषय के अधिष्ठान प्रमातृचेतन की सत्ता से विषय की भिन्न का अभाव ही प्रमातृचेतन से विषय का अभेद माना जाता है, इसलिए प्रत्यक्षस्थल में विषय देश में वृत्ति का निर्गमन मानते हैं।

इस प्रकार, यह सर्प है,यह चांदी है इत्यादि भ्रमज्ञान प्रत्यक्ष होते हैं, इसमें भ्रम से अव्यवहित पूर्वकाल में भ्रम के हेतु अधिष्ठान का सामान्य ज्ञान तो प्रत्यक्षरूप प्रमा और सर्पादि विषय तथा उनसे उत्पन्न होने वाले ज्ञान भ्रमरूप ही होते हैं, यह साम्प्रदायिक मान्यता है।

अनिर्वचनीयख्याति में शंका-समाधान

यहाँ शंका होती है कि रस्सी—सीप आदि का इदमाकार प्रत्यक्ष प्रमा से भी विषयचेतन में विद्यमान अज्ञान के निवृत्त हो जाने के कारण उपादानाभाव से सर्पादि और उनका ज्ञान उत्पन्न होना असंभव होता है।

उक्त शंका का समाधान संक्षेप शारीरिक के अनुसार इस प्रकार है कि इदमाकार वृत्ति से विषय के इदमांश का अज्ञान

तो निवृत्त होता है, पर रस्सीत्व और सीपत्व आदि विशेषांश का अज्ञान निवृत्त नहीं होता और रस्सीत्व-सीपत्वादि विशेषांश के ज्ञान से ही अध्यास की निवृत्ति हो सकती है, इसलिए अध्यास का हेतु उनके विशेष अंश का अज्ञान ही होता है, सामान्य अंश का अज्ञान नहीं। क्योंकि यदि सामान्य अंश का अज्ञान ही हेतु होता तो इदमाकार सामान्य ज्ञान से ही अध्यास का निवारण होजाना चाहिए। इसलिए अध्यास में इदमांश के ज्ञान की अपेक्षा नहीं, वरन् प्रत्यक्ष अध्यास में इदमाकार नेत्रज प्रमा की अपेक्षा है। क्योंकि सदोष नेत्र का रस्सीत्व आदि से संयोग होने पर ही सर्पादि का प्रत्यक्ष भ्रम होता है, इसलिए नेत्रजन्य प्रत्यक्ष प्रमा रूप अधिष्ठान का सामान्य ज्ञान ही अध्यास का हेतु बनता है। वहाँ अध्यास में सामान्य ज्ञान का उपयोगी अन्य प्रकार से तो नहीं हो सकता, परन्तु सामान्य ज्ञान के अध्यास के उपादान रूप अज्ञान में क्षोभ उत्पन्न करने वाला हो सकता है। इस प्रकार अध्यास में साधक रूप होने से अधिष्ठान का सामान्य ज्ञान इदमांश के ज्ञानाध्यास का वाधक नहीं है।

चक्रवर्ती नृसिंह भट्टोपाध्यास अध्यास में अधिष्ठान के सामान्य ज्ञान की हेतुता का निषेध करते हैं। यद्यपि वे भी अद्वैतवादी हैं, तो भी उनका कथन साम्प्रदायिक कथन के विपरीत है। क्योंकि अधिष्ठान का सामान्य ज्ञान अध्यास का हेतु है, इसलिए संक्षेप-शारीरक में अधिष्ठान-आधार का भेद बताया है। अभिप्राय यह कि कार्य सहित अज्ञान का विषय अधिष्ठान होता है। जैसे कि सर्पादि कार्य सहित अज्ञान के विषय रस्सी आदि विशेष रूप होने से वे सर्पादि के अधिष्ठान होते तथा अध्यस्त से ऐक्य रखते हुए जिसका स्फुरण हो वह आधार होता है। जैसे कि यह सर्प है, यह चाँदी है इत्यादि भ्रमों की प्रतीतियों में अध्यस्तरूप सर्प-

चाँदी आदि से सामान्यरूप इदमांश ऐक्य रख कर स्फुरित होने से वही इदमांश आधार रहता है। इस मत के अनुसार 'अधिष्ठान और अध्यस्त एक ही ज्ञान के विषय होने के स्थान पर आधार-अध्यस्त एक ही ज्ञान के विषय होते हैं, यह मान्य है। यदि अधिष्ठान-अध्यस्त में एक ज्ञान की विषयता मानें तो रस्सी-सीपादि विशेषरूप अधिष्ठान होने के कारण रस्सी सर्प है या सीप चाँदी है। ऐसा भ्रम होना चाहिए। किन्तु आधार-अध्यस्त ही एक ज्ञान के विषय होने से समान्य इदमांश ही आधार होता है, इसलिए यह सर्प है, यह चाँदी है, ऐसे आकार का भ्रम होता है। अतः अध्यास का हेतु विशेषांश का अज्ञान ही है।

पंचपादिका विवरणकार का मत

पंचपादिका विवरणकार के अनुसार अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं—आवरण और विक्षेप। इनमें जो आवरणरूप शक्तिविशिष्ट अज्ञानांश है, उसका ज्ञान से विरोध होने के कारण, वह अज्ञानांश ज्ञान से नष्ट हो जाता है। इसके विपरीत विक्षेपरूप शक्ति-विशिष्ट अज्ञानांश ज्ञान का विरोधी नहीं है, इसलिए ज्ञान से उसका नाश सम्भव नहीं।

परन्तु द्वितीय पंचपादिक के मत में अधिष्ठानता सामान्य अंश में ही है और विशेषांश में आधारता का अभाव समान है। क्योंकि अध्यस्त से अभिन्न भासित होने वाला ही आधार होता है। तब यदि 'रस्सी सर्प है' ऐसी प्रतीति होने पर ही विशेषांश अध्यस्त से अभिन्न रह कर प्रतीति होना कहा जा सकता था। परन्तु वैसी प्रतीत न होने से रस्सी आदि को विशेष रूप मे आधारभूत नहीं कह सकते। ऐसे ही प्रथम पक्ष में रस्सी-सीपत्व से प्रमाणोत्पन्न ज्ञान की प्रमेयता होती है, परन्तु रस्सीत्व

सीपत्वरूप से प्रमेयता न होने से और उनका विशेषरूप प्रकार न होने से उनके विशेषरूप में सर्प और चाँदी की अधिष्ठानता है। द्वितीय पक्ष में अज्ञान की आवरणशक्ति की विरोधी प्रमा की विषयता रूप प्रमेयता इदंतारूप में होने पर भी विक्षेपशक्ति युक्त अज्ञान को विषयता प्रत्यक्ष में भी असंभव है, इसलिए उस इदंतारूप में ही चाँदी आदि की अधिष्ठानता भी होती है।

विषयोपहित और वृत्त्युपहितचेतन का अभेद

विषयोपहित चेतन और वृत्त्युपहित चेतन के अभेद में यह शंका होती है कि जहाँ इदमाकार प्रत्यक्ष वृत्ति हो, वहाँ उक्त दोनों का अभेद होने से उक्त प्रकार से विषय और ज्ञान के उपादान एवं अधिष्ठाता का भेद कहना नहीं बनता। यदि सर्पादि विषय के अधिष्ठान से उसके ज्ञान के अधिष्ठान को पृथक् मानें तो सर्पादि के अधिष्ठान का ज्ञान सर्पादि के ज्ञान को निवृत्त नहीं कर सकता, क्योंकि अध्यस्त की निवृत्ति स्वास्व अधिष्ठान के ज्ञान से ही होती है। यदि दूसरे के अधिष्ठान ज्ञान से भी अध्यस्त का निवारण होता हो तो सर्प के अधिष्ठान रूप रस्सी के ज्ञान से अध्यस्त रूप संसार भी निवृत्त होजाना चाहिए। परन्तु एक अधिष्ठान के ज्ञान से ही सर्पादि विषय और उनका ज्ञान दोनों का निवारण प्रत्यक्ष होने से दोनों का अधिष्ठान एक ही मानना योग्य है।

उक्त शंका का यह समाधान है कि एक वस्तु के उपाधिकृत भेद होने पर, उपाधि के निवारण से वस्तु का अभेद होता है और एक देश में ही दो उपाधि हों तो भी उपहित का भेद नहीं रहता। परन्तु दो उपाधियों के एक ही देश में स्थित होने से उपहित का अभेद होने पर एक ही उपहित रूप धर्मी में तत्तत्

उपहितत्व रूप दो धर्मों की विद्यमानता होती है। जैसे एक ही आकाश का भेद घट-मठ रूप उपाधि भेद से होता है और घट-मठ रूप उपाधि के नष्ट होते ही आकाश में भेद नहीं रहता।

अभिप्राय यह है कि एक देश में दो उपाधियों के होते हुए भी उपहित का अभेद रहता है, किन्तु उसके धर्मों का भेद रहना बनता है। यदि उपाधि भिन्न स्थान में हों तब भेद व्यवहार होता है, पर,उपाधि के निवृत्त होने पर यह भेद व्यवहार समाप्त हो जाता है। इस प्रकार वृत्ति और विषय दोनों के एक देश में विद्यमान होने पर चेतन का अभेद होते हुए भी उपाधिपुरस्कार से पहले कहे हुए उपादान और अधिष्ठान का भेद कहना उपयुक्त है। पर, स्वरूप से उपहित का अभेद होने से एक अधि्ठान के ज्ञान से सर्पादि विषय और उनके ज्ञानों का निवारण भी असम्भव नहीं है।

इदमाकार प्रमाजन्य भ्रमज्ञान में मत वैभिन्न

रस्सी आदि की इदमाकार प्रमा के सर्पादि के भ्रमज्ञान में निम्न दो पक्ष हैं—

(१) एक पक्ष के अनुसार यह सर्प है, यह चाँदी है, ऐसी अधिष्ठानगत इदंता और सर्प-चाँदी आदि में उसके सम्बन्ध को विषय करने वाला सर्प-चाँदी आदि रूप गोचर भ्रम होता है। अधिष्ठान की इदंता और सप-चांदी आदिमें उस इदंता के सम्बन्ध को छोड़ कर सर्प-चाँदी आदि गोचर प्रत्यक्ष भ्रम सभव नहीं। यदि अध्यस्त गोचर मात्र भ्रम होता हो तो उस भ्रम का आकार भी सर्प या चाँदी ही होना चाहिए। परन्तु इम सर्प को जानता हूं, इस चाँदी को जानता हूं, ऐसे भ्रम का अनुव्यवसाय इदंपदाय

से तादात्म्य-आपन्न सर्प-चाँदी आदि गोचर व्यवसाय को ही विषय करने वाला होता है। वहाँ कल्पित सर्पादि में तो वर्तमान काल और पुरोदेश का सम्बन्ध न होने से इदंता बनती ही नहीं परन्तु व्यावहारिक देशकाल का प्रतिभासिक देशकाल से व्यावहारिक सम्बन्ध तो हो नहीं सकता और अधिष्ठानवर्ती इदंता की कल्पित में इदंता मानना व्यर्थ भी है। इस प्रकार अन्यथाख्याति न माननी ही हो तो कल्पित में अधिष्ठानवर्ति इदंता का अनिर्वचनीय सम्बन्ध तो मान्य हो ही सकता था। परन्तु कल्पित में इदंता का मानना संभव नहीं, क्योंकि जैसे सम्बन्धी को छोड़कर सम्बन्ध मात्र का ज्ञान नहीं हो सकता, वैसे ही अधिष्ठानवर्ति इदंता को छोड़ कर केवल अध्यस्तगोचर इदंता का प्रत्यक्ष भ्रम असंभव है। इस प्रकार इदंपदार्थ की दो प्रकार की प्रतीति होती है, इनमें से एक तो इन्द्रिय और अधिष्ठान के संयोग से अन्तःकरण की इदमाकार प्रमारूप वृत्ति और दूसरी इदमाकार वृत्ति-उपहित चेतन में स्थित अविद्या के परिणाम सर्प-चाँदी आदि गोचर भ्रमरूप वृत्ति है, जो कि अध्यस्त में इदंपदार्थ के तादात्म्य को विषय करती है। इस प्रकार प्रत्यक्ष भ्रम सर्वत्र ही इदमाकार रूप होकर अध्यस्ताकार होते हैं।

(२) द्वितीय पक्ष में अनेक ग्रन्थाकारों का कहना है कि अधिष्ठान और इन्द्रिय के संयोग से हुई अन्तःकरण की इदमाकार प्रमारूप वृत्ति से क्षोभ वाली अविद्या का परिणाम केवल अध्यस्ताकार होता है, किन्तु अविद्या का परिणाम इदमाकार नहीं होता, क्योंकि अविद्या का परिणाम पदार्थाकार संभव नहीं। इसलिए भ्रमज्ञान की विषयता अधिष्ठान की इदंता में नहीं, वरन् अध्यस्त में ही हो सकती है।

और प्रथम पक्ष में जैसे सर्पादि की अधिष्ठानवर्ति इदंता का प्रतीति सर्पादि अध्यस्तों में मानी है अथवा सर्पादि अध्यस्तों में

इदंता के अनिर्वचनीय संबंध का उत्पन्न होना माना गया है, वैसे ही दूसरे पक्ष में सर्पादि भ्रमज्ञानों के अधिष्ठान रूप इदमाकार प्रमा वृत्ति में इदंपदार्थ विषयकत्व की सर्पादि भ्रमों में प्रतीति होती है। अथवा इदमाकार प्रमावृत्ति रूप अधिष्ठान में इदंपदार्थ विषयकत्व का सर्पादि भ्रमों में अनिर्वचनीय सम्बन्ध उत्पन्न होता है और इसी कारण इदमाकार वृत्ति-उपहित चेतन ही सर्पादि भ्रमज्ञानों का अधिष्ठान होता है।

इसके विपरीत यदि इदमाकार वृत्ति-उपलक्षित अधिष्ठान मानें तो उक्त वृत्ति से दो-चार घड़ी का अन्तर होने पर भी सर्पभ्रम होना चाहिए, क्योंकि उपलक्षण में वर्तमानत्व की अपेक्षा नहीं। इस प्रकार वक्ष्यमाण ढंग से उपाधि में वर्तमानत्व की अपेक्षा होती है और जिसकी उपाधि इदमाकार वृत्ति हो वही इदमाकार वृत्त्युपहित कहलाता है। इसलिए जब सर्प और चांदी आदि का भ्रमज्ञान हो, उस समय यह मानना उचित है, कि अंत:करण की इदमाकार वृत्ति भी रहती है। क्योंकि अधिष्ठान की सत्ताकाल से अतिरिक्त काल में अध्यस्त न होने से भ्रम ज्ञान के समय वृत्ति-उपहित चेतन की अधिष्ठानता में उपयोगी अन्त:करण की वृत्ति इदमाकार और अविद्या की वृत्ति सर्पाद्याकार होती है। इस प्रकार भ्रमस्थान में 'यह सर्प' ऐसे दो ज्ञान होते हैं, उनमें प्रमावृत्ति इदमाकार और भ्रमवृत्ति सर्पाकार होती है।

अवच्छेदकता के सम्बन्ध से भ्रम वृत्ति का अधिष्ठान इदमाकार प्रमा वृत्ति है और अध्यस्त का अधिष्ठान से अभेद सम्बन्ध है ही। जैसे ब्रह्म और प्रपंच का अभेद 'यह सब ब्रह्म ही है' इस प्रतीति का विषय है, वैसे ही 'यह सर्प है' इस प्रकार दोनों वृत्तियों का अभेद प्रतीत होता है। यद्यपि यहाँ दो वृत्ति मानी जाने पर

अधिष्ठान अध्यस्त दोनों का एक ज्ञान का विषय होने विषयक प्राचीन मत में बाधा अवेगी तो भी 'दोनों एक ज्ञान के विषय होना नहीं, वरन् एक साक्षी के विषय होना है। इस प्रकार भ्रम वृत्ति को अनेक आचार्यों ने अध्यस्तमात्रगोचरता अंगीकार किया है।

चक्रवर्ती नृसिंह भट्टोपाध्याय के मत में भ्रान्ति ज्ञान के सिवाय इदमाकार प्रमा ज्ञान भ्रम का हेतु होता है,वरन् भ्रान्ति-ज्ञान ही भ्रम का हेतु होता है और यह सर्प है, यह चाँदी है, इस प्रकार भ्रमरूप एक ही ज्ञान होता है यदि भ्रम से पहले रस्सी-सीप आदि का इदमाकार प्रमारूप सामान्य ज्ञान मानें तो क्या अनुभावनुसार दो ज्ञानों का मानते हो ? अथवा भ्रमरूप कार्य की अनुपपत्ति मानते हुए भ्रम से भिन्न सामान्य ज्ञान को मानते हो ? इस पर यदि अनुभवानुसार दो ज्ञानों को मानें तो सम्भव नहीं है। क्योंकि प्रथम पक्ष में इदंपदार्थ को विषय करने वाली जो दो वृत्तियाँ मानी गई हैं, उनमें एक अन्तःकरण की इदमाकार प्रमावृत्ति और दूसरी इदंपदार्थ को विषय करने वाली अविद्या की अध्यस्त गोचर भ्रमवृत्ति है। इस पक्ष में इदंपदार्थ को जो दो भाँति की प्रतीति कही है, वह किसी के भी अनुभव में नहीं आई। क्योंकि सर्प-चाँदी आदि गोचर एवं इदंगोचर एक ही ज्ञान सब के अनुभव में आया है। दूसरे पक्ष में इदंपदार्थ के दो ज्ञान न मानने पर भी, यह सर्प, यह चांदी, इस भाँति प्रत्येक भ्रम के दो-दो ज्ञान अंगीकार किये हैं। उनमें इदमाकार कोरा प्रमारूप और सर्पादिगोचर भ्रम रूप, यह जो दो ज्ञान माने हैं, वे भी अनुभव के विरुद्ध ही हैं।

धर्मिज्ञानवादी की शंकाओं का समाधान

इस प्रसंग में सामान्यज्ञान को मानने वाले सामान्यज्ञान-वादी पूर्वपक्षी ही धर्मिज्ञानवादी है। यदि वे शंका करें कि रस्सी

आदि से इन्द्रिय संयोग होने पर तो सर्पादि अध्यास होता है, पर इन्द्रिय-संयोग न होने पर नहीं होता । इससे अन्वय-व्यतिरेक से अधिष्ठान-इन्द्रिय का संयोग ही अध्यास का कारण होना सम्भव है और वह संयोग अधिष्ठान के सामान्य ज्ञान से कारण बनेगा ।

इसका समाधान सिद्धान्ती उपाध्याय इस प्रकार करते हैं कि उक्त कथन अनुपयुक्त है, क्योंकि अहंकारादि अध्यास तो अधिष्ठान और इन्द्रिय के संयोग के बिना भी होते हैं । इसलिए यह कहना नहीं बनता कि अध्यासमात्र में अधिष्ठान का हेतु सामान्य ज्ञान है ।

इस पर शंका करें कि अहंकारादि अध्यास का अधिष्ठान तो प्रत्यगात्मा ही है, जो कि स्वयं प्रकाश है । इसलिए अधिष्ठान-इन्द्रिय-संयोग वहाँ असम्भव है । तो भी सर्पादि अध्यास के अधिष्ठान और इन्द्रिय के संयोग से सामान्य ज्ञान का होना असम्भव नहीं इस प्रकार अध्यास में स्वप्रकाश रहित अधिष्ठान से इन्द्रिय संयोग का उपयोग सामान्यज्ञान द्वारा ही सम्भव है । इस प्रकार अध्यास का कारण अधिष्ठान का सामान्य ज्ञान ही है ।

इसका समाधान यह है कि यदि सामान्यज्ञान के बिना कोई अध्यास हो ही नहीं तब तो सामान्य ज्ञान में अध्यास की कारणता हो सकती है, किन्तु घटादि अध्यास भी अधिष्ठान के सामान्य ज्ञान बिना होते हैं, तब उक्त कथन कैसे माना जाय ? अब यदि घटादि अध्यास से पहले भी सामान्य ज्ञान मान लें तो हम यह पूछेंगे कि अधिष्ठान से नेत्र संयोगोत्पन्न अन्तःकरण की वृत्ति रूप सामान्य ज्ञान ही अध्यास का हेतु है अथवा चेतन

स्वरूप प्रकाश ही सामान्य ज्ञान एवं अध्यास का हेतु हो सकता है ? यदि पहली बात मानें तो नहीं मान सकते क्योंकि अध्यास का अधिष्ठान अज्ञान-अवच्छिन्न ब्रह्म का तो कोई रूप नहीं, इसलिए अन्त:करण की चाक्षुषवृत्ति तो ब्रह्मगोचर हो नहीं सकती और दूसरी बात कहें तो जो चेतन स्वरूप प्रकाश आवृत है, उस सामान्य ज्ञान को अध्यास का हेतु मानें तो रस्सी आदि से इन्द्रिय संयोग के बिना भी सर्पादिरूप अध्यास होना चाहिए ' इसलिए यह भी अध्यास का हेतु नहीं हो सकता ।

य द यह कहें कि हम सर्व अध्यासों में अनावृत प्रकाशरूप सामान्यज्ञान को हेतु मान तब तो तुम घटादि अध्यासों में सामान्य ज्ञान को व्यभिचार कह सकते हो । परन्तु हम तो अध्यासमात्र में आवृत या अनावृत प्रकाश को तथा प्रातिभासिक अध्यास में अनावृत प्रकाश मात्र को हेतु मानते हैं । जैसे तुम्हारे मत में अधिष्ठान से इन्द्रिय-संयोग को सर्पादि अध्यास का हेतु माना है, परन्तु घटादि अध्यास का हेतु नहीं माना जो कि असंभव है । इसलिए अधिष्ठान से इन्द्रिय संयोग के अभाव का समय सर्पादि अध्यास का भी संभव नहीं, किन्तु घटादि अध्यास इन्द्रिय संगोय के बिना भीं होते है, यह तुम्हारे मत में भी संभव है । वैसे ही हम भी प्रातिभासिक अध्यासों का हेतु तो अनावृत्त प्रकाश को ही मानते हैं । इसलिए इनमें सर्पादि अध्यास के पहले आवरण दूर करने के लिए इदमाकार सामान्य ज्ञानरूप प्रमा अपेक्षित होती है । परन्तु घटादि अध्यास का हेतु सामान्य प्रकाश ही होने से उनमें अनावृत्त प्रकाश को होने के लिए सामान्य ज्ञान रूप वृत्ति अनपेक्षित है ।

उक्त शंका का समाधान है कि प्रातिभासिक अध्यासों से पहले अन्त:करण की इन्द्रियजन्य प्रमावृत्ति सामान्य ज्ञान के रूप

में नियम पूर्वक होती है । इसका भी शंख के पीतमाध्यास और कुँए के जल के नीलताध्यास में व्यभिचार बनता है । क्योंकि प्रातिभासिक अध्यास वह है, जिसका ब्रह्मज्ञान के बिना ही बाध होजाय और क्योंकि ब्रह्मज्ञान से पहले ही शंख की श्वेतता के ज्ञान से उसके पीलेपन का और जल की श्वेता के ज्ञान से उसके नीलेपन का बाध होजाने से इसे भी प्रातिभासिक अध्यास ही समझना चाहिए । यहाँ धर्मज्ञानवादी के अनुसार प्रातिभासिक अध्यासों में नियम सहित अनावृत प्रकाश ही कारण है इसलिए शंख और जल से नेत्र का संयोग होकर अन्तःकरण की इदमाकार सामान्यज्ञान रूप प्रमावृत्ति से प्रकट शंखावच्छिन्न चेतन में पीतता और जलावच्छिन्न चेतन में नीलता का अध्यास होता है । परन्तु हमारे मत में शंख या जल से नेत्र का संयोग होने पर पीपता या नीलता का अध्यास हो जाता है और उसमें इदमाकारवृत्ति अपेक्षित नहीं होती । अब यह प्रश्न बनता है कि यहाँ इदमाकारवृत्ति के विषय रूप को त्यागने पर केवल शंखादि ही द्रव्य है ? या रूप विशिष्ट जो शंख और जल , वही इदमाकार वृत्ति के विषय हैं ? यदि रूप-रहित द्रव्य को वृत्ति का विषय मानें तो नहीं मान सकते । क्योंकि नेत्रजन्य वृत्ति केवल द्रव्य को विषय नहीं करती, वरन् रूप और रूप-विशिष्ट द्रव्य को विषय करती है । यदि रूप विशिष्ट शंखगोचर और जलगोचर ज्ञानरूप सामान्य वृत्ति कहें तो यह प्रश्न होगा कि चाक्षु प्रवृत्ति श्वेतरूप विशिष्ट शंख और जल को विषय करती है? या पीतरूप विशिष्ट शंख और नीलरूप विशिष्ट जल को ? यदि प्रथम मत मानें तो उनके वास्तविक श्वेतरूप को विषय करती हुई इदमाकार वृत्ति के उत्तर काल में पहली यथार्थ वृत्ति की विरोधी पीतता और नीलता के भ्रम से शङ्ख और जल का श्वेतरूप विशिष्ट इदमाकार ज्ञान तो हो नहीं सकता । यदि द्वितीय मत

मानें तो शङ्ख में पीतता और जल में नीलता अध्यस्त एवं उसका विशिष्ट ज्ञान ही भ्रम है। अब उसी में भ्रम की हेतुता कहें तो आत्माश्रय दोष लगने से वह भी असम्भव है। इस प्रकार शङ्ख और जल में पीतता और नीलता के भ्रम से पहले अधिष्ठान का सामान्य ज्ञान असम्भव है। अतएव प्रातिभासिक अध्यासों में सामान्य ज्ञान का व्यभिचार और अधिष्ठान इन्द्रिय संयोग का अव्यभिचार होने के कारण अधिष्ठान से ही इन्द्रिय संयोग अध्यास का हेतु बनता है।

प्राचीन धर्मिज्ञानवादी का मत

प्राचीन धर्मिवादी आचार्य उपाध्याय के उक्त कथन का इस प्रकार समाधान करते हैं कि हम सामान्य ज्ञान को अध्यासवाद में हेतु नहीं मानते, वरन् अध्यास विशेष में सादृश्यज्ञानता के रूप से सामान्य ज्ञान को कारणता मानने तथा प्रातिभासिक अध्यास को दो भागों में बांटते हैं। उनमें से एक धर्मी के विशेष ज्ञान से प्रतिबद्धय् होता है और दूसरा धर्मी के विशेषज्ञान से अप्रतिबद्धय्। जैसे सीप की नील पृष्ठता तथा त्रिकोणता आदि विशेष धर्म के ज्ञान होने पर चाँदी का अध्यास नहीं होता। इसलिए चांदी का अध्यास तो धर्मी के विशेषज्ञान से प्रतिबद्धय् है परन्तु श्वेतता रूप विशेष धर्मों का ज्ञान होने पर भी शंख और जल में पीतता तथा नीलता का अध्यास होने से उक्त अध्यास धर्मी के विशेष ज्ञान से प्रतिबद्धय् नहीं है। इसी प्रकार रूप-रहितता विशेष धर्म का ज्ञान होने पर भी आकाश में नीलता का अध्यास और मिश्री में कटुता का अध्यास विशेष ज्ञान से प्रतिबद्धय् नहीं है। क्योंकि आकाश के रूप-रहित और मिश्री के मधुर रूप होते हुए भी बहुत बार आकाश में नीलता और

मिश्री में पित्त-विकार से कटुता का अध्यास होने लगता है। इस प्रकार प्रातिभासिक अध्यास दो प्रकार के होते हैं, उनमें से विशेष ज्ञान से अप्रतिबद्धय् अध्यास का होना तो अधिष्ठान-अध्यस्त के सादृश्य ज्ञान के न होने पर ही सम्भव है और विशेष ज्ञान से प्रमिबद्धय् प्रातिभासिक अध्यासों में उनका हेतु सादृश्य ज्ञान रूप सामान्य ज्ञान ही है. केवल इदमाकार वृत्ति रूप सामान्य ज्ञान उनका हेतु नहीं हो सकता।

आकाश में नीलताध्यास का दोष और परिहार

धर्मिज्ञानवाद में आकाश में नीलताध्यास की अनुपपत्ति नहीं है, क्योंकि आकाश के रूप-रहित होते हुए भी आकाशव्यापी आलोक द्रव्य में तो रूप है ही। इसलिए उस आलोक से दूषित नेत्र का संयोग होजाय तब आलोक गोचर आकाशकार प्रमा-रूप सामान्य ज्ञान होने के अनन्तर आकाश-अवच्छिन्न चेतन में स्थित अविद्या में क्षोभ होकर उसका परिणाम नीलाकार और इदमाकार वृत्ति-अवच्छिन्न चेतन में स्थित अविद्या का परिणाम नीलगोचर ज्ञानाकार होता है। क्योंकि आकाशगोचर प्रमावृत्ति एवं नीलरूपगोचर अविद्या वृत्ति एक ही देश में स्थित होने से दोनों का वृत्ति-उपहित एक ही साक्षी होने के कारण अधिष्ठान अध्यस्त का प्रकाश एक ही साक्षी से हो सकता है। यद्यपि अधिष्ठान का विशेषज्ञान होजाने पर अध्यास नहीं होता और यहाँ आकाशाकार प्रमावृत्ति के पश्चात् अध्यास नहीं होता और आकाशता रूप से आकाश के ज्ञान को भी अध्यास का हेतु कहें तो विशेष ज्ञान भी अध्यास का हेतु भासित होगा और ऐसा होना संभव नहीं है। तो भी आकाशता रूप से आकाश का ज्ञान भी विशेष नहीं, सामान्य ही है, और 'आकाश रूपहीन है, इस

कथन से रूपराहित्य विशिष्ट आकाश के ज्ञान को ही विशेष ज्ञान कह सकते हैं। इस प्रकार आकाशतारूप से आकाश का ज्ञान भी सामान्य ज्ञान ही है, इसलिए उसके अनन्तर नीलता का अध्यास हो सकता है।

सर्पादि के भ्रम विभिन्न मत

इस प्रकार सर्प-चाँदी आदि भ्रम में तीन मत कहे हैं—(१) उपाध्याय मत, जिसके अनुसार दूषित इन्द्रिय और विषय के सम्बन्ध से अन्त:करण का परिणाम एक ही ज्ञान होता है। यह ज्ञान अधिष्ठान के सामान्य अंश और अध्यस्त को विषय करने वाला भ्रम रूप होने के अतिरिक्त अधिष्ठान के सामान्य अंश गोचर प्रमाज्ञान अमान्य है।

(२) प्रमारूप इदमाकार सामान्यज्ञान के पश्चात् यह सर्प है, यह चाँदी है, ऐसा होने वाला भ्रमज्ञान अविद्या का हीं परिणाम होता है, जो कि अधिष्ठान के सामान्य अंश को तो विषय करता ही है, अध्यस्त को भी विषय करने के कारण इदमाकार और अध्यस्ताकार होता है।

(३) अध्यास का हेतु इदमाकार सामान्य ज्ञान तो प्रमारूप है और उसके अनन्तर होने वाला सर्प-चाँदी आदि गोचर अविद्या का परिणाम रूप ज्ञान भ्रमरूप होता है। अत: वह केवल अध्यस्तगोचर ही हैं, अधिष्ठानगोचर नहीं। यद्यपि उसमें इदंपदार्थ की विषयकता नहीं, तो भी उसके अधिष्ठान ज्ञान में इदंपदार्थ विषयकता होने के कारण भ्रमज्ञान में उसका अनिर्वचनीय सम्बन्ध उत्पन्न होता है। इस प्रकार वह भ्रमज्ञान अध्यस्त पदार्थाकार मात्र होता है दूसरा और तीसरा मत धर्मज्ञानवाद में है, तो भी तीसरा .त हा सगत हैं।

जो धर्मिज्ञानवादी तीसरा मत मानते हैं, उनका अभिप्राय है कि अधिष्ठान का सामान्य ज्ञान ही अध्यास का हेतु है, तब उससे पृथक् सर्प-चाँदी आदि गोचर अविद्या की वृत्ति नहीं मानी जा सकती। क्योंकि अधिष्ठानगोचर अन्तःकरण की इदमाकार वृत्ति अध्यास का हेतु मानी है, उसमें अभिव्यक्त चेतन से ही सर्प-चाँदी आदि का प्रकाश होने से ज्ञेयरूप सर्प-चाँदी आदि ही अविद्या के परिणाम होते हैं, ज्ञानरूप नहीं।

उपाध्यास के समान इस मत में भी सीप-चाँदी आदि में केवल अर्थाध्यास रूप का ही अंगीकार है, ज्ञानाध्यास का नहीं। जैसे उपाध्याय मत सब आर्य वचनों और युक्तियों से विरुद्ध है, वैसे ही मत भी विरुद्ध है। यदि कहें कि अधिष्ठानगोचर इदमाकार ज्ञान सर्प-चाँदी आदि को विषय करने वाला होने से बाधित पदार्थ गोचर एवं भ्रमरूप है। ऐसा होने पर उसी ज्ञान को अबाधित अधिष्ठानगोचरता होने के कारण प्रमात्व भी कहना होगा और तब प्रमात्व और भ्रमत्व की संकरता होगी। यद्यपि सन्निहित सत्य चाँदी गोचर और सीप-चाँदी गोचर एक ज्ञान होने पर प्रमात्व और भ्रमत्व की सकरता प्रसिद्ध ही है और जैसे एक पदार्थ में अवच्छेदकता के भेद से संयोग और संयोगा-भाव दो विरोधी पदार्थों की विद्यमानता रहती है। वैसे ही एक ही ज्ञान के अवच्छेदकता के भेद से प्रमात्व और भ्रमत्व यह दो विरोधी धर्म हो सकते हैं।

एक ही ज्ञान में यद्यपि बाधित विषयकतावाच्छिन्न भ्रमत्व और अबाधित विषयकतावाच्छिन्न प्रमात्व के होने से संकरता न बनते हुए भी भ्रमत्व और प्रमात्वके सदृश्य बाधितऔर अबाधित विषयकता भी भावाभाव रूप होने के कारण परस्पर विरोधी होने से अवच्छेदक के भेद बिना एक ही ज्ञान में उनका समावेश

नहीं हो सकता और न कोई अन्य अवच्छेदक ही उपलब्ध होता है। यदि किसी अन्य अवच्छेदक की कल्पना भी करें तो बाधित और अबाधित दोनों परस्पर विरोधी धर्म होने के कारण उनके अवच्छेदक भी विरोधी ही स्वीकार करने होंगे, इसलिए उनका कोई अन्य अवच्छेदक मानने से भी अनवस्था दोष ही आयेगा। इस प्रकार एक ही ज्ञान में प्रमात्व और भ्रमत्व की जो संकरता कही है, वह सिद्धान्त के न जानने से ही कही है।

इस प्रकार प्रमात्व और भ्रमत्व की संकरता दिखाई न देने से इदमाकार प्रमावृत्ति में अभिव्यक्त साक्षीसे अध्यस्त का प्रकाश नहीं हो सकता। यदि अधिष्ठानगोचर वृत्ति में अभिव्यक्त साक्षी से ही अध्यस्त का प्रकाश मानें और अध्यस्त गोचर अविद्या की वृत्ति न मानें तो अध्यस्त पदार्थ की स्मृति नहीं हो सकती। क्योंकि अनुभव के नष्ट होने से संस्कार होता है और संस्कारसे स्मृति होती है यदि अन्यगोचर अनुभव से अन्यगोचर संस्कार और स्मृति हो तो घटगोचर अनुभव से पटगोचर संस्कार और स्मृति होनी चाहिए। अतः समान गोचर अनुभव से ही अपने संस्कार के द्वारा स्मृति उत्पन्न होती है तब अधिष्ठान गोचर वृत्तिरूप अनुभव से अध्यस्त गोचर संस्कार की स्मृति उत्पन्न नहीं हो सकती। यदि साक्षीरूप अनुभव से अध्यस्त गोचर संस्कार से स्मृति का उत्पन्न होना कहें तो भी नहीं कह सकते। क्योंकि अनुभव नष्ट हो जाय तभी संस्कार होता है और साक्षी के नित्य होने से उसमें अपने नाश संस्कारों का उत्पन्न करना बनता नहीं।

यदि कहें कि चेतन की अभिव्यक्ति से जिस वृत्ति से जिस पदार्थ की अभिव्यक्ति हो, उस वृत्ति से उस पदार्थगोचर संस्कार से ही स्मृति होती है। क्योंकि पटगोचर वृत्ति में अभिव्यक्त चेतन से घट का व्यक्त होना असम्भव होने से पटगोचर अनुभव

से घटगोचर संस्कार के द्वारा स्मृति की आपत्ति नहीं होती। किन्तु अधिष्ठानगोचर अन्त:करण की इदमाकार वृत्ति में अभि-व्यक्त हुए चेतन से अध्यस्त के अभिव्यक्त होनेसे अधिष्ठान गोचर इदमाकार प्रमा से जो अध्यस्तगोचर संस्कार होता है, उससे स्मृति होती है। इसलिए अध्यस्त गोचर अविद्या वृत्ति को मा-नना व्यर्थ ही है।

परन्तु उक्त कथन भी युक्त नहीं। क्योंकि अधिष्ठान गोचर इदमाकार ज्ञान से अध्यस्त का प्रकाश होना मानने वालों से यह पूछा जा सकता है कि इदमाकार ज्ञान अध्यास्तकार भी होता है या नहीं ? यदि कहो कि अध्यस्ताकार भी होता है तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान में तो विषय ही आकार समर्पण का हेतु होता है। परन्तु इदमाकार ज्ञान के अनन्तर अध्यस्त पदार्थ उत्पन्न होने से प्रत्यक्ष ज्ञान में अपने आकार का समर्पण नहीं हो सकता इसलिए इदमाकार ज्ञान का अध्यस्ता-कार होना संभव नहीं है।

यदि दूसरा पक्ष लें तो भी नही ले सकते। क्योंकि अन्याकार वृत्ति में अभिव्यक्त साक्षी से अन्य विषय का प्रकाश न होना पहले बता चुके हैं। अब यदि इदमाकार वृत्तिमें अभिव्यक्त साक्षी के सम्बन्ध से आकार समर्पण न करने वाले का भी प्रकाश मान लें तो इदमाकार वृत्ति में अभिव्यक्त साक्षी के सम्बन्धी अधिष्ठान के विशेषांक का प्रकाश भी होना चाहिए। इस प्रकार इदमाकार सामान्यज्ञान से अन्य जो अध्यस्ताकार अविद्या-परिणाम रूप वृत्तिज्ञान है, वह माना जा सकता है।

उसमें भी जो दो पक्ष हैं, इनमें से पहले में अधिष्ठानगोचर और अध्यस्तगोचर अनिर्वचनीय ज्ञान होना समीचीन नहीं, यह पहले ही बता चुके हैं। क्योंकि अनिर्वचनीय मिथ्या ज्ञान का

उभयगोचर मानने पर तो भ्रमत्व-प्रमात्व की संकरता का दोष उपस्थित होगा ही। इसलिए इदमाकार सामान्यज्ञान के अनन्तर अध्यस्तगोचर अविद्या की वृत्ति होती है तथा सर्प-चाँदी आदि के मिथ्या होनेके समान ही उनके ज्ञान भी मिथ्या होने से सर्प-चाँदी आदि के बाध के समान उनके ज्ञानों का बाध भी मानना चाहिए यदि इदमाकार प्रमावृत्ति में अभिव्यक्त साक्षी से ही अध्यस्त का प्रकाश मान लें तो साक्षो सर्वदा अबाध्य है और इदमाकार वृत्ति भी व्यवहार के समय अबाध्य ही है, इसलिए ब्रह्मज्ञान के बिना अध्यस्तज्ञान का बाध नहीं होना चाहिए।

अनिर्वचनीय ख्याति में उक्त मतों का अनुवाद

इस प्रकार सर्प-चाँदी आदि गोचर भ्रम के होने में सिद्धान्त में अनिर्वचनीय ख्याति मानी गई है, उसमें जो चार मत हैं, उनमें नृसिंह भट्टोपाध्याय के मत में तो अध्यास का हेतु, अधिष्ठान से दुष्ट इन्द्रिय-संयोग ही है और अन्य आचार्यों के मत में अध्यास का हेतु अधिष्ठान का सामान्य ज्ञान ही है, इसी को धर्मिज्ञान भी कहते हैं। इसलिए उपाध्याय से भिन्न तीनों मत धर्मिज्ञानवादी हो कहलाते हैं। उन तीनों में भी अविद्या की वृत्ति रूप भ्रमज्ञान के अध्यस्त पदार्थाकार मानने वाला पक्ष ही योग्य है। परन्तु अविद्या की वृत्ति अधिष्ठानगोचर इदमाकार और अध्यस्ताकार मानने वाला पक्ष और अध्यास के हेतु इदमाकार वृत्तिरूप सामान्यज्ञान से निर्वाह मानने वाला पक्ष भी असमीचीन है। इसी प्रकार उपाध्याय का पक्ष भी ठीक नहीं।

इस प्रकार हमने तो प्राचीन ग्रन्थकारों के लिखने के अनुसार ही गुण-दोष व्यक्त किये हैं। यदि स्वतन्त्र बुद्धि से विचार

करें तो चारों में ही गुण-दोष की समानता मिलेगी। यथार्थ में तो अद्वैतवाद का अभिनिवेश प्रपंचवाद को मिथ्या सिद्ध करने में ही है, इसके विपरीत किसी अवान्तर भेद के खण्डन मण्डन का उद्देश्य नहीं है। इसलिए यदि कोई जिज्ञासु खण्डित पक्ष को ही ठीक समझे तो भी कुछ हानि नहीं है। परन्तु हमने एक मत के अनुकूल ही जो युक्तियाँ दी हैं, उसका उद्देश्य प्राचीन आचार्यों के मार्ग का अवलम्बन कराना ही है। अन्त में अनिर्वचनीय ख्याति के विचार की समाप्ति का यह दोहा है—

निश्चल बिन न लिखो किन्हउ, भाषा में यह रीति।
ख्याति अनिर्वचनीय की, पेखहु सुजन सप्रीति॥

शास्त्रान्तर से पंचख्याति वर्णन

शास्त्रान्तरों में कहे गए भ्रम के लक्षण और स्वरूप से विलक्षण निरूपण सिद्धान्त में हुआ है। जहाँ सीपी आदि में चाँदी आदि भ्रम हों, वहाँ सिद्धान्तपक्ष के अतिरिक्त भ्रम के यह पाँच नाम हैं—(१) सत्ख्याति, (२) असत्ख्याति, (३) आत्मख्याति, (४) अन्यथाख्याति, और (५) अख्याति।

सत्ख्याति और उसका खण्डन

सत्ख्यातिवादी के अनुसार चाँदी के अवयव सदा सीप के अवयवों के साथ रहते हैं, इसलिए चाँदी और सीप दोनों के ही अवयव मिथ्या नहीं हैं। जैसे कि सिद्धान्त में सदोष नेत्र के सम्बन्ध से अविद्या की परिणामरूप अनिर्वचनीय चाँदी उत्पन्न होती है, वैसे ही इस मत में सदोष नेत्र के संयोग से चाँदी के

सत्य अवयवों से सत्य चाँदी की उत्पत्ति होती है। और जैसे सिद्धान्त में अधिष्ठान के ज्ञान से अनिर्वचनीय चाँदी की निवृत्ति स्वीकार की गई है, वैसे ही इस मत में सीप के ज्ञान से सत्य चाँदी का अपने ही अवयवों में ध्वंस अंगीकार किया है।

उक्त मत निराकरण के योग्य है। क्योंकि सीप और चांदी के दृष्टान्त से प्रपंच में मिथ्यात्व की अनुमिति कराना ही उद्देश्य है। परन्तु सत्ख्यातिवाद में सीप में चाँदी सत्य होने से उसे दृष्टान्तरूप में लेने पर प्रपंच में मिथ्यात्व की सिद्धि असंभव है। इस पक्ष में यह दोष आता है कि सीप के ज्ञान के पश्चात् 'सीप में चाँदी त्रिकाल में भी नहीं है' इस प्रकार से सीप में चाँदी का त्रिकालाभाव भासित हो जाता है। इसके अनुसार सिद्धान्त में तो सीपदेश में मध्य समय में ही अनिर्वचनीय चाँदी होती है, किन्तु व्यावहारिक चाँदी का अभाव तीनों काल में होने से उक्त प्रतीति से विरोध नहीं बनता।

इसके विपरीत, सत्ख्यातिवादी के मत में यदि सीपदेश में व्यावहारिक सत्य चाँदी रहे तो उसी समय व्यावहारिक चाँदी का अभाव नहीं होना चाहिए। इसलिए जहाँ सीप-ज्ञान से सीप-देश में तीनों काल चाँदी का अभाव प्रतीत होता है, तब वहाँ व्यावहारिक चाँदी बताना विरुद्ध ही है। सिद्धान्त में अनिर्वचनीय चाँदी के उत्पन्न होने में कोई प्रसिद्ध सामग्री अनावश्यक होती है। क्योंकि सदोष अविद्या से ही उसकी उत्पत्ति हो सकती है। परन्तु व्यावहारिक चाँदी का उत्पन्न होना चाँदी की प्रसिद्ध सामग्री के बिना सम्भव नहीं है और सीपदेश में चाँदी की कोई प्रसिद्ध सामग्री मिलती भी नहीं, इसलिए सीपदेश में सत्य चाँदी की उत्पत्ति-अयुक्त है।

सीप में सत्य चाँदी की सामग्री का खण्डन

यदि कहें कि सीप देश में सत्य चाँदी के अवयव ही सत्य चाँदी की सामग्री है तो यह प्रश्न होगा कि उन अवयवों का रूप उद्भूत है या अनुद्भूत ? यदि कहो कि उद्भूत है तो चाँदी की उत्पत्ति से पहले भी सीपदेश में चाँदी के वे अवयव प्रत्यक्ष रहने चाहिए। यदि कहो कि अनुभूत है तो उन अनुद्भूत अवयवों से चाँदी भी अनुद्भूत रूप की होना चाहिए और तब चाँदी का प्रत्यक्ष भी असंभव । यथार्थ में तो त्र्यणुक के आरम्भकद्वयणुक में उद्भूतरूप ही होता है, परन्तु महत्व नहीं होता। इसलिए उद्भूत रूप होने पर भी महत्व न होने के कारण उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। परन्तु नैयायिक तो द्वयणुक में ही नहीं, परमाणु में भी उद्भूतरूप मानते हैं।

यदि कहें कि द्वयणुक के समान चाँदी के अवयव भी उद्भूत रूप वाले होते हुए भी महत्वाभाव के कारण अप्रत्यक्ष हैं, तो यह भी नहीं कह सकते। क्योंकि महत्परिणाम चार प्रकार का माना गया है—(१) आकाशादि में परम महत्परिणाम मानते हैं, जो कि नैयायिकों की भाषा में विभु कहलाता है—(२) विभु से भिन्न पटादि में अपकृष्ट महत्परिणाम, (३) सर्पादि में अपकृष्टतम महत्परिणाम, और (४) त्र्यणुक में अपकृष्टम महत्परिणाम।

अब यदि सीप में चाँदी के अवयव महत्परिणाम से रहित हों तो द्वयणुक से आरम्भ हुए त्र्यणुक के समान उन महत्व-रहित चाँदी के अवयवों से आरब्ध चाँदी भी त्र्यणुक के समान ही अपकृष्टतम महत्परिणाम वाली हो जायगी। परन्तु सीप में चाँदी की स्पष्ट प्रतीति होने से चाँदी के अवयवों को महत्वरहित कहना नहीं बन सकता। यदि चाँदी के अवयवों में महत्व का अभाव कहें तो किसी प्रकार हो भी सके, परन्तु जहाँ वल्मीक में घट का

भ्रम हो, वहाँ भी घटावयव रूप कपाल तथा स्थाणु में पुरुष का भ्रम हो वहाँ स्थाणु में पुरुष के अवयव हाथ-पाँव आदि मानने होंगे। क्योंकि कपाल और हाथ पांव आदि तो महत्त्व रहित हो नहीं सकते, इसलिए उद्भूतरूप होने के कारण स्वाधिष्ठान में उनका प्रत्यक्ष होना चाहिए। यद्यपि चाँदीत्व जाति के अणु साधारण होने से चाँदी के सूक्ष्म अवयवों में भी चाँदी का व्यवहार हो सकता है, परन्तु घटत्व, कपालत्व, पुरुषत्व आदि जाति के तो अवयवीमात्र में विद्यमान होने से उनके सूक्ष्म अवयवों में कपालत्व आदि जाति नहीं हो सकती। इस प्रकार भ्रम के अधिष्ठान देश में यदि आरोपित के व्यावहारिक अवयव हों तो वहाँ उनकी प्रतीति भी होनी चाहिए। इससे सिद्ध हुआ कि सीपी आदि देश में व्यावहारिक अवयवों से चाँदी आदि की उत्पत्ति बताना अयुक्त है।

सत्ख्यातिवादी के पक्ष का खण्डन

यदि सत्ख्यातिवादी यह कहे कि सीपदेश में चाँदी के साक्षात् अवयव न रहने पर भी अवयवों के अवयव द्व्यणुक या परमाणु तो रहते ही हैं। इसी प्रकार वल्मीक देश में घट के और स्थाणु-देश में पुरुष के अवयवों के अवयव द्व्यणुक या परमाणु अवश्य रहेंगे। सदोष नेत्र के संयोग से वह अवयव धारा तुरन्त उत्पन्न होकर चांदी, घट और पुरुष को उत्पन्न करते हैं। दोष की प्रबलता से त्र्यणुकादि की धारा की उत्पत्ति इतने वेग से होती है कि उससे मध्य अवयवी कपाल या हाथ-पाँव आदि का भान नहीं होता और अन्त्य अवयवी घटादि के उत्पन्न होजाने पर तो कपालादि का भान कहीं होता ही नहीं। इस प्रकार भ्रम के अधिष्ठान में आरोपित के अवयवों की प्रतीति न होते हुए भी आरोपित के व्यावहारिक अवयव अवश्य होते हैं। इस प्रकार

भ्रम के अधिष्ठान में आरोपित के सर्व अवयवों के अवश्य रहने पर भी अधिष्ठान की विशिष्ट प्रतीति उन अवयवों की प्रतीति की प्रतिबन्धक होने से महदादि रूप अवयवों के विद्यमान रहते हुए भी उनका प्रत्यक्ष सम्भव नहीं ।

सत्ख्याति का उपर्युक्त समाधान भी असमीचीन है, क्योंकि यदि सीप देश में व्यावहारिक चाँदी का उत्पन्न होना मान लें तो अनुभव के अनुरोध से सीप-ज्ञान से चाँदी की निवृत्ति नहीं होती ।

यदि सत्ख्यातिवादी यह कहे कि चांदी की निवृत्ति में सीप के ज्ञान की अपेक्षा नहीं,वरन् चाँदी के ज्ञानाभाव की अपेक्षा है । यद्यपि केवल अपने ज्ञान के समय स्थित होने से चाँदी आदि प्रातिभासिक ही हैं, तथापि अनिर्वचनीय नहीं, वरन् व्यावहारिक एवं सत्य हैं । सिद्धान्त में जैसे सुखादि ज्ञान साक्षेप है, इसलिए प्रातिभासिक होकर भी स्वप्न-सुख आदि से विलक्षण व्यावहारिक सत्य स्वीकार किये गए है और जैसे न्याय में द्वित्वादि को प्रातिभासिक मानकर भी व्यावहारिक सत्य अंगीकार किया गया है । वैसे ही सीप में चाँदी आदि प्रातिभासिक होकर भी व्यावहारिक सत्य ही हैं । इस प्रकार चाँदी के ज्ञान के निवारण से अनन्तर चाँदी की निवृत्ति होती है या चांदी के ज्ञान को निवृत्ति के हेतु सीप-ज्ञान अथवा पदर्थान्तरज्ञान से चाँदी के ज्ञान की निवृत्ति के क्षण में ही चाँदी की निवृत्ति होजाती है । यह नियम नहीं है कि सोप के ज्ञान से हो चाँदी की निवृत्ति होती हो ।

सत्ख्यातिवादी का उक्त कथन लोकानुभव, शास्त्र, सिद्धान्त और युक्ति के भी विरुद्ध है । क्योंकि केवल सीप ज्ञान से ही चाँदी का भ्रम निवृत्त होना तो सर्व प्रसिद्ध है ही । और सीप का विशिष्ट ज्ञान चाँदी के अवयवों के ज्ञान का प्रतिबन्धक

है, यही सिद्धान्त सत्ख्यातिवादी का भी है। इससे यही निर्णय होता है कि सीप का ज्ञान ही चाँदी के अवयवों के ज्ञान का विरोधी है।

सत्ख्यातिवादी में दोष-दर्शन

उक्त प्रकार से चाँदी के ज्ञानाभाव से चाँदी की निवृत्ति मानें और चाँदी के ज्ञानाभाव के सीप-ज्ञान के अतिरिक्त अन्य अनेक साधन मान लें तो भी लक्ष्यमाण दोष से सत्ख्यातिवादी बच नहीं सकता।

जहाँ एक रस्सी में दस पुरुषों को पृथक्-पृथक् प्रकार का भ्रम हो, वहाँ स्वल्प रस्सीदेश में इन सब पदार्थों के अवयव तो हो नहीं सकते, तब भ्रमकाल में इन भी दण्डादि अवयवियों का स्वल्पदेश में रहना कैसे बनेगा? इसके विपरीत सिद्धान्त में दण्डादि के अनिर्वचनीय होने से उनके द्वारा किसी व्यावहारिक देश का निरोध नहीं होता। यदि सत्यख्यातिवादी भी उन दण्ड आदि के द्वारा देश-निरोधादि रूप फल का अंगीकार न करे तो वे दण्डादि सत्य कैसे होंगे?

यदि भ्रमदेश में सत्यपदार्थ का उत्पन्न होना मानें तो जहाँ अंगारयुक्त उषरभूमि में जल का भ्रम होने पर अंगार बुझ जाने चाहिए और जहाँ तूल पर रखे गुंजाओं में अग्नि का भ्रम हो, तूल भस्म होजाना चाहिए। यदि यह कहें कि सदोष कारण से उत्पन्न पदार्थ की प्रतीति किसी अन्य को न होकर उसी को होती है जिसके दोष से उस पदार्थ की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार यदि दोष के कार्यरूप उक्त जल या अग्नि से आर्द्रता अथवा उत्ताप की सिद्धि संभव नहीं तो उन्हें सत्य कहना हास्यास्पद ही है। क्योंकि अवयव किसी देश के निरोध में और

यदी किसी कार्य की सिद्धि में असमर्थ है तो उसकी सत्यता सुनकर हँसी ही आवेगी ।

असत्ख्यातिवाद का खण्डन

इसी प्रकार असत्ख्यातिवाद भी अयुक्त एवं अनुभवशून्य ही है। इस पर भी असत्ख्यातिवाद की प्रसिद्धि वेदमार्ग के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में है। उसका प्रतिपादन सूत्रों में हुआ भी है।

असत्ख्यातिवादी के दो मत हैं। उनमें से एक नास्तिक शून्यवादी है, जिनके मत में सर्व पदार्थ असत् हैं, इसलिए सीपमें चांदी हो अथवा सीप ही हो, सब कुछ मिथ्या है असत् अधिष्ठान में चांदी भी असत् है, इसलिए भ्रम अधिष्ठान-रहित और उसके ज्ञान एवं ज्ञाता आदि सभी असत् हैं । यह मत अनुभव के नितान्त विरुद्ध है और इसका खण्डन शारीरक के दूसरे पाद में विस्तार पूर्वक मिलता है। शून्यवाद म सर्वत्र शून्य होने से किसी भी व्यवहार को सिद्धि असंभव। यदि शून्य में व्यवहार हो तो जल का प्रयोजन अग्नि से और अग्नि का प्रयोजन जल से सिद्ध होजाना चाहिए। क्योंकि अग्नि और जल न तो सत्य है, न मिथ्या वरन् वह तो शून्य और सर्वत्र एक रस रहता है, इस प्रकार उसमें कोई विशेषता भी नहीं है। यदि शून्य में विशेषता मान भी लें तो विशेष शून्य से भिन्न होगा, इसलिए वैसा मानने में शून्यवाद में बाधा उपस्थित होगी।

यदि कहो कि शून्य में जो विशेषता है, वह विलक्षणता कहलाती है। उस विलक्षणता से व्यवहार-भेद होने के कारण उससे उत्पन्न व्यवहार और व्यवहार का करने वाला भी परमार्थ-रहित है, जिससे शून्यवाद में बाधा नहीं आती।

किन्तु उक्त कथन भी अयुक्त है, क्योंकि शून्य में विशेषता कहना ही विरुद्ध है। क्योंकि विशेषता कहें तो शून्यता की हानि और शून्यता कहे तो विशेषता की हानि होगी। इस प्रकार शून्य-वाद समीचीन नहीं है।

तान्त्रिक असत्ख्यातिवाद का खण्डन

दूसरे असत्ख्यातिवादी तान्त्रिक हैं, जिनके मत में सीप आदि व्यावहारिक पदार्थ असत् नहीं, वरन् सिद्धान्त में माने गए अनि-र्वचनीय चाँदी आदि भ्रमज्ञान के ही असत् हैं। इसलिए व्याव-हारिक चाँदी आदि के स्वस्थान में रहते हुए भी उनका सम्बन्ध सीप में नहीं है। इसी प्रकार अन्यथाख्यातिवाद के समान सीप में चाँदीत्व की प्रतीति होती है और न अनिर्वचनीयख्यातिवाद के समान सीप में अनिर्वचनीय चाँदी ही उपजती है न अख्याति-वाद के समान दो ज्ञान होते हैं और न शून्यवाद के समान सीप एवं उसके ज्ञान-ज्ञानादि ही असत् हैं, वरन् सीप और उसके एवं उसके ज्ञाता-ज्ञानादि ही असत् हैं, वरन् सीप और उनके ज्ञाता-ज्ञानादि तो सत् हैं। किन्तु सीप से सदोष नेत्र का संयोग होने पर सीप ज्ञान न होने से सीपदेश में असत् चाँदी की केवल प्रतीति ही होती है। यद्यपि अन्यथाख्याति में भी सीप देश में चाँदी असत् मानी होने से दोनों मतों में समानता लगती है, तथापि अन्यथाख्यातिवाद में देशान्तरवर्ति सत्य चाँदी में विद्य-मान चाँदीत्व की सीप में प्रतीति मानते हैं। परन्तु इस असत्-ख्यातिवाद में देशान्तर में सत्यचाँदी मानी तो है, किन्तु असत् गोचर मात्र चाँदी का ज्ञान माना है। अर्थात् सीप से सदोष नेत्र का सम्बन्ध होने पर चाँदी का भ्रम होता है तब उस ज्ञान का विषय सीप या चाँदी में से कोई भी नहीं होता। इस प्रकार दोनों ही ज्ञानों का अभाव होने से भ्रम का सीप तो बनता ही

नहीं, वैसे ही चाँदी रूप भ्रमज्ञान का विषय चाँदी भी नहीं हो सकती। साथ ही सीप का ज्ञान होने के अगले ही क्षण 'यहाँ त्रिकाल में भी चाँदी नहीं, ऐसी प्रतीति होने से चांदी का भ्रम निर्विषयक होता है, इसीलिए उसे असत्‌गोचर कहते हैं और वह असतगोचर ज्ञान ही असत्ख्याति है।

आत्मख्यातिवाद की असमीचीनता

जैसे उपर्युक्त दोनों ही असत्ख्याति समीचीन नहीं है। इसी प्रकार आत्मख्यातिवाद भी युक्तिसंगत नहीं। विज्ञानवाद में आत्मख्याति है और क्षणिक विज्ञान आत्मा कहलाता है। चाँदी आदि बाह्य नहीं, वरन् विज्ञान रूप आन्तर आत्मा के धर्म चांदी आदि हैं, उनकी बाह्य प्रतीति दोष के ही कारण होती है। शून्यवादी के अतिरिक्त अन्य किसी भी बौद्ध का पदार्थों की आन्तर सत्ता में विवाद नहीं, उनमें से कोई तो पदार्थों को बाह्य मानते हैं, कोई नहीं मानते, इसलिए बाह्य सत्ता में तो विवाद है, परन्तु आनन्तर सत्ता में विवाद नहीं है। इस प्रकार सुगतमत में विज्ञानरूप आत्मा का धर्म आन्तर चाँदी है और उस आन्तर चाँदी का धर्म विज्ञान रूप आत्मा है। उसकी बाह्य के समान प्रतीति तो दोष के ही प्रभाव से होती है। क्योंकि ज्ञान से चाँदी बाध स्वरूप से नहीं होता, वरन् उसकी बाह्यता का बाध ही हुआ करता है।

परन्तु उक्त मत भी इसलिए अयुक्त है कि चाँदी के आन्तर होने का अनुभव किसी को नहीं होता और भ्रमस्थान अथवा यथार्थस्थान में कहीं भी चाँदी आदि के बाह्य और सुखादि के आन्तर होने का अनुभव ही सब को होता है।

आत्मख्यातिवाद का खण्डन

आत्मख्यातिवाद भी समीचीन नहीं, क्योंकि स्वप्न के अति-रिक्त जाग्रत् में पदार्थों की आन्तरता नहीं होती। और बाह्य स्वभाव पदार्थों की आन्तर-कल्पना सदोष भी है। क्योंकि आन्तर पदार्थ होने पर तो 'मैं चांदी हूँ' या मुझ में चाँदी है' ऐसी प्रतीति होगी, 'यह चाँदो है' ऐसी बाह्य प्रतीति संभव नहीं। ऐसी प्रतीति होगी, 'यह चाँदी है' ऐसी बाह्य प्रतीति संभव नहीं। इसके विपरीत सिद्धान्त मत में सीपवर्ति तादात्म्य का चांदी में अनि-र्वचनीय सम्बन्ध उत्पन्न होता है, जोकि संसर्गाध्यास कहलाता है। आरोपित में अधिष्ठानगत सम्बन्ध के प्रतीत होने पर अधि-ष्ठान का संसर्गाध्यास ही होता है। इस प्रकार अध्यास के अति-रिक्त सीपवर्ति इदता की आन्तर चाँदी में प्रतीति सम्भव न होने से आत्मख्याति बनती ही नहीं।

द्विविध विज्ञानवाद का निराकरण

आत्मख्याति निरूपण करते हुए कहा गया है कि यदि चाँदी की बाह्य उत्पत्ति मानें तो चाँदी रूप धर्मी और उसका इदंता-रूप धर्म मानना ठीक है और यदि आन्तर चाँदी को केवल बाह्य प्रतीति मानें तो केवल इदंता के बाध होने से लघवता होती है। परन्तु यह कथन भी ठीक नहीं। क्योंकि सीप का ज्ञान होने पर 'मुझे मिथ्या ही चांदी प्रतीत हुई' ऐसा चाँदी का बाध सभी के अनुभव में है। परन्तु आत्मख्याति के लिए तो 'मुझे मिथ्या ही चाँदी में बाह्यता प्रतीत हुई' ऐसा बाध होना चाहिए, जो कि अनुभव से असिद्ध है। इसके सिवाय आप्त पुरुष जब भ्रमित पुरुष को उपदेश करे तब 'यह चाँदी नहीं, वरन् सीप है' ऐसे चांदी का स्वरूप से ही निषेध करता है। किन्तु आत्मख्याति के

अनुसार तो 'यहाँ बाहर चाँदी नहीं, वरन् तुम्हारे भीतर चाँदी है, इस प्रकार चाँदी के बाह्यदेश का ही निषेध किया जा सकता।

इस प्रकार आत्मा में उत्पन्न हुई चाँदी की बाह्यदेश में ख्याति होती है, इस अर्थ में बाह्यपदार्थवादी बौद्ध का आत्मख्यातिवाद समीचीन नहीं है और विज्ञान से भिन्न पदार्थ न आन्तर है, न बाह्य, वरन् सर्व दार्थाकार विज्ञानरूप आत्मा है, जिसकी चाँदा के रूप से ख्याति होती है। इस अभिप्राय से आन्तर विज्ञानवादी का आत्मख्यातिवाद भी अयुक्त है। क्योंकि चाँदी विज्ञान से भिन्न तथा ज्ञान का विषय है तो उसे विज्ञानरूप आत्मा से अभिन्न कहना असंभव ही है।

अन्यथाख्याति का खण्डन

इसी प्रकार अन्यथाख्यातिवाद भी समीचान नहीं है। अन्यथाख्यातिवादी के मतानुसार जिस पुरुष को जिस सत्य वस्तु के अनुभव से संस्कार होते हैं, उस पुरुष के सदोष नेत्र का सयोग जब पहले देखे हुए के समान पदार्थ से होता है, तब उसके सामान्य ज्ञान से पहले देखे हुए पदार्थ की स्मृति होती है। अथवा स्मृति न मानें तो पूर्वदृष्ट के सादृश्यज्ञान से उसके संस्कार उत्पन्न होजाते हैं। इस प्रकार जिस पदार्थ की स्मृति या संस्कार हों, उस पदार्थ का धर्म पूर्ववर्ति पदार्थ में प्रतीति होता है।

जैसे स्मृति स्थान में पहले देखे हुए के सादृश्यज्ञान से संस्कार उद्‌बुद्ध होते हैं, वैसे ही भ्रम स्थान में पहले देखे हुए के सादृश्य पदार्थ से इन्द्रिय का सम्बन्ध होते ही संस्कार उद्‌बुद्ध होकर पूर्ववर्ति में संस्कारगोचर धर्म की प्रतीति होने लगती है। इस

प्रकार अन्य रूप से अन्य वस्तु की प्रतीति ही अन्यथाख्याति कहलाती है ।

जहाँ सीप में चाँदी का भ्रम हो वहाँ सीप के परिणाम सदृश्य ही आरोपित चाँदी का परिणामप्रतीत होता है और ऐसा नियम होने से सीप आदि में चाँदीत्व आदि धर्म का ही भान होता है। यदि अन्य देश में स्थित चाँदी का भान सीप में होता हो तो आरोपित में अधिष्ठान के परिणाम का नियम नहीं रहेगा और क्योंकि चाँदी में सीप का लघु या महत् परिणाम ही प्रतीत होता है, इसलिए यह मानना बरबस ही होगा कि देशान्तर में स्थित चाँदी की प्रतीति सीप में नहीं होती। इस प्रकार यह पक्ष सदोष है ।

सीप में चाँदीत्व धर्म का भान होता है। ऐसे अन्यथाख्यातिवाद का निरूपण अनेक न्याय ग्रन्थों में होने पर भी वह श्रद्धा योग्य नहीं है। क्योंकि श्रुति ने 'न तत्र रथा न रथयोगा' इत्यादि कहकर स्वप्न में व्यावहारिक रथ, घोड़े मार्गों के निषेध द्वारा अनिर्वचनीय रथ, घोड़े और मार्गों का उत्पन्न होना कहा है। इस प्रकार न्यायमत का अन्यथाख्यातिवाद प्रकट रूप में श्रुति-स्मृति के विरुद्ध तो है ही, युक्ति से भी विरुद्ध ही है। क्योंकि नेत्र से व्यावहित चाँदी के चाँदीत्व का सीप में ज्ञान होना असंभव है।

लौकिक और अलौकिक सम्बन्ध

न्यायमत में प्रत्यक्ष ज्ञान के हेतु इन्द्रिय और विषय का दो प्रकार का सम्बन्ध माना गया है। उनमें एक लौकिक और दूसरा अलौकिक होता है। संयोगादि छः प्रकार के लौकिक सम्बन्धों के विषय में कह चुके हैं और अलौकिक सम्बन्ध तीन

प्रकार के माने हैं—(१) सामान्य लक्षण, (२) ज्ञान लक्षण, और (३) योगजन्य धर्म लक्षण। इनके विषय में कहते हैं—

(१) एक घट से नेत्र-सम्बन्ध होने पर एक ही घट का नहीं, वरन् घटत्व के आश्रयभूत सब घटों का प्रत्यक्ष होता है। परन्तु इस सम्बन्ध में प्रचीन और नवीन के भेद से दो मत हैं, जिनमें नवीन मत में चक्षु संयुक्त, घट और देशान्तरस्थ घटों का साक्षात्कार एक क्षण में ही हो जाता है, किन्तु प्राचीन मत में चक्षु-संयुक्त घट का साक्षात्कार पहले क्षण में और देशान्तरस्थ घटों का दूसरे क्षण में होता है। इन दोनों साक्षात्कारों के नेत्र जन्य होते हुए भी इनके सम्बन्ध भिन्न होते हैं। इनमें प्रचीन मत सुगम होने के कारण कहा जाता है—

पूर्ववर्ति घट से नेत्र का सम्बन्ध होने पर 'यह घट है' ऐसा एक घट का साक्षात् होता है। इसका हेतु संयोग-सम्बन्ध होनेसे इसे लौकिक सम्बन्धजन्य कहते हैं। इस साक्षात्कार के विषय घट और घौर घटत्व में घट व्यक्ति 'विशेष्य' एवं घटत्व प्रकार' कहलाता है। विशेषण का अर्थ 'प्रकार' है। इस ज्ञान के समय षण के सभी घटों में रहने से पूर्ववर्ति घट के ज्ञान के समय नेत्रेन्द्रिय का अपने से उत्पन्न ज्ञानविशेष्य घटत्ववत्ता संबंध सभी घटों में होता है। इस सम्बन्ध के दूसरे क्षण सभी घटों का जो नेत्रन्जय साक्षात्कार होता है, उसका विषय पूर्ववर्ती घट भी है। इस प्रकार पूर्ववर्ती घटगोचर जो दो ज्ञान हैं, उनमें पूर्व क्षण का ज्ञान लौकिक और उत्तर क्षण का ज्ञान अलौकिक होता है। और इस द्वितीय सम्बन्ध के अलौकिक होने से उसका ज्ञान भी अलौकिक ही है। यह प्राचीन न्यायमत है।

इसे सामान्यलक्षण सम्बन्ध कहते हैं। सामान्य का अर्थ जाति और लक्षण का अर्थ स्वरूप होने से यह जाति-स्वरूप

सम्बन्ध भी है। यदि घटत्वाधिकरणता को घटत्ववत्ता कहें तो भी समान्यलक्षण सम्बन्ध ही बनेगा। अभेद घटों में घटत्वरूप अधिकरणता को सामान्य धर्म के कारण सामान्य कह सकते हैं। इस प्रकार एक व्यक्ति से इन्द्रिय का सम्बन्ध होने पर इन्द्रिय सम्बन्धी व्यक्ति के समधर्मिणी उस इन्द्रिय का सब व्यक्तियों से समान्य लक्षण अलौकिक सम्बन्ध होने से उन व्यवहित और अव्यवहित वस्तुओं का अलौकिक साक्षात्कार इन्द्रियजन्य ही होता है।

(२) इन्द्रिय का अपने योग्य पदार्थ से संयोग होने और इन्द्रिय-संयोग के समय अयोग्य पदार्थ का स्मृतिज्ञान होने पर उस इन्द्रिय-संयुक्त पदार्थ का और उस स्मृतिगोचर पदार्थ का एक ही ज्ञान हो, तब तो इन्द्रिय-सम्बन्धजन्य ज्ञान जिस अंश में हो, उस अंश में तो लौकिक और स्मृतिजन्य ज्ञान जिस अंश में हो, उस अंश में अलौकिक होता है। जैसे कि चन्दन से नेत्र का सम्बन्ध होने के समय सुगन्ध की स्मृति का अनुभव हो तब तो स्मृतिरूप अलौकिक सम्बन्ध होता है इसी को ज्ञान लक्षण संबंध कहते हैं।

(३) योगी को इन्द्रिय से व्यवहित पदार्थ के इन्द्रियजन्य साक्षात्कार के समान साक्षात्कार होने पर योगाभ्यास से विलक्षण सामर्थ्य उत्पन्न होजाती है, इसीलिए उस योगजन्य धर्म को इन्द्रिय का सम्बन्ध कहते हैं। इसमें भट्टाचार्य के मतानुसार तो जो पदार्थ जिस इन्द्रिय के योग्य हो उस पदार्थ का उसी इन्द्रिय से साक्षात्कार सम्भव है। परन्तु योगी को व्यवहित पदार्थ और भूत-भविष्य का भी जो साक्षात्कार होता है, वह इन्द्रियजन्य ही है तथा योगियों से भिन्न व्यक्तियों को भी इन्द्रिय-सम्बन्धी का ही प्रत्यक्ष होता है।

अनेक ग्रन्थकारों के अनुसार योग की अद्भुत महिमा होने से अभ्यास की उत्कर्षताअपकर्षता के कारण योगजन्य धर्मों में भी विलक्षण होती है, जिससे किसी को तो एक ही इन्द्रिय से योग्य-अयोग्य सभी का ज्ञान होता है और किसी को योग्य-विषय का ही ज्ञान रहता है । इस प्रकार योग्यजन्य धर्म भी अलौकिक ही है ।

इस प्रकार इन्द्रिय-संयोगादि के अतिरिक्त अलौकिक सम्बन्ध से भी इन्द्रियजन्य साक्षात्कार होने के समान ही सीप में देशान्तर स्थ चाँदीवर्ति चाँदीत्व का भी अलौकिक सम्बन्ध से चाक्षुष साक्षात्कार हो सकता है । जैसे कि नेत्र-सम्बन्ध और सुगन्धि की स्मृति होने पर चन्दनके सुगन्धित होने जैसा योग्यायययोग्य विषय का अनुभव गोचर चाक्षुष ज्ञान होता है, वैसे ही सदोष नेत्र का सीप से संयोग होने पर सीप व्यक्ति तो नेत्र योग्य होता है और यद्यपि चाँदीत्वजाति प्रत्यक्ष योग्य है, तो भी जाति के आश्रय के प्रत्यक्षगोचर होने पर योग्य जाति और जाति के आश्रय के प्रत्यक्ष योग्य न होने पर अयोग्य जाति होती है । इस प्रसंग में चाँदीत्व का आश्रयभूत चाँदी व्यक्ति के नेत्र से व्यवहित होने से चाँदीत्व के नेत्र योग्य न होते हुए भी सुगन्धांश में चन्दनज्ञान के अलौकिक होने के समान ही 'यह चाँदी है' ऐसा ज्ञान भी चाँदी-त्वांश में अलौकिक है । परन्तु अन्तर यही है कि 'चंदन सुगन्धित है' के ज्ञान में तो चन्दन में उसकी सुगन्ध ही प्रतीत होती है और 'यह चाँदी है' इस ज्ञान में इदंपदार्थ-अवर्ति चाँदीत्व की प्रतीति भी इदंपदार्थ में होती है ।

दूसरी यह विलक्षणता है कि 'चन्दन में सुगन्धि है' इस ज्ञान में नेत्र के अयोग्य सुगन्ध और चन्दन की सर्व सामान्य विशेष-ताओं की प्रतीति होती है । परन्तु 'यह चाँदी है' इस ज्ञान में

व्यवहित होने के कारण नेत्र के अयोग्य चांदीत्व की प्रतीति तो सुगन्ध के समान होती है, परन्तु चन्दन के विशेषरूप चन्दनत्व के समान सीप के विशेषरूप सीपत्व की प्रतीति नहीं होती और मलियाचल में उत्पन्न विशेष चन्दन के अवयवों की प्रतीति तो होती है किन्तु सीप के त्रिकोणतादिविशिष्ट अवयवों की प्रतीति नहीं होती। इस प्रकार दोनों ज्ञानों में भेद होने के कारण उनमें यथार्थता और अयथार्थता भी है।

'चन्दन सुगधिन्त है' इस स्थल में विषयतारूप सम्बंध सुगन्ध में है तथा 'यह चाँदी है' इस स्थल में नेत्र सम्बद्ध, मन-सम्बद्ध आत्म-समवेत चांदीत्व ज्ञान की जो स्मृति है, वह विषयता सबंध से चांदीत्व में रहती है। इस प्रकार विषयता सम्बन्धरूप अंश के संबन्ध के अनुयोगी सुगन्ध और चाँदीत्व के स्पष्ट होने से नेत्र-सम्बन्ध के बिना चाँदीत्व का ज्ञान सम्भव नहीं, यह दोष अन्यथा ख्यातिवाद में उपस्थित नहीं होता। क्योंकि नेत्र का सीप रूप विशेष्य से लौकिक सम्बन्ध और चांदीत्व रूप विशेषग से अलौकिक सम्बन्ध मानने पर अन्यथाख्याति बन सकती है।

नैयायिकों के अनुसार अनिर्वचनीय ख्याति में यह दोष है कि प्रथम तो अन्यथाख्यातिवादी को भ्रमज्ञान की कारणता दोष मात्र में ही माननी होती है। किन्तु अनिर्वचनीय विषय की कारणता तथा उसके ज्ञान की कारणता भी मान्य होनेसे अन्यथा ख्यातिवाद में लाघव है और अन्यथाख्याति के बिना अनिर्वचनीयख्यातिवादी का निर्वाह भी सम्भव नहीं है वह कहीं अन्तथाख्याति और कहीं अनिर्वचनीय ख्याति मानता है, इसलिए सर्वत्र अन्यथाख्याति ही माननी चाहिए।

अद्वैत गन्थों में भी ऐसे स्थल में या परोक्ष भ्रम स्थल में अन्यथाख्याति ही मानी गई है और अपरोक्ष भ्रम में जहाँ अधि-

ष्ठान से आरोपित व्यवहित हो वहां वे अनिर्वचनीयख्याति मानते है। पर, यथार्थ में तो जहां पुरावर्ति स्थान में अधिष्ठान संबंधी आरोपित हो वहाँ भो अन्यथाख्याति ही बनती है। क्योंकि अधिष्ठान गोचर वृत्ति के होने पर अन्यथाख्याति मानने पर भी प्रमाता का सम्बन्ध आरोपित वस्तु से हो सकता है, तब अनिर्वचनीय विषय का उत्पन्न होना नहीं मान सकते। इस प्रकार अद्वैतमत में केवल एक अनिर्वचनीयख्याति से ही कार्य नहीं चलता, वरन् अन्यथाख्याति के मान लेने पर अनिर्वचनीयख्याति की अपेक्षा ही नहीं रहती। क्योंकि आरोपित व्यवहित और प्रत्यक्ष भ्रम के होने पर ही अद्वैतवाद में अन्यथाख्याति सम्भव नहीं बताई परन्तु उक्त प्रकार से ज्ञानलक्षण सम्बन्ध तो वहाँ भी हो सकता है। इस प्रकार अन्यथाख्याति मान लेने पर प्रत्यक्षा भ्रम की सम्भावना होने पर भी अनिर्वचनीयख्याति को मानना निष्प्रयोजन है।

प्रत्यक्षज्ञान की अहेतुता और घटज्ञान को इन्द्रियजन्यता

इस प्रकार नैयायिकों का प्रलाप निरर्थक ही सिद्ध होता है, क्योंकि जो सामान्य लक्षणादि अलौकिक सम्बद्ध प्रत्यक्ष ज्ञान के हेतु माने गए हैं, वह अयुक्त और अनुभव के विरुद्ध हैं। जिसे एक घट का नेत्रजन्य ज्ञान हो, उससे पूछे कि तुम्हें कितने घट दिखाई दिये? तो वह यही कहेगा कि मेरे समक्ष एक ही घट है तो कितने घट दिखाई देने का प्रश्न ही कैसा? परन्तु नैयायिकों के अनुसार तो लौकिक-अलौकिक के सम्बंध-भेद से और सभी घटो के साक्षात्कार की सामग्री होने से उक्त उपालम्भ नहीं बनना चाहिए और द्रष्टा को यह कहना चाहिए कि मुझे लौकिक संबन्ध से एक घट और अलौकिक सम्बन्ध से सभी घट दिखाई दे रहे है। पर, इस प्रकार व्यवहित घटों का भी दिखाई देना सुनकर

सभी को अचरज होता है। इस प्रकार नैयायिकों ने सामान्य लक्षण सम्बन्ध से जैसा साक्षात्कार कहा है वह लोक और शास्त्र के विरुद्ध है। यदि एक घट के साक्षात्कार होने पर सजातीयता से अन्य घटों की स्मृति तो हो सकती है, परन्तु प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हो सकता।

नैयायिकों का यह कहना भी कि सुगन्धित चन्दन के ज्ञान में ज्ञानलक्षण के संबंध से चन्दन में सुगन्धधर्म-अवगाहीचाक्षुष साक्षात्कार संभव है, नहीं बनता। क्योंकि जिसे चन्दन दिखाई दे रहा है, उससे पूछे कि क्या देखा ? तो वह यही उत्तर देगा कि 'मैंने सुगन्धित चन्दन देखा' और फिर पूछें कि चन्दन में सुगन्ध का ज्ञान कैसे हुआ ?' तो वह कहेगा कि 'चन्दन श्वेत है इसलिए सुगन्धित होगा ही, क्योंकि लाल चन्दन में सुगन्ध संभव नहीं।' इस प्रकार सुगन्ध के विषय में वह अनुमानजन्य वाक्य ही कहता है, यह नहीं कहता कि 'मुझे सुगन्ध का चाक्षुष साक्षात् हुआ है।' इससे स्पष्ट है कि सुगन्ध का ज्ञान नेत्रजन्य और प्रत्यक्ष नहीं हैं, वरन् यह कहना चाहिए कि वह ज्ञान चन्दनांश में प्रत्यक्ष और सुगन्धांश में अनुमितिरूप है।

'चन्दन सुगन्धित है' ऐसा कहने वाले द्रष्टा से पूछें कि 'चन्दन में गन्ध अल्प है अथवा अधिक ? तो वह उत्तर देगा कि 'नेत्र से तो श्वेत चन्दन ही दिखाई देता है, इससे उसमें सामान्य गन्धकी अनुमिति ही है, गन्ध के अल्प या अधिक होने का ज्ञान तो गन्ध के प्रत्यक्ष होने पर ही होगा।' इससे भी गन्ध का प्रत्यक्ष ज्ञान सिद्ध नहीं होता। क्योंकि जिस-जिस इन्द्रिय से विषय रूप शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान हो, उसी उसी से उन विषयों के उत्कर्ष-अपकर्ष का ज्ञान संभव है। यदि नेत्र से गन्ध का ज्ञान

हो जाता हो, तब तो उसके उत्कर्ष उपकर्ष का भी ज्ञान होसकता है। परन्तु गन्ध का ज्ञान नेत्र से नहीं होता, इसलिए चन्दन में गन्ध का ज्ञान अनुमिति रूप ही माना जा सकता है।

यदि नैयायिक यह कहें कि लौकिक सम्बन्ध से उत्पन्न प्रत्यक्ष से ही विषय के उत्कर्ष-अपकर्ष की प्रतीति हो सकती है और अलौकिक सम्बंध से विषय का विशेष धर्म नहीं, सामान्य धर्म ही भासता है तो कथन भी समीचीन नहीं है। क्योंकिविषय के सामान्य धर्म की अभिव्यक्ति तो परोक्ष ज्ञान से भी होती है, तब अप्रसिद्ध अलौकिक सम्बद्ध से अप्रसिद्ध प्रत्यक्ष की कल्पना ही व्यर्थ है। यदि कहें कि अलौकिक सम्बन्ध से सुगन्ध की अभिव्यक्ति विशेष रूप से नहीं होती, वरन् सामान्य रूप से ही होती है और वह सुगन्ध ज्ञान नेत्र से ही सम्भव है। इन वाक्यों से भी यही सिद्ध होता है कि श्वेत चन्दन का नेत्र से साक्षात्कार होते ही सुगन्धि का अनुमिति रूप सामान्य ज्ञान होता है। सुगन्ध का वह ज्ञान नेत्र जन्य नहीं, वरन् अनुमिति रूप ही हैं।

यदि नैयायिक कहें कि सुगधं का नेत्रजन्य ज्ञान उत्कर्ष-अपकर्ष को व्यक्त करने वाला न होने से अनुमिति जैसा ही है, तो भी वह ज्ञान अनुमिति रूप नहीं हो सकता। क्योंकि 'चन्दन सुगन्धित है' यह ज्ञान दो नहीं बरन् एक ही है। इस पर भी एक ही ज्ञान को छन्दनांश में प्रत्यक्ष और सुगन्धांश में अनुमिति रूप मान लें तो उस एक ज्ञान में ही दो विरोधी धर्म प्रत्यक्षत्व और अनुमितित्व का समावेश होगा। इसलिए दोनों अंशों में प्रत्यक्ष रूप ही समझना चाहिए।

उक्त कथन में असंगत है, क्योंकि उनके मत में जैसे एक ही ज्ञान में दो विरोधी धर्म समविष्ट हैं, वैसी ही अद्वैत मत में भी

एक ज्ञान में ही प्रत्यक्षत्व और अनुमितित्व दोनों धर्म हो सकते हैं। इस प्रत्यक्षत्व और अनुमितित्व का विरोधाभास तो न्याय मत वालों को ही होता है, यथार्थ तो विरोध है नहीं। परन्तु लौकिकत्व और अलौकिकत्व के परस्पर भावाभाव रूप होने से उनका विरोध सभी के लिए अनुभव सिद्ध हैं।

वेदान्त मत में अन्तःकरण की वृत्ति रूप ज्ञान द्रव्य एवं अंश-युक्तहै इसलिए अंश भेद से एक वृत्ति में दो धर्म संभव होते हैं पर न्याय मत में ज्ञान द्रव्य नहीं क्रिया रूप होने से अंशयुक्त नहीं और उस अंशहीन ज्ञान में दो विरोधी धर्मों का बाध है। किन्तु वेदान्तानुसार ज्ञान के उपादान अन्तःकरण के अंशयुक्त होने से चन्दन सुगन्धित हैं' उस ज्ञान में अन्तःकरण के परिणाम रूप दो ज्ञानों का होना बनता है। उनमें 'चन्दन है' यह ज्ञान तो प्रत्यक्ष और 'सुगन्धित' होने का ज्ञान अनुमिति है और क्योंकि दोनों परि-णामों की उत्पत्ति का समय एक ही है, इसलिए उनमें द्वित्व की प्रतीति कभी नहीं होती। इस प्रकार चन्दन सुगंधित है' यह ज्ञान सुगन्धांश में चाक्षुष होना संभव नहीं है।

यदि उक्त ज्ञान को अलौकिक प्रत्यक्ष मानें भी तो 'यह चांदी हैं' यह ज्ञान तो कभी अलौकिक सम्बद्ध जन्य हो ही नहीं सकता क्योंकि चन्दन के सुगन्धित होने के ज्ञान में सुगन्धि के उत्कर्ष—अपकर्ष में शंका रहने से अलौकिक सम्बन्ध से सुगन्धि के उत्कर्ष अपकर्ष का निश्चयात्मक प्रत्यक्ष संभव नहीं। इसके विपरीत यह चांदी हैं' इस भ्रम से और सत्य चांदी में 'यह चांदी है' इस प्रमा से चांदीं का प्राकट्य तो समान ही है। क्योंकि भ्रम स्थान में चांदी का प्राकट्य न हो तो चांदी के परिणाम आदि में संदेह होना चाहिए जो कि भ्रमस्थान में कभी होता नहीं। इस-से सिद्ध है कि भ्रमस्थान में चांदी का प्राकटय सत्य चांदी के

समान ही होता है। परन्तु ज्ञानलक्षण-अलौकिक सम्बन्ध जन्य ज्ञान में विषय का प्राकट्य न होने से 'यह चांदी है' इस भ्रमज्ञान का हेतु ज्ञान लक्षण सम्बन्ध नहीं होता। यथार्थ में तो ज्ञान—लक्षण सम्बन्ध कभी नहीं बनता ही नहीं। क्योंकि न्याय पक्ष को 'ज्ञानलक्षण सम्बन्ध से अलौकिक प्रत्यक्ष होने' वाली धारणा पर निम्न निष्कर्ष निकलता है—

एक पदार्थ को अनुभवजन्य स्मृति अथवा संस्कार होने और दूसरे पदार्थ से इन्द्रिय-सम्बन्ध होने पर उस इन्द्रिय—संयुक्त पदार्थ में स्मृतिगोचर या संस्कारगोचर पदार्थ का भान होता है। जैसे 'चन्दन सुगन्धित हैं' इस ज्ञान में नेत्रेन्द्रिय-सम्बन्धी चन्दन विशेष्य और स्मृतिगोचर संस्कार गोचर सुगन्ध विशेषण है। वैसे ही 'यह चांदी है' इस भ्रमज्ञान में भी इन्द्रिय-संयुक्त सीप विशेष्य और स्मृतिगोचर या संस्कारगोचर चांदीत्व विशेषण है। तथा उन विशेष्य और विशेषण दोनों का ही ज्ञान अपरोक्ष है।

इस प्रकार यदि न्याय पक्ष को मान लें तो अनुमान प्रमाण ही नष्ट होजायगा। क्योंकि 'पर्वत अग्नियुक्त है यह अनुमितिज्ञान अनुमान प्रमाण से ही सम्भव है। वहां धुआं रूप हेतु में साध्य व्याप्ति की व्याप्ति की स्मृति या संस्कारों से अनुमिति ज्ञान होता है और साध्य की व्याप्ति की स्मृति होने पर ही व्याप्तिनिरूपण करने वाले साध्य की स्मृति होती है। इस प्रकार नैयायिकों के अनुसार पर्वत में धुंए से नेत्र-संयोग और अग्नि की स्मृति से 'पर्वत अग्नियुक्त है' यह प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है तब साध्य के निश्चय रूप अनुमिति ज्ञान के जनक अनुमान प्रमाण को मानना व्यर्थ ही है। परन्तु गौतम, कणाद, कपिक आदि द्वारा रचित सूत्रों में अनुमान प्रमाण को पृथक् ही बताया गया है। यदि अनुमान प्रमाण की कोई उपयोगिता न होती तो उन सूत्रों में उस

का वर्णन नहीं होता। इसलिए अनुमान प्रमाण के प्रयोजक ज्ञान लक्षण सम्बन्ध जन्य अलौकिक प्रत्यक्ष ज्ञान को अलीक समझना चाहिए।

यदि अन्यथाख्याति यह कहे कि प्रत्यक्ष ज्ञान की विषयता से अनुमिति ज्ञान की विषयता के विलक्षण होने से प्रत्यक्ष के विषय में परिमाणादि का संदेह व्यर्थ है। परन्तु यह संदेह अनुमिति के विषय में रहता है। इस प्रकार प्रत्यक्षता-अप्रत्यक्षता रूप विषयता के भेद का होना अनुमिति और प्रत्यक्ष ज्ञान के भेद से ही संभव है। अतएव परोक्षतारूप विषयता का सम्पादक अनुमिति ज्ञान होता है, प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता और उसका हेतु भी अनुमान प्रमाण ही है।

उक्त कथन भी असंगत है, क्योंकि न्यायमत वाले लौकिक प्रत्यक्ष की विषयता को अनुमिति से विलक्षण और 'चन्दन सुगन्धित है' इस ज्ञान को सुगन्धांश में लौकिक प्रत्यक्ष मानते है और यथार्थ में तो वहाँ सुगन्ध का ज्ञान अनुमिनि जैसा ही है। क्योंकि जैसे अनुमिति के विषय में उत्कर्ष-अपकर्ष निर्णीत नहीं रहते, वैसे ही सुगन्ध के उत्कर्षापकर्ष भी अनिर्णीत रहने से अलौकिक प्रत्यक्ष की विषयता और अनुमिति की विषयता में कोई भेद नहीं रहता। यद्यपि चाँदी आदि में भ्रमरूप अलौकिक प्रत्यक्ष की विषयता मानी गई होने पर उस विषयता का अनुमिति की विषयता से भेद अनुभूत है और इसीलिए वहाँ चाँदी के अल्पत्वादि की शंका नहीं होती तो भी अनुमिति का कोई भेद ज्ञानलक्षण सम्बन्ध से उत्पन्न प्रत्यक्ष प्रजा की विषयता से नहीं बनता। इसलिए ज्ञान लक्षण सम्बन्ध से पर्वत में अग्नि का अलौकिक प्रत्यक्ष से प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है, तब अनुमिति ज्ञान के लिए अनुमान प्रमाण तो सर्वज्ञ ऋषियों द्वारा सिद्ध होने

से अनुमान प्रमाण की निष्फलता सम्पादन करने वाला अलौकिक प्रत्यक्ष ही व्यर्थ होना चाहिए।

नैयायिकों को यह कहना कि प्रत्यक्षज्ञान की विषयता से अनुमितिज्ञान की विषयता में विलक्षणता है और उसका हेतु अनुमान प्रमाण निष्फल नहीं है, समीचीन नहीं, क्योंकि अनुमान प्रमाण से अनुमिति होना सर्वत्र अलौकिक प्रत्यक्ष की सामग्री है जैसे पर्वत में अग्नि की अनुमिति से पहले धूँआ दिखाई देने रूप व्याप्तिज्ञान अनुमिति की सामग्री मानी गई है, वैसे ही धुँए से नेत्र-संयोग और अग्नि की स्मृति अलौकिक प्रत्यक्ष की सामग्री ही है। इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमिति दोनों की दो सामग्री रहने पर भी पर्वत में अग्नि का ज्ञान अनुमिति रूप न होकर प्रत्यक्ष ही होना चाहिए। क्योंकि न्यायशास्त्र द्वारा निर्णय किया हुआ अर्थ है कि जहाँ अथगोचर अनुमिति सामग्री और अपर-गोचर प्रत्यक्ष सामग्री दोनों ही हों, वहाँ अनुमिति सामग्री और जहाँ समानगोचर प्रत्यक्ष और अनुमिति दोनों सामग्री हों वहाँ प्रत्यक्ष सामग्री प्रबल होती है। जैसे पर्वत में धुँए से नेत्र-संयोग होने पर धुँए के प्रत्यक्ष की और अग्नि की अनुमिति की सामग्री दोनों के समाविष्ट होते हुए भी यहाँ अग्नि की अनुमिति है, जिसमें धुँए के प्रत्यक्ष का समावेश होता है।

परन्तु धुँआं और अग्नि दोनों से नेत्र-संयोग और धूँए में व्याप्ति का ज्ञान हो तो अग्नि की अनुमिति और प्रत्यक्ष दोनों की सामग्री होते हुए भी अनुमिति नहीं, वरन् अग्नि का प्रत्यक्ष ही होता है। इसी प्रकार प्रकृतस्थान में अग्नि की अनुमिति-सामग्री के होते हुए भी ज्ञानलक्षण अलौकिक सम्बन्ध रूप प्रत्यक्ष सामग्री से अग्नि का प्रत्यक्ष ज्ञान ही होना चाहिए। परन्तु इस प्रकार ज्ञानलक्षण अलौकिक सम्बन्ध से प्रत्यक्षज्ञान का उत्पन्न होना मान लें तो अनुमान प्रमाण की निष्फलता होगी।

यदि नैयायिक कहें के भिन्न-भिन्न विषयों के होने पर प्रत्यक्ष सामग्री से अनुमिति सामग्री और समान विषयों के होने पर अनुमिति सामग्री से प्रत्यक्ष सामग्री प्रबल होती है। तो भी समान विषय होने पर अनुमिति की सामग्री से लौकिक प्रत्यक्ष की सामग्री ही प्रबल है। परन्तु अनुमिति सामग्री से अलौकिक प्रत्यक्ष-सामग्री प्रबल नहीं होती। इस प्रकार पर्वत में अग्नि की अनुमिति सामग्री द्वारा अलौकिक प्रत्यक्ष का बाध होने के कारण अनुमिति प्रमाण की निष्फलता नहीं बनती।

उक्त कथन भी असंगत हैं क्योंकि स्थाणु में यह स्थाणु है या नहीं? ऐसी शंका होने पर 'पुरुषत्व व्याप्य हाथ वाला है' ऐसा भ्रम हो और फिर 'यह पुरुष है' ऐसा भ्रमरूप प्रत्यक्ष हो तो न्याय मतानुसार पुरुष का प्रत्यक्ष नहीं, वरन् अनुमिति ही होनी चाहिए। क्योंकि वहाँ स्थाणु में पुरुषत्व के प्रत्यक्ष से भ्रमरूप प्रत्यक्ष है, जिसकी अलौकिक सामग्री है। इसलिए नैयायिकों के अनुसार यदि अनुमिति सामग्री से अलौकिक सामग्री को अल्पबल मान लें तो वहाँ स्थाणु में पुरुषत्व का प्रत्यक्ष न होकर पुरुषत्व भ्रम की अनुमिति होनी चाहिए। यदि उक्त स्थान में पुरुष के भ्रम को अनुमिति रूप माने तो दूसरे ही क्षण 'मैं पुरुष को प्रत्यक्ष देखता हूँ' ऐसा जो अनुव्यवसाय होता है, जो कि नहीं होना चाहिए, वरन् 'मैं पुरुष का अनुमान करता हूँ' यह अनुव्यवसाय होना चाहिए। इस प्रकार दोनों सामग्रियों के समान विषयक होने पर लौकिक प्रत्यक्ष सामग्री के समान अलौकिक प्रत्यक्ष सामग्री को प्रबल और अनुमिति सामग्री का दुर्बल मानना ही योग्य है। इसलिए यदि ज्ञान लक्षण सम्बन्ध से प्रत्यक्ष का उत्पन्न होना मान लें तो अनुमिति का बाध करके पर्वतादि में अग्नि आदि का प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर अनुमान प्रमाण निष्फल

होगा। यदि अनुमान प्रमाण को स्वीकार करें तो न्याय
ानुसार स्मृति ज्ञान युक्त इन्द्रिय-सम्बन्ध से या संस्कार युक्त
द्रय-सम्बन्ध से व्यवहित वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो
ता। इस प्रकार सीप की चांदीत्वरूप से प्रतीतिरूप अन्यथा
ाति कभी हो नहीं सकती।

अनिर्वचनीयवाद में न्यायोक्त दोष का निराकरण

न्यायमत में अनिर्वनीयख्यातिवाद पर यह दोष लगाए
के (१) उसमें विषय और ज्ञान दोनों की ही कारणता दोष
न मानी गई है, जबकि अन्यथाख्यातिवाद में ज्ञान की ही
रणता दोषयुक्त है, विषय की कारणता नहीं। और (२)
नेर्वचनीयख्यातिवादी को अन्यथाख्याति की भी अपेक्षा है,
न्तु अन्यथाख्यातिवादी को अनिर्वचनीय ख्याति की अपेक्षा
ीं। इस प्रकार अन्यथाख्याति में लाघव और अनिर्वचनीय-
ाति में गौरव समझना चाहिए।

नैयायिकों का उक्त कथन भी अविवेकजन्य है। क्योंकि
यथाख्यातिवादी को भी श्रुति-स्मृति के अनुसार स्वप्न में तो
नेर्वचनीय ख्याति की अपेक्षा है ही। इसलिए सीप में चांदी के
दात्म्य का भान होता है। इदं पदार्थ में चाँदीत्व का समवाय
ने के समान ही इदं पदार्थ और चाँदी के तादात्म्य को प्रतीति
हें माननी ही चाहिए। यहाँ इदं पदाथ सीप है और सीप व
दी का तादात्म्य भ्रमस्थान के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र प्रसिद्ध
हीं है। इसलिए यही मानना ठीक है कि पुरोवर्ति देश में ही
प चाँदी के तादात्म्य की अनिर्वचनीय उत्पत्ति होती है। यदि
दात्म्य की अनिर्वचनीय उत्पत्ति न मानें तो अप्रसिद्ध की
यक्ष प्रतीति नहीं हो सकती। परन्तु उक्त तादात्म्य की प्रत्यक्ष

प्रतीति होने से तादात्म्य का अनिर्वचनीय उत्पन्न होना मान्य होता है।

यदि नैयायिकों का यह आग्रह हो कि 'सीप में चाँदीत्व का समवाय प्रतीत होता है' इस कथन का अर्थ है कि सीप में समवाय-सम्बन्ध से जो चाँदीत्व की प्रतीति होती है, उसका अर्थ 'सीप में चाँदी के तादात्म्य का भास' नहीं बनता। यह आग्रह भी संभव नहीं।

नैयायिकों का यह कहना कि 'अनिर्वचनीयख्याति वादी को भी अन्यथाख्याति की अपेक्षा है, जिससे अद्वैतवादियों ने भी अंगीकार किया है।' यह अद्वैत ग्रन्थों के अभिप्राय को न जान कर ही है। क्योंकि अद्वैतवाद में अन्यथाख्याति न मानकर सर्वत्र ही अनिर्वचनीय ख्याति की गई है। अधिक क्या, जहां प्रमाज्ञान कहे हैं, वहाँ भी अद्वैत सिद्धान्तानुसार तो विषय और उनके ज्ञान अनिर्वचनीय तो बताये हैं। जहां कहीं अन्यथाख्याति कहीं है, उसका अभिप्राय यही है कि अधिष्ठान-आरोप्य का संयोग होने पर ही अन्यथा ख्याति हो सकती है, सर्वत्र नहीं हो सकती। किन्तु आरोप्य व्यवहित और अपरोक्ष भ्रम होने पर अनिर्वचनीयख्याति अनिवार्य होने से सर्वत्र अनिर्वचनीय ख्याति मानना ही योग्य है। इस प्रकार अद्वैतवाद में जो अन्यथा ख्याति कही है वह संभव होने के अभिप्राय से ही कहा है स्वीकार करने के अभिप्राय से नहीं। अद्वैतमत में आत्म सत्ता की अनात्मा में अन्यथाख्याति कही है, वहां भी उसका अर्थ अनात्मा में आत्म सत्ता के अनिर्वचनीय सम्बन्ध की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार सम्बन्ध की अनिर्वचनीय उत्पत्ति न बनती हो, वहां सिद्धान्तानुसार केवल अन्यथाख्याति ही न मान कर उसका अनिर्वचनीय सम्बन्ध भी माना है। इसी प्रकार परोक्ष भ्रम होने पर भी

अनिवचनीय विषय का उत्पन्न होना मानने पर भी वहां अन्यथाख्याति मानने में कोई दोष नहीं बनता।

यदि नैयायिक यह कहें कि 'यह रजत वही हैं' ऐसा सीप में चाँदी का प्रत्यभिज्ञा भ्रम होने पर यदि पुरोवर्ति सीप देश में अनिर्वचनीय चाँदी का उत्पन्न होना मान लें तो सन्निहित सीप में तो तत्ता होती नहीं, इसलिए पुरोवर्ति सीप में देशान्तरस्थ चांदीवर्ति चांदीत्व और तत्ता का अन्यथा भान होता है अथवा देशान्तरस्थ चाँदी की अन्यथा प्रतीति तादात्म्य सम्बन्ध से होती है। इसलिए उक्त स्थल में अन्यथाख्याति मानना ही ठोक है।

उक्त कथन भी अयुक्त है,क्योंकि उक्त प्रत्यभिज्ञा में अनिर्वचनीय चाँदी ही विषय हो सकती है, देशान्तरस्थ चाँदी नहीं हो सकती। अभिप्राय यह कि बिना प्रमाता से सम्बन्ध हुए प्रत्यक्ष अवभास नहीं होता, परन्तु देशान्तरस्थ चांदी से प्रमाता का सम्बन्ध बाधित होने से पुरोवर्ति देश में देशान्तरस्थ चाँदी की प्रतीति सम्भव नहीं। क्योंकि सिद्धान्त यह है कि यथार्थ प्रत्यभिज्ञा होने पर भी तत्ता-अंश में स्मृति ही संभव है। इसलिए अन्यथाख्याति की अपेक्षा कहीं भी नहीं, वरन् अनिर्वचनीय विषय का उत्पन्न होना असम्भव हो तो भी वहाँ अनिर्वचनीय सम्बन्ध का उत्पन्न होना ही असम्भव हैं। इस प्रकार अन्यथाख्याति मानने की कहीं आवश्यकता नहीं होता, वरन् अनिर्वचनीय ख्याति से ही निर्वाह होता हैं।

अन्यथावादी द्वारा अनिर्वचनीय ख्याति में यह गौरव दोष बताया गया कि अनिर्वचनीय चादी और उनके ज्ञान का कारण दोष मानने की अपेक्षा तो केवल ज्ञान को ही दोषजन्य मानना लाघव है। अन्यथाख्यातिवाद में देशान्तर प्रसिद्ध चांदी की

प्रसिद्ध से सीप में उसके चांदीत्व धर्म का ज्ञान मात्र ही होता है, क्योंकि वहाँ चांदी तो होती ही नहीं । इस प्रकार केवल ज्ञान के ही दोषजन्य होने से अन्यथाख्यातिवादमें लाघव है ।

उक्त कथन भी संगत नहीं। यदि लाघव के बल से अनुभव-सिद्ध पदार्थ को भी लुप्त कर दें । और यथार्थ ज्ञान के विषय को भी न मानें तो विज्ञानवाद के अनुसार केवल विज्ञान का मान लेना ही अति लाघव होने से जैसे अनुभवसिद्ध घटादि के ग्रह—णोपरान्त अतिलाघवयुक्त विज्ञानवाद को छोड़ दें, वैसे ही प्रत्यक्ष प्रतीतिसिद्ध अनिर्वचनीय चाँदी आदि मान लेने पर अन्यथाख्यातिवाद भी त्यागने योग्य है।

यदि विचार करें तो अन्यथाख्यातिवाद में ही गौरव का आभास होगा, वह इस प्रकार कि (१) चांदी के साक्षात्कार में चांदी और नेत्र के संयोग की ही कारणता निर्णीत है । यदि देशान्तरस्थ चाँदी का सीप में ज्ञान मानें तो वह निर्णीत अर्थ छोड़ना पड़ता है (२) चांदी और प्रकाश के संयोग से ही चाँदी का साक्षात्कार निर्णीत है, किन्तु अन्यथाख्यातिवाद में जो सीप और प्रकाश के सयोग से चांदी का भ्रमरूप साक्षात् होना माना है, उसके अनिर्णीत होने से अनीर्णीत को स्वीकार करना होगा। (३) इस मत में ज्ञानलक्षणसम्बन्ध को ग्रहण किया है, जबकि वह अप्रसिद्ध है । यदि ज्ञानलक्षण सम्बन्ध को मान भी लें तो उक्त अलौकिक सम्बन्ध से जिस पदार्थ का प्रत्यक्ष होना स्वीकार किया जाता है, उसका प्राकट्य कभी नहीं होता । इसलिए 'चन्दन सुगन्धित है, इस ज्ञान में सुगन्ध का अलौकिक प्रत्यक्ष हो जाय तब भी मैं सुगन्ध से साक्षाकार करता हूँ' ऐसा अनु—व्यवसाय नहीं होता । परन्तु अलौकिक सम्बन्ध से चांदी का भ्रम हो जावे पर तो चांदी का प्राकट्य होता है और उस भ्रम

के होते ही 'मैं चांदी को देखता हूँ'ऐसा अनुव्यवसाय होने लगता है। इस प्रकार ज्ञानलक्षण सम्बन्ध से होने वाले यथार्थ ज्ञान में भी प्राकट्यजनकता नहीं तो भ्रमस्थान में ही उक्त अलौकिक सम्बन्ध से उत्पन्न ज्ञान में प्राकट्यजनता का अंगाकार विस्मय-प्रद एवं अप्रसिद्ध कल्पना ही है।

अख्यातिवाद और उसका खण्डन

प्रभाकर का अख्यातिवाद भी इसी प्रकार समीचीन नहीं। उसका अभिप्राय है कि अन्यशास्त्रों में जो यथार्थ-अयथार्थ के भेद से दो प्रकार का ज्ञान माना गया है, जोकि संगत नहीं। क्योंकि जितने भी ज्ञान हैं वे सब यथार्थ ही होते हें और अय— थार्थ ज्ञान तो कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है। यदि अयथार्थ ज्ञान भी हो तो ज्ञान होते ही ज्ञानत्वसामान्यधर्म की प्रतीति से उत्पन्न हुए ज्ञान में अयथार्थ का भी संदेह होजाता, जिसके प्रवृत्ति-निवृत्ति भी नहीं होनी चाहिए। क्योंकि उसके हेतु ज्ञान में यथार्थता के निश्चय और अयथार्थता का संदेह का अभाव होता है। परन्तु अयथार्थता का संदेह रहने पर तो प्रवृत्ति, निवृत्ति कुछ भी नही हो सकती। इसलिए अयथार्थ ज्ञान का न मानने पर तो उत्पन्न ज्ञान में उक्त संदेह का अवकाश रहता ही नहीं। क्योंकि किसी ज्ञान के अयथार्थ मान लेने पर तो अपने ज्ञान में ज्ञानता धर्म उसकी सजातीयता प्रतीत होने पर तो अयथार्थता का सन्देह होता। परन्तु सभी ज्ञान यथार्थ हैं, अयथार्थ ज्ञान है ही नहीं तब ज्ञान में अयथार्थता सदेह हो ही नहीं सकता। इस प्रकार भ्रमज्ञान प्रसिद्ध नही है।

जहाँ पुरुष की लोभ हेतु वाली सीप में प्रवृत्ति और भय हेतु वाली रस्सी से निवृत्ति हो, वहाँ भी चांदी का और सर्प का ज्ञान

प्रत्यक्ष नहीं, स्मृतिज्ञान ही है और सीप तथा रस्सी का इदं
से समान्य ज्ञान अपरोक्ष है। सदोष नेत्र का सीप और रस्सी
सम्बन्ध होने के कारण सीप और रस्सी के विशेष रूपकी प्रती
नहीं होती, वरन् सामान्यरूप इदंता की ही होती है। इस प्रक
सामान्य ज्ञान होने के दूसरे ही क्षण में समानता के कारण चां
और सर्प के संस्कार प्रकट होकर चाँदी और सर्प की स्मृ
कराते हैं। यद्यपि जितने भी स्मृति ज्ञान हैं उन सभी में पदा
की सत्ता ही प्रतीत होती है। तो भी सदोष नेत्र के संयोग
संस्कारों के प्रकट होने पर दोष-बल से सत्ता अंश का प्रमोष हं
से प्रमुष्ट सत्ता की स्मृति होती है। प्रमुष्ट तत्ता का अर्थ लुप्तत
समझना चाहिए, इस प्रकार 'यह चांदी है' और 'यह सर्प
इनमें दो ज्ञान होते हैं और सीप और रस्सी का इदंरूप से साम
न्यज्ञानरूप प्रत्यक्षज्ञान तथा रस्सी और सर्प का स्मृतिज्ञान
यथार्थ होता है। यद्यपि प्रत्यक्षज्ञान सीप-रस्सी के विशेष भ
को छोड़ने पर और स्मृतिज्ञान भी चाँदी-सर्प के तत्ता भाग
छोड़ने पर ही होता है, तोभी एक भाग को छोड़ने से ज्ञान अ
थार्थ नहीं हो सकता। इसलिए उक्तज्ञान यथार्थ ही है। इ
प्रकार अख्यातिवाद में भ्रमज्ञान प्रसिद्ध नहीं है।

अन्यथाख्यातिवादी द्वारा निराकरण

यदि शास्त्रान्तर में यह कहा जाय कि जिस पदार्थ में इष्ट-
साधनता का ज्ञान हो, उसमें प्रवृत्ति और जिसमें अनिष्टसाधन
का ज्ञान हो, उसमें निवृत्ति स्वाभाविक होती है। यदि अख्या
वादी के मतानुसार सीप में इष्ट साधनता का ज्ञान मानें
भ्रम भी मानना होगा, और इष्ट साधनता न मानें तो चांदी
इच्छुक की प्रवृत्ति सीप में नहीं होनी चाहिए, जबकि होती है

ऐसे ही रस्सी में अनिष्टसाधनता का अभाव है और उस अभाव को न मानकर उसके ज्ञान का अंगीकार करें तो भ्रम को मानना होगा और अनिष्टसाधनता का अभाव कहें तो उससे निवृत्ति नहीं होनी चाहिए। परन्तु निवृत्ति होती है, इसलिए भ्रमज्ञान की भी अनिवार्यता बनती है।

अख्यातिवादी उक्त आपत्ति का निराकरण इस प्रकार करते हैं कि भ्रम माने गए जिस पदार्थ में पुरुष को प्रवृत्ति होती हो, उस पदार्थ का पहले तो सामान्य रूप से प्रत्यक्ष ज्ञान, दूसरे इष्ट पदार्थ की स्मृति, तीसरे स्मृति के विषय से पुरोवर्ति पदार्थ के भेद ज्ञान का अभाव और चौथे पुरोवर्ति पदार्थ के ज्ञान से स्मृति ज्ञान के भेदज्ञान का अभाव, यह सामग्री प्रवृति की हेतु है। इस प्रकार भ्रमज्ञान के न होते हुए भी प्रवृत्ति हो सकती है। अब यदि विषय और ज्ञान के भेदज्ञान का अभाव ही प्रवृत्ति का हेतु मानें तो उदासीन अवस्था में भी प्रवृत्ति होनी चाहिए, इसलिए विषय के सामान्य प्रत्यक्ष के सहित इच्छित स्मृति को ही प्रवृत्ति का हेतु मानें तो 'वह चाँदी देशान्तर में है और यह कुछ हैं' ऐसी देशान्तर सम्बन्धी चाँदी की स्मृति और सीप का कुछ ही ज्ञान हो तो भी चांदी के इच्छुक पुरुष की प्रवृत्ति होनी चाहिए। इस-लिए इच्छित पदार्थ और उसके ज्ञान से प्रकट हुए विषय एवं उसके ज्ञान के भेदज्ञान का अभाव भी प्रवृत्ति का हेतु होता है।

उक्त स्थल में इच्छित चांदी का सीप से भेद ज्ञान होने से प्रवृत्ति नहीं बनती। यदि इच्छित पदार्थ का पुरोवर्ति विषय से भेदज्ञान का अभाव मात्र ही प्रवृत्ति की सामग्री में सम्मिलित करें और दोनों के ज्ञानों के भेदज्ञान का अभाव न कहें तो 'यह चांदी है' ऐसा दो ज्ञानों का भेद ग्रहण करके भी प्रवृत्ति होनी चाहिए थी, परन्तु होता नहीं। इसलिए दोनों ज्ञानों के भेदज्ञान

का अभाव भी प्रवृत्ति की सामग्री में ही कहा है। इस प्रकार दोनों भाँति से पुरोवर्ति पदार्थ का सामान्य ज्ञान प्रवृत्ति का हेतु माना गया है और क्योंकि पुरोवर्ति सीप का यह इन्दरूप से सामान्य ज्ञान यथार्थ होने के कारण भ्रम का मानना व्यर्थ है। जहाँ सीप में चाँदी का भेदज्ञान हो, वहाँ भी प्रवृत्ति न होने से भेदज्ञान प्रवृत्ति का प्रतिबन्धन होता है,जबकी भेदज्ञान के अभाव रूप प्रतिबन्ध का अभाव प्रवृत्ति का हेतु है। अतएव भेदज्ञान के अभाव में प्रवृत्ति का कारणता मान लेने पर अप्रसिद्ध कह ही नहीं सकते।

रस्सी देश में भय हेतु से पलायन होने पर भी सर्प भ्रम नही हो पाता। किन्तु रस्सी का सामान्य ज्ञान, द्वेषगोचर सर्प की स्मृति और दोनों ज्ञानों तथा उनके विषयों के भेदज्ञान का अभाव पलायन के हेतु हैं। यद्यपि पलायन भी प्रवृत्ति विशेष तो है, परन्तु वह प्रवृत्ति विषय-विमुख है, विषताभिमुख नहीं है। अन्तर यही है कि विषयविमुख प्रवृत्ति में द्वेषगोचर की और अभिमुख प्रवृत्ति में इष्टगोचर की स्मृति होती है। इस प्रकार भय के कारण हुई पलायनादि क्रिया चाहे प्रवृत्ति, मानी जाय या निवृत्ति, परन्तु उसका हेतु द्वेषगोचर पदार्थ की स्मृति ही हो सकती है।

जहाँ सीप के ज्ञान से चाँदी के आकांक्षी की प्रवृत्ति के अभाव रूप से निवृत्ति होती हो, वहाँ उसका हेतु सीप का ज्ञान ही है, तो वह तो भ्रमरूप हो ही नहीं सकता और जहाँ सत्य चांदी में चांदी के आकांक्षी की प्रवृत्ति हो, वहाँ उसकी प्रवृत्ति का हेतु चांदीत्व विशिष्ट चाँदी का ज्ञान ही होने से पुरोवर्ति सत्य चांदी में चांदी के भेदज्ञान का अभाव प्रवृत्ति का हेतु नहीं हो सकता। इस प्रकार प्रवृत्ति जनकता का विशिष्ट ज्ञान में तो लोप होता

नहीं, क्योंकि जहाँ सत्य चांदी है, वहाँ भी पुरोवर्ति चांदी में चांदी के भेद ज्ञान के अभाव को ही प्रवृत्ति का हेतु कहें तो नहीं कह सकते। अभिप्राय यह है कि प्रसिद्ध प्रतियोगी का अभाव व्यवहार ही गोचर होता है, अप्रसिद्ध प्रतियोगी का अभाव तो किसी व्यवहार के योग्य होता ही नहीं। जैसे शश-शृंगके अभाव का प्रतियोगी प्रसिद्ध न होने से वह अभाव भी अलीक है और अलीक पदार्थ में कोई व्यवहार होना सम्भव नहीं। यहाँ सत्य चांदी में चांदी का भेद है ही नहीं तो सत्य चांदी में चाँदी का भेदज्ञान ही कैसे होगा ? परन्तु, भ्रमज्ञान मान लें तो सत्य चांदी में कल्पित चाँदी का भेदज्ञान सम्भव है। परन्तु अख्यातिवाद में भ्रमज्ञान के अप्रसिद्ध होने से सत्य चांदी में चांदी का भेदज्ञान भी नहीं बन सकता। इस प्रकार सत्य चाँदी में भेदज्ञान रूप चांदी-प्रतियोगी युक्त प्रतियोगी के न हो सकने से सत्य चांदी में चांदा-प्रतियोगीयुक्त भेदज्ञान का होना अलीक है और भेदज्ञान के अभाव में प्रवृत्ति की जनकता भी नहीं बनने से पुरोवर्ति सत्य चांदी-स्थल में चांदीत्व विशिष्ट चांदी है, यही विशिष्टज्ञान चाँदी के आकांक्षी पुरुष की प्रवृत्ति का हेतु बनता है।

यद्यपि अख्यातिवाद में भ्रमज्ञान नहीं वरन् सभी सर्व ज्ञान यथार्थ है, तो भी कहीं प्रवृत्ति की सफलता है, कहीं निष्फलता। इसमें हेतु यह बतलाते हैं कि विशिष्ट ज्ञान प्रवृत्ति तो सफल और भेदज्ञान के अभाव से उत्पन्न प्रवृत्ति निष्फल होती है। इसलिए सत्य चांदी देश में भी भेदज्ञान के अभाव से उत्पन्न प्रवृत्ति कहें तो प्रवृत्ति में सर्वत्र समानता होनी चाहिए और फिर उसमें सफल या निष्फल के भेद का भी अभाव होजाना चाहिए। इसी-लिए सफल प्रवृत्ति का जनक विशिष्ट ज्ञान कहा है। यदि असत्य चाँदी में चांदी के आकांक्षी की प्रवृत्ति नहीं तो प्रवृत्ति के अभाव

रूप विवृत्ति होने से उसका हेतु चांदीत्वविशिष्ट चाँदी के ज्ञान का अभाव होता है परन्तु वहाँ भी भ्रमरूप चाँदी अभाव का ज्ञान सम्भव नहीं। क्योंकि प्रवृत्ति और निवृति तो परस्पर प्रतियोगी और अभाव रूप होने से प्रवृत्तिरूप प्रतियोगी का हेतु चांदीत्व-विशिष्ट चांदी का ज्ञान है और प्रवृत्ति के अभाव रूप निवृत्ति का हेतु चांदीत्वविशिष्ट चांदी के अभाव का ज्ञान होता है। इस प्रकार विषयों का अभाव और विषयेच्छुक की प्रवृत्ति हो तो अख्यायिवाद में उसके हेतु इच्छित स्मृति आदि और भेदज्ञान के अभाव आदि हैं और सीप देश में 'यह चाँदी है' ऐसा ज्ञान होने पर एक ज्ञान नहीं समझना चाहिए, वरन् यह मानना चाहिए कि सीप का इदमाकार सामान्य ज्ञान है और चाँदी की प्रमुष्ट तत्ता कराने वाली स्मृति है। यद्यपि इन दोनों ज्ञानों से प्रवृत्ति होती है, परन्तु वह प्रवृत्ति तभी संभव है जबकि इन दोनों के भेदज्ञान का अभाव हो। इस प्रकार उक्त दोनों ज्ञानों सहित भेद ज्ञान का अभाव ही प्रवृत्ति का हेतु हो सकता है।

अनेक ख्यातिवादी ग्रन्थकार असम्बन्ध ग्रह के अभाव से भी प्रवृत्ति होना मानते हैं, जिसका अभिप्राय यह है कि सीप में तो चांदीत्व का असम्बन्ध है ही,सीप में चांदी का तादात्म्य सम्बन्ध भी नहीं बनता। ऐसा ज्ञान जिसे होजाय उसकी प्रवृत्ति न होने से असम्बन्धग्रह का अभाव ही प्रवृत्ति का हेतु हो सकता है। इस अर्थ में भेदग्रह के अभाव सदृश्य ही अर्थ निकलता है। परन्तु ऐसी प्रवृत्ति सफल नहीं निष्फल होती है, जबकि विषयदेश में विषयेच्छुक को प्रवृत्ति का हेतु विशिष्ट ज्ञान हो तो प्रवृत्ति का सफल होना ही बनता है।

इस प्रकार अख्यातिवाद में भ्रमज्ञान प्रसिद्ध नहीं और जितने भी ज्ञान होते हैं, वे यथार्थ ही होते हैं। जहाँ दो

ज्ञानों के अविवेक से प्रवृत्ति निष्फल हो, वहाँ उस अविवेक भ्रम कहा गया है तथा दोनों ज्ञानों के विवेक का अभाव और दोनों विषयों के विवेक का अभाव ही 'अख्याति' पद की परिभाषा है।

अख्यातिवाद का निराकरण

यह मत भी असंगत है। क्योंकि सीप में चांदी के भ्रम से प्रवृत्ति पुरुष को चाँदी का लाभ न हो तो वह कहता है कि चांदी रहित देश में चाँदी के ज्ञान से मेरी प्रवृत्ति निष्फल ही हुई' और ऐसे भ्रमज्ञान का लोप कभी सम्भव नहीं। परन्तु अख्यातिवादी के अनुसार तो 'सीप में मेरी प्रवृत्ति चांदी की स्मृति और सीप-चाँदी के भेदज्ञानाभाव से ही हुई' इस प्रकार से बोध होना चाहिए।

इसी प्रकार अख्यातिवाद में भी भ्रम बिषय और भ्रमज्ञान को छोड़ कर यह जो अनेक कल्पनाएँ की जाती हैं, वे निरर्थक हैं—(१) दोष-बल से नेत्र-संयोक होने पर सीप का ज्ञान विशेष रूप से नहीं होता,(२) प्रमुष्ट तत्तांश के कारण होता हुआ स्मृति-ज्ञान भी सफल नहीं होता, (३) दोनों विषयों का भेद होते हुए भी प्रतीत नहीं होता, और (४) दोनों ज्ञानों का भेद रहते हुए भी नही भासता। यह सर्व कल्पनाएँ व्यर्थ हैं।

यथार्थ में तो सीपदेश में चाँदी के प्रतीति-काल में अभिमुख देश में चाँदी भी होने से अख्यातिवाद अनुभव के विरुद्ध ही है। अख्यातिवादी के मत में जैसे सीपदेश में चांदी का वेदग्रह रौप्यार्थी की प्रवृत्ति में प्रतिबन्धक होने के कारण चांदी के भेद ज्ञान के अभाव को ही रौप्यार्थी की प्रवृत्ति का हेतु मानते हैं, वैसे

ही सत्य चाँदी के स्थल में चाँदी का अभेदज्ञान भी रौप्यार्थी की निवृत्ति का प्रतिबन्धक होने से वहाँ अभेदज्ञान का अभाव भी रौप्यार्थी की निवृत्ति का हेतु हो जायगा।इस प्रकार सत्य चाँदी में चाँदी के भेदज्ञान का अभाव कुवृत्ति का हेतु और चाँदी के अभेद ज्ञान का अभाव निवृत्ति का हेतु होता है।

अख्यातिवादी के मत में अनिच्छा से भी भ्रमज्ञान की सामग्री सिद्ध होती है। अर्थात् जहां निर्धूम और अग्नियुक्त पर्वत में अग्नि का व्याप्य धूमयुक्त पर्वत है'यह परामर्श होने पर अग्नि की प्रमारूप अनुमिति होती है। क्योंकि अनुमिति का विषय अग्नि के पर्वत में होने से यह ज्ञान प्रमारूप होता है। पर्वत में धूमरूप हेतु का अभाव होने से पर्वत में अग्निव्याप्य धूम के सम्बन्ध का ज्ञान तो अख्यातिवाद में बन नहीं सकता, क्योंकि यथार्थ रूप से पर्वत में धूम का सम्बन्ध नहीं है। यदि भ्रमज्ञान को मानें तब तो धूमसम्बन्धहीन पर्वत में धूम-सम्बन्ध का ज्ञान सम्भव है। परन्तु, यहाँ भ्रमज्ञान का स्वीकार न होने से यद्यपि निर्धूम में धूम-सम्बन्ध का ज्ञान ो नहीं हैं, तो भी पर्वत में धूम के असम्बन्ध ज्ञान का अभाव तो है ही और वही अभावरूप परामर्श उक्त अनुमिति का कारण होता है। फिर अनुमिति का कारण उस अभाव को ही अंगीकार करना चाहिए। क्योंकि पक्ष में हेतु का सम्बन्ध हो तो उसमें हेतु के असम्बन्धज्ञान का अभाव और हेतु का सम्बन्ध ज्ञान दोनों ही हैं। परन्तु जहाँ पर्वत में धूम के न होने और अनुमिति होने से पक्ष में हेतु का सम्बन्ध ज्ञान तो बनता नहीं, वरन् सेतु का असम्बन्धज्ञानाभाव तो सर्वत्र हो सकता है। इसलिए वह अभाव ही अनुमिति का कारण सिद्ध है।

अख्यातिवादी के मत में गलग्रह न्याय से जो अनुमिति रूप भ्रमज्ञान होता है,उसे बताते हैं-'जैसे कि अग्नि का व्याप्य धुंआ

है, वैसे ही इष्टसाधनता का व्याप्य रौप्यत्व है। इस प्रकार रौप्यत्व में इष्टसाधनता की व्याप्ति है। अभिप्राय यह कि जिसकी जिसमें व्याप्ति हो, उसका व्याप्य वही होता है तथा जिसकी व्याप्ति हो उसे व्यापक कहते हैं। इससे इष्टसाधनता व्यापक और रौप्यत्व व्याप्य होता है। अनुप्रमाण में लिखा होने के अनुसार व्याप्य को हेतु और व्यापक को साध्य मानना चाहिए। इस प्रकार चांदीत्व हेतु से इष्टसाधनता रूप साध्य की अनुमिति सभी मतों में निर्विवाद है।

परन्तु अन्य मतों के अनुसार व्याप्यरूप हेतु के सम्बन्ध का ज्ञान होने से व्यापकरूप साध्य की अनुमिति मानी गई है, जबकि अख्यातिवाद में, पक्ष से व्याप्यरूप हेतु के असम्बन्ध के ज्ञानाभाव से साध्य की अनुमिति होना सिद्ध है। अब अख्यातिवादी के मत में सीप देश में 'यह चाँदी है' ऐसा ज्ञान होने पर इद पदार्थ सीप में चाँदीत्व का ज्ञान न होते हुए भी चाँदीत्व के असम्बन्ध का भी ज्ञान नहीं होता। इसलिए सीप में रौप्यत्व के असम्बन्ध का ज्ञान न होने से इदंपदार्थ रूप पक्ष में रौप्यत्वरूप हेतु का असम्बन्ध ज्ञान न होने से और सामग्री के प्रभाव से इष्टसाधनतारूप साध्य की अनुमिति अनच्छा पूर्वक ही सिद्ध हो जाती है। तब सीप में उस इष्टसाधनता की अनुमिति उसलिए भ्रमरूप है कि सीप में इष्टसाधनता का ही अभाव है, जबकि इष्टसाधनता न होने पर इष्टसाधनता की अनुमिति का ज्ञान भ्रम रूप ही सिद्ध होगा। इस प्रकार अख्यातिवाद में भ्रमज्ञान की सिद्धि होती है।

अख्यातिवाद में अन्य दोष भी हैं—रंग और चाँदी पास-पास रखे हों और उनका ऐसा ज्ञान हो कि 'यह रंग चाँदी में है' तो यह ज्ञान अन्य मतों के अनुसार रंग के अंश में भ्रमरूप और

चांदी के अंश में प्रमा रूप है। क्योंकि यह ज्ञान रंग में और चांदी में रोप्यत्व धर्म को विषय करने वाला होने से रंग-रंग के अंश में भी भ्रमरूप रौप्यत्व विशिज्ञान ही है । परन्तु, अख्यातिवादि के मत में भ्रम ज्ञान का अभाव होने से उक्तज्ञान भी सभी अंशों में सत्य है। अख्यातिवाद में भेद की कल्पना अनुभव के विरुद्ध ही है, क्योंकि रंग और चांदी का 'यह चांदी है' ऐसा एकतारूप कथन ही होता है। परन्तु उसमें उक्त भेद कहने के ढग से तो विलक्षण कथन ही होना चाहिए। यदि रंग के अंश में रौप्यत्व का संबंध भेद कहें तो भ्रम के अस्वीकार से यह नहीं हो सकता। यदि रौप्यांश में भी रौप्यत्व के असम्बन्ध का आग्रह मानें तो ऐसा होने पर भी चाँदी में चाँदीत्व के असम्बन्ध का नहीं, वरन् सम्बन्ध का ही ग्रह है। इसलिए यहां चांदी के अंश में यद्यपि एक रूप कहना भी बन सकता है, तो भी प्रवृत्ति का विषय सामने होने पर संसर्गविशिष्ट होना पहले कहा है, उसे छोड़ना पड़ेगा क्योंकि असम्बन्ध के आग्रह से किसी प्रवृत्ति की संभावना नहीं है।

यदि यह कहें कि प्रवृत्ति के विषयरूप इष्ट पदार्थ के सामने होने और अनिष्ट पदार्थ के सामने न होने पर संसर्गविशिष्ट का ज्ञान होता है। जैसे कि केवल चाँदी का 'यह चांदी है'ऐसा संसर्गविशिष्ट ज्ञान होने पर भी यदि इष्ट चांदी और अनिष्ट रंग दोनों सामने हों तथा अनिष्ट का भी इष्ट जैसा इदमाकार ज्ञान हो तो इष्ट चांदी में भी रौप्यत्व विशिष्ट ज्ञान नहीं होता। ऐसा अंगीकार करने पर 'यह चांदी है' ऐसा समान कथन हो सकता है। यहाँ चांदी और रंग का इथमाकार सामान्य ज्ञान एवं रंग में रौप्यत्व असम्बन्ध होने पर भी दोष के कारण उस असम्बन्ध का ज्ञान न होने से रंग में चांदीत्व के असम्बन्ध का अभाव होता है, जबकि चांदी में चांदीत्व का असम्बन्ध हो ही

नहीं सकता। इसलिए असम्बन्ध का ज्ञान का अभाव और एक रस का कथन सम्भव होगा।

इस प्रकार कहने से तो चाँदी के अंश में भी व्यर्थ प्रवृत्ति होनी चाहिए। क्योंकि रौप्यांश में प्रवृत्ति का हेतु रौप्यत्वविशिष्ट का ज्ञान स्वीकार किया गया है। परन्तु रौप्यत्वविशिष्ट का ज्ञान स्वीकार करने पर एकरस नहीं कह सकते। किन्तु उक्त स्थल में प्रवृत्ति होने से रौप्यांश में रौप्यत्व विशिष्ट का ज्ञान होने पर भी एक रस का कथन न होना मानना होगा। फिर अख्यातिवाद में भ्रमज्ञान के न होने से प्रवृत्ति और इष्टपदार्थ के भेदज्ञान से प्रवृत्ति का होना व्यर्थ ही है, परन्तु विशिष्ट ज्ञान से सफल प्रवृत्ति होने के कारण रंग और चाँदी पुरोवर्त्ति हों तथा 'यह चाँदी है' ऐसा ज्ञान हो तो रंग-रौप्य ज्ञान इन्दरूप से समान है। परन्तु चाँदी के इदमंश में रौप्यत्वविशिष्ट ज्ञान है तथा रंग के इदमंश में रौप्यत्व विशिष्ट सम्बन्ध का आग्रह या चाँदी के भेद का आग्रह है। जहाँ रौप्यत्व का भेद हो, वहीं चांदी का भेद होने से रौप्यत्व के असम्बन्ध का आग्रह या चाँदी के भेद का आग्रह कहने में अर्थ का भेद नही होता। इस प्रकार अख्यातिवाद में 'यह चांदी है' इस स्थल में समान कथन संभव न होने से अख्यातिवाद समीचीन नहीं है।

प्रमात्व-अप्रमात्व का स्वरूप

इस प्रकार अनिर्वचनीय ख्याति ही दोष-रहित है। अख्यातिवादी ने निष्कम्प प्रवृत्ति का असंभव रूप दोष कहा है, उसके समाधान में अख्यातिवाद में भी उसी दोष की संभावना तो कही गई परन्तु निज मत में उद्धार नहीं किया, उसे करते हैं—

जिस पदार्थ का ज्ञान हो उस में यदि अप्रमात्व निर्णीत हो तब तो प्रवृत्ति का होना असभव ही है और प्रमात्व का सन्देह रहने पर सकल्प प्रवृत्ति तथा प्रमात्व का निश्चय होने पर निष्क-म्प प्रवृत्ति होने से यहाँ प्रमात्व-अप्रमात्व के स्वरूप,उनकी उत्पत्ति और उनके ज्ञान-प्रकार का प्रतिपादन करते हैं। प्रमात्व-अप्रमात्व का स्वरूप यह है कि स्मृति से भिन्न अबाधित अर्थगोचर ज्ञान तो प्रमा और उससे भिन्न ज्ञान अप्रमा है। ऐसा कहने से यह समझा जाता है कि स्मृति से भिन्न अबाधित अर्थगोचर ज्ञानका धर्म प्रमात्व और उससे भिन्न ज्ञान का धर्म अप्रमात्व है एवं स्मृति में पहले कभी परिभाषा के अनुसार प्रमात्व है ही नहीं। परन्तु स्मृति में भी प्रवृत्ति का उपयोगी प्रमात्व को तो मान्य है ही क्योंकि पुरुष की प्रवृत्ति तो स्मृतिज्ञान से भी होती है। इससे स्पष्ट है कि स्मृति में प्रवृत्ति का उपयोगी प्रमात्व होने से उसका स्वरूप अन्य प्रकार नहीं कह सकते।

सब शास्त्रों ने स्मृति से भिन्न अनुभव का, संस्कारजन्यज्ञान में स्मृति का, यथार्थ अनुभव में प्रमा का तथा अयथार्थ अनुभव में अप्रमा का व्यवहार किया है। इस प्रकार सफल ज्ञानों में ज्ञानत्व धर्म तो व्यापक और अनुभवत्व एवं स्मुतित्व व्याप्य है तथा दोनों ही पपस्पर विरोधी है। इसी प्रकार अनुभवत्व का व्याप्य प्रमात्व धर्म भी है, क्योंकि अनुभवत्व की विद्यमानता यथार्थ अयथार्थ दोनों अनुभवों में है। परन्तु प्रमात्व धर्म के यथार्थ अनुभव में ही रहने से अनुभवत्व का व्याप्य प्रमात्व ही है। वैसे ही यथार्थत्व के सत्य पदार्थ की स्मृति में रहने और प्रमात्व के स्मृति में न रहने से प्रमात्व यथार्थत्व का भी व्याप्य है। शास्त्रकारों की ऐसी परिभाषा के अनुसार प्रमा का लक्षण यह है कि स्मृति से भिन्न अबाधित अर्थगोचर ज्ञान ही प्रमा ही

है। परन्तु प्रमात्व के ज्ञान से पुरुष का निष्कम्प प्रवृत्ति होने वाला प्रमात्व स्मृति में भी अगीकार करना चाहिए इसलिए इस प्रसंग में यथार्थतारूप ही प्रमात्व है, यथार्थता का व्याप्य प्रमात्व नहीं हो सकता।

स्मृति में पूर्व कथित पारिभाषिक प्रमात्व न होकर यथार्थता होने से वह प्रमात्व यथार्थतारूप से भिन्न है और न्यूनदेश में विद्यमान होने से वह प्रमात्व यथार्थ का व्याप्य है। तो भी प्रवृत्ति का उपयोगी प्रमात्व विचार योग्य होने से यथार्थता से न्यून देशवर्ति नहीं, वरन् यथार्थता रूप होना ही संभव है, यदि स्मृति ज्ञान में प्रमा के व्यवहार से विरोध ही मानने हों तो प्रमात्व के ज्ञान से निष्कम्प प्रवृत्ति होने विषयक वचन को छोड़ कर यह कहना चाहिए कि यथार्थता के ज्ञान से निष्कम्प होती है इस प्रकार प्रमात्व शब्द का व्यवहार यथार्थता रूप धर्म प्रवृत्ति मे होना ही मान्य है।

बाह्य सामग्री से प्रमात्व-अप्रमात्व की उत्पत्ति

न्यायमतानुसार ज्ञानोत्पादक सामग्री मे न तो प्रमात्व उत्पन्न होता है और न ज्ञापक सामग्री मे प्रमात्व का ही ज्ञान होता है, किन्तु अन्य से प्रामण्य उत्पन्न होता है और उसका ज्ञान होता है। यह 'परतः प्रामाण्यवाद कहलाता है। इस प्रसंग में 'प्रमात्व' को प्रामाण्य और 'पर' को ज्ञान की सामग्री से भिन्न सामग्री कहना ही अर्थ होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रमात्व की सामग्री ज्ञान की सामग्री से भिन्न है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि ज्ञानोत्पत्ति की सामग्री से अधिक सामग्री द्वारा ही प्रमात्य उत्पन्न होता है क्योंकि अधिक सामग्री के न होने पर ज्ञान में प्रमात्व धर्म नहीं होता और न इससे

भ्रमज्ञान ही लुप्त होता है। और गुण-रहित इन्द्रिय या अनुमानादि से ज्ञान होने पर प्रमाज्ञान होता नहीं। प्रत्यक्ष प्रमा उत्पन्न होने में विषय के अधिक देश में इन्द्रिय-संयोग रूप गुण तथा अनुमिति प्रमा के उत्पन्न होने में साध्य के व्याप्य रूप हेतु का साध्यपक्ष में ज्ञान गुण होता है। परन्तु पक्ष में व्यभिचारी हेतु का ज्ञान होने पर अनुमिति ज्ञान की सामग्री हेतु का ज्ञान होते हुए भी व्याप्त हेतु का गुण ज्ञानरूप न होने से अनुमिति प्रमा नहीं बनती। इस प्रकार ज्ञान में विद्यमान प्रमात्व धर्म के उत्पन्न होने में ज्ञानोत्पादक सामग्री से भिन्न गुण की अपेक्षा के कारण परतः प्रामाण्य' उत्पन्न होता है।

प्रमात्व के समान ज्ञान में विद्यमान अप्रमात्व भी परतः उत्पन्न होता है, क्योंकि भ्रमज्ञान तो दोषजन्य है ही और क्योंकि प्रमाज्ञान निर्दोष है, इसलिए ज्ञान की सामग्री से दोष को बाह्य समझना चाहिए। उस दोष के अनन्त भेद हैं तथा उस दोष से अप्रमा के उत्पन्न होने के कारण परतः अप्रामाण्य उत्पन्न होता है। इस प्रकार प्रमात्व और अप्रमात्व दोनों की ही उत्पत्ति परतः मानी गई है।

स्वतः प्रामाण्यवाद में न्यायोक्त दोष

मीमांसा और सिद्धान्त दोनों मतों में स्वतःप्रामाण्यग्रह को माना है, जबकि न्याय और वैशेषिक मतों में परतः प्रामाण्यग्रह मान कर स्वतः प्रामाण्यग्रह में यह दोष बताया है। यह इस प्रकार कि एक पदार्थ का अनेक बार ज्ञान होकर प्रवृत्ति होने पर तो उस ज्ञान के प्रमात्व में संदेह नहीं बनता, क्योंकि बहुत बार प्रवृत्ति को सफल पाकर स्वतः ही प्रमात्व का निश्चय होजाता है। परन्तु स्वतः प्रामाण्यग्रह मानने पर पदार्थ के अपूर्ण ज्ञान में

प्रमात्व का जो संदेह है वह नहीं रहना चाहिए। क्योंकि प्रभाकर और अद्वैतमत में ज्ञान को स्वप्रकाश स्वीकार किया है, इस लिए उनके मत से ज्ञान सदा ही गृहीत होता है। उनके कथनानुसार गृहीत ज्ञान के साथ प्रमात्व भी गृहीत होता तो निर्णीत का और प्रमात्व का भी सन्देह नहीं रहना चाहिए। परन्तु संदेह रहता है इसलिए स्वतःप्रामाण्यवाद समीचीन नहीं।

प्रभाकर-मत में ज्ञान से त्रिपुटी-प्रकाश

प्रभाकर के मत ज्ञान से ही विषय का प्रकाश होता है, इसलिए विषय का प्रकाशक हेतु ज्ञान है। जैसे घट का ज्ञान होने पर घट का प्रकाश होता है, वैसे ही घट का ज्ञान अपने स्वरूप एवं अपने आश्रयभूत आत्मा का भी प्रकाशक है। इस प्रकार ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूप त्रिपुटी के प्रकाशक सर्व ज्ञान ही हैं। इस प्रकार प्रभाकर मतानुसार ज्ञान अपने स्वरूप और प्रमात्व दोनों को ही विषय करता है।

भट्ट-मत में प्रमात्व:ज्ञान

भट्ट का सिद्धान्त है कि घटादि के ज्ञान प्रत्यक्षरूप नहीं है। ज्ञान गुण के प्रत्यक्ष योग्य न होने से ज्ञान मानस-प्रत्यक्षरूप नहीं वरन् मिति रूप ही होना है। इन्द्रिय-विषय के संयोग से प्रत्यक्ष या अनुमिति ज्ञान के उत्पन्न होने पर उसे घटादि विषय में 'ज्ञातता' धर्म की उत्पत्ति होती है। इसीलिए ज्ञानान्तर में 'घट ज्ञान हुआ यह व्यवहार होता है। ज्ञातता पहले घट-इन्द्रिय संयोग होने पर 'यह घट है' ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, जो कि ज्ञाता में समवाय सम्बन्ध से और घट में विषयता सम्बन्ध से और विषयता सम्बन्ध से ज्ञान होने पर ही समवाय सम्बन्ध से

ज्ञातता की उत्पत्ति होती है' जिसका उपादान कारण घट और निमित्त कारण ज्ञान समझना चाहिए।

भट्ट-मत में उपादान से भिन्न एक निमित्त कारण ही माना है और समवायि-सम्बन्ध की तो कहीं परिभाषा ही नहीं की। इस प्रकार ज्ञानोत्पन्न ज्ञातता धर्म की घट में उत्पत्ति होती है। इससे बाह्य इन्द्रियों से ज्ञानजन्य ज्ञातता का तो प्रत्यक्ष है. पर, बाह्य इन्द्रिय से बाह्य पदार्थ के ज्ञान का प्रत्यक्ष किसी भी मत में नहीं है। केवल न्यायादि में ज्ञान का प्रत्यक्ष अंगीकार किया है, जिसे भट्ट ने अंगीकार नहीं किया, वरन् घटादि ज्ञानों का अनुमितिजन्य ज्ञान ही स्वीकार किया है।

न्याय और वैशेषिक का निर्णय

न्याय और वैशेषिक के कथनानुसार भट्टमत में मान्य ज्ञान-ग्राहक सामग्री को अनुमान ही मानें और उससे ज्ञान के प्रमात्व का ज्ञान भी मान लें तो ज्ञान की अनुमिति के अनन्तर प्रमात्व का सन्देहाभाव होना चाहिए। परन्तु यथार्थ में तो ज्ञान के सर्व ज्ञानों से प्रमात्व का निश्चय सम्भव नहीं, क्योंकि वैसा निश्चय तो सफल प्रवृत्ति के बाद ही हो सकता है। इसलिए ज्ञानोत्पत्ति से प्रमात्वोत्पत्ति नहीं, वरन् उससे अधिक सामग्री से ही प्रमात्व और उसके ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

प्रमात्व के समान ही अप्रमात्व की उत्पत्ति और उसका ज्ञान परतः ही होते हैं। यदि ज्ञानोत्पादक सामग्री से ही अप्रमात्व धर्म उत्पन्न होजाय तो सभी ज्ञान अप्रमा होजाने चाहिए। इसलिए ज्ञानोत्पादक सामग्री से ही प्रमात्व का उत्पन्न होना नहीं मान सकते। ज्ञान के उत्पन्न करने वाले इन्द्रिय-अनुमानादि

में किसी दोष का सहकार होने पर अप्रमात्वयुक्त ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

वे दोष बहुत प्रकार के हैं—प्रत्यक्ष भ्रम हो तब तो नेत्रादि गत प्रमाण दोष के सदृश्य विषयगत सादृश्य दोष हेतु बन जाता है। प्रत्यक्ष भ्रम में सादृश्य दोष का व्यभिचार होते हुए भी अधिकता से तो सादृश्य में ही भ्रम होने से अधिक स्थानों में भ्रम का हेतु सादृश्य दोष ही होता है।

परोक्ष भ्रम में सादृश्य की अपेक्षा न होने से विषय गत दोष का हेतु न होना अनुभव सिद्ध है। परन्तु परोक्ष रूप अनुमिति भ्रम का हेतु अनुमान दोष है। व्याप्य हेतु का ज्ञान अनुमान है और हेतु में प्रसिद्ध दोष अनुमिति भ्रम के ही हेतु होते हैं। यदि शाब्द भ्रम हो तो श्रोता में वाक्यतात्पर्यावधारण दोष, वक्ता में विप्रलम्भकता आदि दोष और शब्द में अन्यथाबोधकतादि दोष उसके हेतु होते हैं।

इस प्रसंग में प्रमात्व-अप्रमात्व का उत्पत्ति-कथन विरुद्ध लगता है, क्योंकि त्रिकालरूप सर्व प्रमाओं में प्रमात्व धर्म और सर्व अप्रमाओं में अप्रमात्व धर्म के एक ही होने से उनका उत्पन्न होना नहीं कह सकते। तो भी ज्ञान की उत्पत्ति अपने कारण से न होने पर कोइ ज्ञान प्रमा, कोइ ज्ञान अप्रमा होता है, उनमें भी प्रमात्व विशिष्ट ज्ञान प्रमा और अप्रमात्व विशिष्ट ज्ञान को अप्रमा समझना चाहिए इस प्रकार ज्ञानोत्पादक सामग्री के आश्रित ज्ञान में प्रमात्व-अप्रमात्व के विलक्षणता मान्य है।

यद्यपि प्रमात्व धर्म एक है और उसका सम्बन्ध सभी प्रमाओं से है तो भी उसका होना सामग्री के अधीन ही है। सिद्धान्त में प्रमात्व को साक्षीभास्य कहा होने से प्रमात्व ज्ञान का उत्पन्न होना भी कहें तो उससे साक्षी का उत्पन्न होना बनेगा

जो कि संभव नहीं। तो भी वृत्ति में आरूढ़ साक्षी प्रमात्व आदि और उनके ज्ञानों का प्रकाशक होने से वृत्ति भी ज्ञान है, जिसका उत्पन्न होना भी संभव है। इस प्रकार न्यायमत में परतः प्रमाण्यवाद मान्य है और स्वतः प्रमाण्यवाद में संशय 'की अनुपपत्ति मानी गई है'।

न्याय और वैशेषिक का खण्डन

इस विषय में न्याय और वैशेषिक मत समीचीन नहीं है। पहले तो यही कहना अयुक्त है कि 'अनुव्यवसाय से ज्ञान का प्रकाश होता है। क्योंकि ज्ञान का स्वभाव ही अप्रकाश नहीं है। यदि वैसा हो तो उसके सम्बन्ध से घटादि का प्रकाश भी असंभव होगा। जो पदार्थ स्वयं प्रकाश-रहित है वह किसी अन्य को कैसे प्रकाशित कर सकेगा ?

पूर्व नैयायिकों के अनुसार घटादि के प्रकाशार्थ ज्ञान को अपने प्रकाश की अपेक्षा नहीं है। जैसे घटादि न जानते हुए भी जल-धारण आदि स्वकार्य करने में समर्थ हैं, वैसे ही ज्ञान भी अज्ञात रूप से विषय प्रकाशरूप स्वकार्य किया करता है।

परन्तु उक्त कथन समीचीन नहीं। क्योंकि सर्व भौतिक ज्योति स्वयं प्रकाशरूप होकर ही दूसरे को प्रकाशित करती हैं। कभी किसी प्रकाशहीन ज्योति से किसी को प्रकाशित होता नहीं देखा जाता। इसलिए यही मानना ठीक है कि स्वप्रकाश से प्रकाशमान ज्ञान-सम्बन्ध ही घटादि का प्रकाश होता है। क्योंकि जब पुरुष को किसी अज्ञात पदार्थ का ज्ञान होता है, तब वह कहता है कि जानने योग्य जान लिया अब कुछ भी जानना शेष नहीं है। इस पर यदि कोई दूसरा पुरुष कहे कि 'यह जानना

अभी शेष है' इसे सुनकर वह हँसता है। इससे ज्ञान की स्वप्रकाशता सिद्ध होती है।

इसके अतिरिक्त 'घटज्ञान जाना या नहीं ? ऐसा कहने वाले को बुद्धिहीन ही कहते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान में अज्ञानता कभी नहीं होती, इसलिए यह कहना नितान्त निरर्थक है कि ज्ञान में ज्ञातता के अभाव ज्ञानगोचर अनुव्यवसाय है।' कभी किसी को यह सन्देह नहीं होता कि 'मुझे घट का ज्ञान हुआ अथवा नहीं हुआ।' यदि घटज्ञान अज्ञात रहता तो ऐसा सन्देह हो सकता था। इससे प्रकट है कि ज्ञान कभी अज्ञात नहीं होता, इसलिए 'ज्ञान का प्रकाश करने वाला अनुव्यवसाय ही है' यह कहना सम्भव नहीं।

यदि कहें कि ज्ञानगोचर ज्ञान के न होने पर 'यह घट है' और 'मैं घट को जानता हूँ' इन दोनों ज्ञानों में विलक्षणता नहीं भासनी चाहिए। क्योंकि न्यायमत में तो प्रथम ज्ञान का षिषय घट और द्वितीय ज्ञान का विषय घटज्ञान होने से विलक्षणता हो सक्ती है। परन्तु स्वप्रकाशज्ञानबादी के मत में ज्ञान का विषय ज्ञान न होने से और उक्त दोनों ज्ञानों का विषय एक ही घट होने तथा विषय के भेदाभाव से दोनों ज्ञानों में विलक्षणता नहीं भासनी चाहिए।

उक्त शङ्का भी ठीक नहीं, क्योंकि एक ही घट ज्ञान 'यह घट है' इस रूप में होता है और कभी 'घट अनित्य है' ऐसा ज्ञान होता है, तब यद्यपि विषय-भेद के बिना भी विलक्षण प्रतीति संभव है, यद्यपि प्रथम ज्ञान में घट की अनित्यता प्रतीति नहीं होती, द्वितीय ज्ञान में ही होती है। इसी प्रकार 'यह घट है' इस ज्ञान में घट की ज्ञातता नहीं, वरन् 'मैं घट को जानता हूँ' इसमें

घट की ज्ञातता प्रतीत होती है इस प्रकार दूसरे ज्ञान का विषय ही घट में विद्यमान ज्ञातता है। इसलिए घट ज्ञान के दूसरे ही क्षण 'मैं घट को जानता हूँ' ऐसा ज्ञान होता है और कभी 'घट ज्ञात है' यह प्रत्यक्ष होता है, इस प्रत्यक्ष का विषय घट की ज्ञातता ही है, यह अर्थ भट्ट मत के अनुसार मान्य है और अनुभवसिद्ध भी। क्योंकि जैसे 'घट अनित्य है' इस वाक्य से घट रूप अनित्य पदार्थ में अनित्यत्व विशेषण की प्रतीति सभी मानते है। वैसे ही 'घट ज्ञात है' इस वाक्य से घट रूप ज्ञात पदार्थ में ज्ञातत्व विशेषण की प्रतीति भी सभी के अनुभव में आई हुई है।

इस प्रकार 'घट ज्ञात है' इस ज्ञान के समय ही 'मैं घट को जानता हूँ' यह ज्ञान होने से, यहीं ज्ञान घट की ज्ञातता को विषय करता है, घट के ज्ञान को विषय नहीं करता, इस प्रकार यदि ज्ञानगोचर ज्ञान को न मानें तो भी 'यह घट है' और 'मैं घट को जानता हूँ' ऐसे विलक्षण ज्ञान हो सकते है। न्यायमतानुसार इसी प्रकार ज्ञान ही अनुव्यवसार ज्ञान का विषय होता है।

मुरारिमत-खण्डन

मुरारि मिश्र का मत भी इस प्रसंग में नैयायिकों के ही समान होने से असंगत है। यद्यपि इस मत में ज्ञान प्रकाशक अनुव्यवसाय से प्रमात्व का प्रकाश भी मानने से इतने अंश में विशेषता है, तो भी यह विशेषता न होने के समान ही है। क्योंकि ज्ञान को प्रकाशशून्य स्वभाव मानकर अनुव्यवसाय से उसका प्रकाश मानना सर्वथा असंगत ही है।

भट्ट-मत का खण्डन

भट्टमत में भी अनुमिति से ज्ञान का प्रकाश माना गया है वह भी परोक्षरूप होने से न्यायमत से भी अधिक अयुक्त है।

क्योंकि इसमें ज्ञान-प्रकाशक अनुमिति से प्रमात्व का प्रकाश होता है' यह अंश न्याय के अनुकूल और सिद्धान्त से विलक्षण है। किन्तु घटादि विषयों को प्रत्यक्ष करने वाले ज्ञान का अनुमिति से परोक्षरूप प्रकाश मानना सर्वथा असंगत है।

प्रभाकर-मत का खण्डन

प्रभाकर मत के यह अंश सिद्धान्तानुकूल है—(१) घटादि के ज्ञानों को स्वप्रकाश में अनुव्यवसाय की अपेक्षा नहीं है। (२) प्रमात्वग्रह के लिए ज्ञान ग्राहक सामग्री के अतिरिक्त अन्य की अपेक्षा नहीं है। (३) केवल विषय गोचर ज्ञान कोई नहीं एवं अप्रसिद्ध है और सर्व ज्ञान त्रिपुटी विषयक हीं हैं। (४) सर्व ज्ञान 'मैं घट को जानता हूँ' के समान त्रिपुटीगोचर है। 'यह घट है' इस ज्ञान में भी इन्द्रिय-घट संयोग से घट ज्ञान होने पर यह ज्ञान घट को, निज स्वरूप को और स्वाश्रय आत्मा को प्रकाशित करता है। ऐसे ही यह ज्ञान स्वधर्म प्रमात्व का भी प्रकाशक है। इस प्रकार घट ज्ञान को स्वप्रकाश में अन्य को अपेक्षा नहीं है।

उक्त अंशों में तो प्रभाकर मत सिद्धान्तानुकूल है, परन्तु प्रतिकूलता यही है कि इन्होंने ज्ञान त्रिपुटीगोचर होकर भी स्वप्रकाश भी स्वयं ही करना कहा है, जो कि संगत नहीं है। क्योंकि जो जिस एक क्रिया का कर्ता हो, वही उस क्रिया का कर्म कभी नहीं हो सकता। इसलिए स्वयं ही ज्ञानप्रकाश का कर्त्ता और स्वयं ही प्रकाश का कर्म बताना विरुद्ध ही है और सिद्धान्त में ज्ञान के प्रकाशरूप होने से उक्त विरोध बनता नहीं इस प्रकार ज्ञान को प्रकाश रूप न मानने वाले सभी मत असमीचीन समझने चाहिए।

संशयानुपपत्ति दोष का निराकरण

नैयायिकों का यह कथन कि ज्ञानग्रहकाल में प्रमात्वग्रह भी होने से संशयानुपपत्ति होती है असंगत है। क्योंकि दोषाभाव सहित ज्ञान सामग्री से प्रमात्वग्रह होता है। संशय होने पर दोषाभाव नहीं होता और दोष न हो तो संशय भी नहीं होता। क्योंकि संशयज्ञान भ्रम है और भ्रम की उत्पत्ति का हेतु दोष होने से संशय स्थान में दोषाभाव नही हो सकता। परन्तु प्रमात्व ज्ञान में हेतु दोषाभाव होने से संशयरूप दोष हो तो प्रमात्व ज्ञान की असंभावना से संशय भी नहीं रह सकता।

सिद्धान्त मत में स्वतः प्रामाण्य ग्रह का यह लक्षण बताया है कि साक्षी से वृत्तिरूप ज्ञान का प्रकाश होने के कारण ज्ञान-ग्राहक सामग्री ही साक्षी होता तथा उसी से वृत्तिज्ञान का प्रमात्वग्रह भी होता है। परन्तु इसमें यह आपत्ति है कि कहीं प्रमाही ज्ञान हो तो भी कोई विलक्षण दोष उपस्थित होजाय जिससे अनिर्वचनीय भ्रम तो उत्पन्न न हो और ज्ञान भी प्रमा ही रहे, तो भी उसमें साक्षी द्वारा होने वाला प्रमात्व का प्रकाश प्रति—बन्धक बन जाय तो वहाँ ज्ञानग्राहक सामग्री के साक्षी होते हुए भी प्रमात्व के अग्रहण से उक्त लक्षण की अव्याप्ति होती है। उस अव्याप्ति को दूर करने के लिए ज्ञानग्राहक दोषाभाव के सहित सामग्री से प्रमात्वग्रह को स्वतः प्रामाण्यग्रह बताना चाहिए। उक्त स्थान में ज्ञानग्राहक सामग्री से प्रमात्वग्रह न होने के कारण अव्याप्ति रहने पर भी दोषाभाव युक्त ज्ञान ग्राहक सामग्री से जो प्रमात्वग्रह होता है, वह स्वतः प्रामाण्यग्रह कहलाता है।

उक्त लक्षणानुसार आपत्ति स्थान में दोषयुक्त सामग्री के रहने से अव्याप्ति की शंका न रही, जिससे ज्ञान के प्रमात्व का प्रका-

शक दोषाभाव सहित साक्षी ही है,जबकि साक्षी से अपत्मात्वग्रह नहीं होता। क्योंकि भ्रम का लक्षण दोषजन्यता या निष्फल प्रवृत्तिजनकता अथवा विषमसत्ता वाले का अवभास अधिष्ठान से होता है। इस प्रकार दोष घटित, निष्फल प्रवृत्ति घटित और विषमसत्ता घटित जो लक्षण भ्रम के हैं, वे साक्षी के विषय नहीं हो सकते, अतएव इस अप्रमात्व में स्वतः प्रामाण्यग्रह के उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं बनती, वरन् नैयायिकों के समान अप्रमात्व ज्ञान का संभव तो निष्फल प्रवृत्ति होने पर ही है। यदि ज्ञान की सामान्यसामग्री से अप्रमात्व का भी उत्पन्न होना मानें तो यह आपत्ति हो सकती है कि सर्वज्ञान अप्रमा होने चाहिए। परन्तु अप्रमात्व के उत्पन्न होने में हेतु ज्ञानोत्पादक सामग्री सदोष मानी गई होने से इस आपत्ति का निराकरण होजाता है। अभिप्राय यह कि सदोष नेत्रानुमान द्वारा अप्रमा ज्ञान उत्पन्न होता है और अप्रमात्व विशिष्ट भ्रमज्ञान का उत्पन्न होना ही यहां अप्रमात्व का उत्पन्न होना कहा है और ग्रह प्रमात्वग्रह से भिन्न लक्षण वाला है। परन्तु प्रमात्व का उत्पन्न होना तो ज्ञान की सामान्य सामग्री से ही संभव है।

परतः प्रामाण्यवाद में दोष कथन

न्यायमत में प्रमात्व के उत्पन्न होने में ज्ञान सामग्री से भिन्न गुण को कारण रूप बताया है, जो कि अयुक्त है। क्योंकि प्रत्यक्ष स्थान में इन्द्रिय का अधिक अवयवों से संयोग ही गुण माना है, जो कि निरवयव रूपादि के प्रत्यक्ष में असंभव है। और अनुमिति में व्याप्य हेतु पक्ष में जो ज्ञान रूप गुण बताया है वह भी असंभव है। क्योंकि निरवयव रूपादि में अवयवाभाव से संयोग ही नहीं हो सकता और जब अग्नियुक्त पर्वत में धूल के कारण धुंए का भ्रम होकर अग्नि की अनुमिति हो, तब उक्त गुण के न

होने पर भी अग्नि की अनुमिति प्रमा होने से प्रमात्व के उत्पन्न होने में गुण-जनकता नहीं हो सकती, वरन् ज्ञान-सामग्री से ही प्रमात्व उत्पन्न होता है।

यदि यह कहें कि ज्ञान सामग्री से ही प्रमात्व की उत्पत्ति मानने से भ्रमस्थान में भी ज्ञान-सामग्री होती है, इसलिए प्रमा-ज्ञान ही होना चाहिए। इसका समाधान यह है कि दोष हो तो प्रमाज्ञान के न होने से प्रमात्व उत्पन्न होने में दोष प्रतिबन्धक होता और सर्व कार्यों की उत्पत्ति में हेतु प्रतिबन्ध का अभाव ही होता है। अतएव दोषाभावयुक्त ज्ञान-सामग्री से ही प्रमात्व का उत्पन्न होना संभव है। यहाँ प्रमात्व का उत्पन्न होना कहने से ज्ञान की उत्पत्ति का अभिप्राय है, इसलिए प्रमात्वधर्म का उत्पन्न होना कहना उचित ही है। इस प्रकार दोषाभावयुक्त ज्ञानोत्पादक नेत्रादि रूप सामग्री से प्रमाज्ञान उत्पन्न होने के कारण प्रमात्व की उत्पत्ति परतः नहीं वरन् स्वतः होती है

ज्ञान सामान्य की सामग्री इन्द्रिय-अनुमानादि है, और उसका कारण दोषाभाव नहीं है। परन्तु यहां प्रमात्वोत्पत्ति में दोषाभाव को भी कारण रूप कहा होने से प्रमात्वसामान्य सामग्री से अधिक कारणजन्य हो जाने के कारण परतःप्रामाण्य माना जा सकता है, तो भी यदि ज्ञान सामान्य की सामग्री से अधिक किसी भावरूप सामग्री की अपेक्षा मानें तो परतःप्रामाण्य की आपत्ति संभव है। परन्तु अभावरूप दोषाभाव की अपेक्षा से ही परतःप्रामाण्यग्रह सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार ज्ञान की सामग्री साक्षी है और क्योंकि ज्ञान सामान्य की सामग्री इन्द्रिय-अनुमानादि होने और दोष के उनके परे होने के कारण अप्रमात्व पर से ही उत्पन्न होता है तथा भ्रम के पश्चात् प्रवृत्ति होने पर फल का लाभ न हो तो अप्रमात्व का अनुमिति ज्ञान अनुमान से

ही होता है। क्योंकि अनुमान के ज्ञानग्राहक सामग्री साक्षी से भिन्न होने के कारण अप्रामाण्यग्रह भी पर से होता है। इस प्रकार ज्ञानोत्पत्तिकाल में ही साक्षी से ज्ञान के स्वरूप का भी प्रकाश होना सिद्ध है।

अख्यातिवादी का निराकरण

संशयज्ञान से निश्चयज्ञान का विरोध होने के कारण प्रमात्व का निश्चय होने पर प्रमात्व-संशय नष्ट होजाता है। इस प्रकार प्रमात्व-संशय से प्रमात्व-निश्चय का विरोधी होने और दोनों के एक स्थान में न रहने के कारण प्रमात्व निश्चय का भ्रमत्व संशय से विरोध नहीं बनता। अतएव प्रमात्व निश्चय के होते हुए भ्रमत्व संशय होने से निष्कम्प प्रवृत्ति नहीं रहेगी।

अख्यातिवाद का उक्त कथन ठीक नहीं। प्रमात्वनिश्चय प्रमात्व संशय का तो विरोधी है,परन्तु भ्रमत्व संशय का विरोधी नहीं है। क्योंकि समान विषय में संशय और निश्चय परस्पर विरोधी ही हैं, परन्तु यहाँ इन दोनों के विषय भिन्न-भिन्न होने अख्यातिवाद में कहा हुआ वाक्य युक्त भी है। तो भी जिस ज्ञान में प्रमात्व-निश्चय हो, उसमें न तो भ्रमत्व निश्चय होता है, न भ्रमत्व संशय ही। इसलिए प्रमात्वनिश्चय और भ्रमत्व संशय का विरोधी भी है।

यदि विचार पूर्वक देखे तो प्रमात्व संशय और भ्रमत्व संशय में अभेद ही है क्योंकि 'यह ज्ञान प्रमा है अथवा नहीं यह लक्षण प्रमात्व संशय का है इनमें विधि कोटि प्रमात्व और निषेध-कोटि भ्रमत्व है, क्योंकि ज्ञान में प्रमात्व के निषेध से भ्रमत्व ही शेष बचता है। इसी प्रकार 'यह ज्ञान भ्रम है या नहीं' भ्रमत्व संशय का लक्षण है। इसमें विधिकोटि भ्रमत्व और निषेध कोटि प्रमात्व

हैं, क्योंकि भ्रमत्व के विषेध से प्रमात्व ही शेष बचता है। इस प्रकार दोनों संशयों में भ्रमत्व-प्रमात्व के समान होने से प्रमात्व संशय और भ्रमत्व संशय का अभेद होता है, तो भी जिसमें विधिकोटि भ्रमत्व हो उसे भ्रमत्व संशय कहते हैं।

इस प्रकार प्रमात्वसंशय और भ्रमत्वसंशय के विषय की समानता से प्रमात्व निश्चय होने पर प्रमात्व संशय न रहने के समान ही भ्रमत्व संशय भी नहीं रहता। अतएव सिद्धान्त मत में भ्रमज्ञान की मान्यता पर भी निष्कम्प प्रवृत्ति हो सकती है। अनिर्वचनीय का निश्चय ही भ्रम-निश्चय कहलाता है।

भ्रान्तिज्ञान की त्रिविधता

इस प्रकार संशय-निश्चय भेद से भ्रमज्ञान के दो प्रकार हैं। तर्कज्ञान भी भ्रमनिश्चय के ही अन्तर्गत है, क्योंकि व्याप्य का आरोप से ही व्यापक का आरोप तर्क कहलाता है। जैसे 'अग्नि न हो तो धूम भी नहीं होता' यह ज्ञान धूम-अग्नियुक्त देश में तो वही तर्क है। यहाँ अग्नि का अभाव व्याप्य और धूम का अभाव व्यापक है, क्योंकि अग्नि के अभाव के आरोप से धूमाभाव का आरोप होता और अग्नि-धूम के होते हुए अग्नि के अभाव और धूम के अभाव का ज्ञान होने से भ्रम है। बाध होते हुए जो भ्रम हो वह आरोप कहलाता है। यहाँ धूम-अग्नि का सद्भाव होने से उनके अभाव का बाध और पुरुष की इच्छा से अग्नि का अभाव तथा धूमाभाव का भ्रम होने से उसे आरोप कहते हैं इस प्रकार आरोप रूप तर्क भी भ्रम से पृथक् नहीं, वरन् उसी के अन्तर्गत है। इस प्रकार यहाँ वृत्ति के प्रसिद्ध भेद कहे गए और अवान्तर भेद अनन्त हैं।

॥ सप्तम प्रकाश समाप्त ॥

अष्टम प्रकाश

कल्पितनिवृत्तिस्वरूप निरूपण

वृत्ति-प्रयोजन कथन की प्रतिज्ञा

सप्तम प्रकाश में वृत्ति का स्वरूप कहा, अब वृत्ति का प्रयोजन कथनार्थं अष्ठम प्रकाश प्रारम्भ करते है। वृत्ति का मुख्य प्रयोजन अज्ञान का निवारण है। वहाँ अनात्माकार घटादि वृत्ति से घटादि-अवच्छिन्न चेतनवर्ति अज्ञान निवृत्त होता और अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति से निरवच्छिन्न चेतनवर्ति अज्ञान नष्ट होता है।

अज्ञान-का आश्रय और विषय

वाचस्पति के मत में वृत्ति से नाशवान अज्ञान का आश्रय जीव और विषय ब्रह्म है। परन्तु विवरणकार आदि के मत में अज्ञान का आश्रय और विषय शुद्ध चेतन ही समझना चाहिए। जैसे ज्ञानकृत घटादि के प्रकाश को ज्ञान की विषयता कहते हैं, वैसे ही अज्ञान कृत स्वरूप का आच्छादन अज्ञान की विषयता कहलाती है। क्योंकि जीव-भाव और ईश-भाव दोनों ही अज्ञान के आधीन होने से अज्ञान कृत जीव अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता। पहले इस अर्थ के ज्ञान में उपयोगी जीव-ईश्वर के रूप का निरूपण करेगें।

अज्ञान-निरूपण

जीव-ईश्वर स्वरूप के निरूपण में उपयोगी अज्ञान के विषय में पहले कहते हैं। अज्ञान, अविद्या, प्रकृति, माया, शक्ति और

प्रधान सब एक दूसरे के पर्याय हैं। इनमें जो माया है, उसका अविद्या से भेद एकदेशीवाद हैं, यथार्थ नहीं। नैयायिक आदि ज्ञानाभाव का अज्ञान कहते है, जबकि सिद्धान्तानुसार आवरण-विक्षेपशक्ति से युक्त अनादि और भावरूप पदार्थ को अज्ञान कहते हैं। वही विद्या से नाश्य होने के कारण प्रपंच का उपा—दान अविद्या है तथा प्रकृति और प्रधान दुर्घट भी सम्पादिका होने के कारण माया और स्वतंत्रता के न होने से 'शक्ति' कही जाती है।

अज्ञान के अनादि और भावरूप होने में शंका

यद्यपि अज्ञान को अनादि और भावरूप कहना असंगत है, क्योंकि अद्वैत ग्रन्थों के अनुसार अज्ञान का चेतन से भिन्न या अभिन्न होना, दोनों ही पक्ष एक साथ असंभव हैं और भिन्नत्व का परस्पर विरोध होने से अज्ञान चेतन से भिन्न और अभिन्न भी है, यह कहना नहीं बनता। इसी प्रकार अद्वैत प्रतिपादक श्रुति से विरोध होने के कारण अज्ञान को सत्स्वरूप भी अयुक्त है और प्रपंच का कारण होने से इसे तुच्छ स्वरूप या असत्स्वरूप भी नहीं कह सकते। क्योंकि एक ही अधिकरण में दो परस्पर विरोधी धर्मों का रहना संभव न होने से यदि उसे सत्-असत् दोनों रूप कहें तो यह भी नहीं हो सकता। वैसे ही यदि अज्ञान को अवयव सहित मानें तो न्यायानुसार तो द्रव्य का आरम्भक उपादान अवयव कहलाता है और सांख्यानुसार द्रव्य में परि—णामी उपादान अवयव कहा जाता है। यदि केवल उपादान को ही अवयव कहें तो शब्द के उपादान आकाश को भी अवयव अंगीकार करना होगा। वैसे ही स्वगुण-क्रिया के उपादान घटादि भी गुणों और क्रियाओं के अवयव होजांयगे। इसलिए

द्रव्य का उपादान कारण ही अवयव कहलाता है, अन्य का उपादान कारण नहीं। जो अवयवजन्य हो उसे सावयव कहते है। अब यदि अज्ञान को द्रव्य मानें तब तो उसमें सावयवता हो सकती है, परन्तु अज्ञान में द्रव्य और द्रव्यत्व नहीं होते, क्योंकि द्रव्य तो नित्य और अनित्य दो प्रकार का होता है। यदि अज्ञान का नित्य द्रव्यरूप मानें तो उसे सावयव नहीं कह सकते और तब ज्ञान से उसका नाश भी नहीं होना चाहिए उसे अनित्य द्रव्यरूप कहें तो आत्मा से भिन्न होने के कारण उसका अवयव भी अनित्य होगा और तब अनवस्था उपस्थित होगी और यदि अन्त्य अवयव को परमाण या प्रधान के समान नित्य मानें तो अद्वैत—प्रतिपादन करने वाली श्रुति से विरोध होगा, क्योंकि नैयायिकों के अनुसार नित्य परमाणु एवं सांख्य वालों के अनुसार नित्य प्रधान का मानना श्रुति-सम्मत नहीं है। इस प्रकार द्रव्यत्व के न होने से अज्ञान में सावयवता नहीं बनती और यह कहना भी कि 'प्रपंच की उपादानता होने से अज्ञान निरवयव है' ठीक नहीं, क्योंकि उपादान तो सावयव होता है। यद्यपि नैयायिकों ने शब्द के उपादान आकाश को अवयव-रहित माना है, तो भी 'उस या इस आत्मा से आकाश की उत्पत्ति हुई' कहने वाली श्रुति से विरुद्ध ही है, क्योंकि जो वस्तु उत्पन्न होती है वह सावयव हीं होगी, निरवयव नहीं। इसी प्रकार नैयायिकों ने यद्यपि द्व्यणुक के उपादान परमाणु को भी निरवयव कहा है, परन्तु निरवयव परमाणु का संयोगाभाव और द्वयणुकादि से उत्पन्न न होने के दोषों से सूत्रकार ने शारीरक शास्त्र के दूसरे पाद में परमाणु की निरवयवता नही मानी है। इसलिए प्रपंच का उपादान कारण भी निरवयव नहीं कहा जा सकता। अज्ञान में प्रपंच की उपादानता इस श्रुति वचन से कि 'मायां तु प्रकृति विद्यात' अर्थात् 'माया को प्रकृति जाने' प्रसिद्ध ही है,

क्योंकि माया और अज्ञान में अभेद है। इस रीति से अज्ञान में न तो सावयवता सम्भव है और न निरवयवता ही। वैसे ही परस्पर विरुद्ध दो.रूपता भी असम्भव है।

इस प्रकार किसी भी धर्म से अज्ञान का निरूपण न हो सकने से अनेक ग्रन्थ से उसे अनिर्वचनीय कहते हैं। अतएव ऐसे अनिर्वचनीय अज्ञान को अनादि या भावरूप किसी प्रकार भी नहीं कह सकते, क्योंकि भावरूपता कहें तो मद्रूपता भी माननी होगी जिसका निषेध किया गया है।

अज्ञान के भावरूप होने में शंका का समाधान

ऐसा होने पर भी अज्ञान के सद्विलक्षण होने के समान ही सद्विलक्षण होने से अज्ञान में अबाध्यत्व रूप नहीं, वरन् तुच्छरूप असत् से विलक्षणता युक्त सत्व ही माना है और इसीलिए इसे सत्-असत् दोनों से विलक्षण अनिर्वचनीय बताया गया है, सर्वथा वचन-अगोचर को ही अनिर्वचनीय नहीं कहते, वरन् अनिर्वचनीय शब्द का पारभाषिक अर्थ है पारमार्थिक सत्स्वरूप ब्रह्म से विलक्षण और सत्ता स्फूर्ति से रहित शशश्रृंगादि असत् से भी विलक्षण होना। इसलिए इसे अनादि और भावरूप कह सकते हैं परन्तु न्याय ने अज्ञान को ज्ञानाभाव निषेध मुख प्रतीति का जैसा विषय स्वीकार किया है, वैसा अर्थ अद्वैत ग्रन्थों में नहीं किया गया परन्तु रस्सी में सर्पादि ज्ञानबाध्य विधिमुख प्रतीति का विषय होने के समान सिद्धान्त में अज्ञान के ज्ञान से वर्तन के अयोग्य विधिमुख प्रतीति का विषय बनता। परन्तु यह कह चुके हैं कि अज्ञान शब्द में निषेध नहीं, वरन् अकार का विरोधी अर्थ है। इसलिए अज्ञान में भावरूपता नही कह सकते। साथ ही प्राचीन आचार्य विवरणकार आदि ने प्रकाश-विरुद्ध अन्धकार

को भावरूप बता कर ज्ञान के विरोधी अज्ञान को भी भावरूप प्रतिपादन किया होने से अल्पश्रुत उत्कर्ण होते है।

इस प्रकार अज्ञान भावरूप, अनुत्पन्न होने से अनादि और अन्धकार के समान सांश है, घट के समान अवयव समवेत रूप सावयव नहीं है।

जीव-ईश्वर स्वरूप में अनेक पक्ष

शुद्ध चेतन के आश्रित मूल प्रकृति में जो चेतन है, उसका प्रतिविम्ब ईश्वर है और आवरण शक्ति विशिष्ट मूल प्रकृति के अंश अविद्या कहलाते हैं। उस अविद्यारूप अनन्त अंशों में जो चेतन के अनन्त प्रतिबिम्ब हैं, उन्हें अनन्त जीव कहते हैं। जीव-ईश्वर स्वरूप के विषय में अनेक पक्ष हैं, परन्तु तत्वविवेक आदि ग्रन्थों में इस प्रकार निरूपण हुआ है—

(१) जगत् को मूलभूत प्रकृति के दो रूपों की कल्पना हुई है, क्योंकि यह श्रुति मिलती है कि 'माया चाविद्या च स्वयमेव भवति' अर्थात् 'वह मूल प्रकृति स्वयं ही माया और स्वयं ही अविद्या है।' इनमें शुद्ध सत्वप्रधान माया और मालिन सत्वप्रधान अविद्या है। रजोगुण और तमोगुण से अभिभूत सत्व ही मलिन सत्व तथा जिससे रजोगण और तमोगुण अभिभूत होते हों वह शुद्ध सत्व कहलाता है। जो तिरस्कृत हो उसे अभिभूत कहते हैं। उस रूपवती माया में जो प्रतिबिम्ब है, वह ईश्वर और जो अविद्या में प्रतिबिम्ब हो वह जीव कहा जाता है। ईश्वर की उपाधि माया के शुद्ध सत्व प्रधान होने से ईश्वर सर्वज्ञ और जीव अल्पज्ञ होता है।

(२) किसी ग्रन्थकार का यह भी कहना है कि उक्त श्रुति में प्रकृति के दो रूप कहने सेयह हेतु है कि वह विक्षेप-शक्ति की प्रधा

नता होने पर माया और आवरण शक्ति की प्रधानता होने पर अविद्या कही गई है। क्योंकि ईश्वर की उपाधि माया के आवरण शक्ति-रहित होने से माया में प्रतिबिम्ब ईश्वर को अज्ञ नहीं वरन् आवरण-शक्ति वाली अविद्या में प्रतिबिम्ब जीव को ही अज्ञसमझना चाहिए

(३) संक्षेप शारीरक के कथनानुसार श्रुति ने ईश्वर की उपाधि को कारणरूप और जीव की उपाधि को कार्यरूप कहा हैं इसलिए ईश्वर तो माया में प्रतिबिम्ब और जीव अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब है । इस प्रसंग में प्रतिबिम्ब को ईश्वर कहें चाहें जीव, किन्तु केवल प्रतिबिम्ब में ही जीवत्व या ईश्वरत्व नहीं, वरन् प्रतिबिम्बत्व विशिष्ट चेतन में ही जीवत्व या ईश्वरत्व समझना चाहिए। क्योंकि केवल प्रतिबिम्ब में ही जीवत्व या ईश्वरत्व होता हो तो जीववाचक और ईश्वर वाचक पद में भागत्याग लक्षणा नहीं हो सकती ।

(४) यथार्थ में तो यह परमार्थ है कि पूर्वोक्त सर्व पक्षों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब का भेद नहीं होता । इस वाद में प्रतिबिम्ब मिथ्या नहीं, वरन् जैसे गर्दन में स्थित मुख में प्रतिबिम्ब की प्रतीति भ्रमरूप होती है, इसलिए प्रतिबिम्ब धर्म मिथ्या होते हुए भी स्वरूप से प्रतिबिम्ब मिथ्या नहीं हो सकता ।

मुक्त जीवों का शुद्ध ब्रह्म से अभेद

उक्त चारों पक्षों में जीव-ईश्वर दोनों को ही प्रतिबिम्ब मानने से मुक्त जीवों का प्राप्य ईश्वर नहीं, शुद्ध ब्रह्म है । क्योंकि एक उपाधि का विनाश होने पर उस उपाधि के प्रतिबिम्ब का अपर प्रतिबिम्ब से भेद होना और अपने बिम्ब से अभेद

होता है। यहाँ ईश्वर के भी प्रतिबिम्ब होने से जीवरूप प्रति—बिम्ब की उपाधि नष्ट होने पर उसका अभेद ईश्वररूपप्रतिबिम्ब से अभेद नहीं हो सकता, वरन् बिम्बभूत शुद्ध ब्रह्म से ही हो सकता।

त्रिविध चेतन की मान्यता

इस प्रकार उक्त चारों पक्षों में जीव, ईश्वर और शुद्ध ब्रह्म के भेद से तीन प्रकार का चेतन माना है और वार्तिक में यह छः पदार्थ माने गए है (१) शुद्ध चेतन, (२) ईश्वरचेतन (३) जीवचेतन, (४) अविद्या, (५) अविद्या चेतन का परस्पर सम्बन्ध, तथा (६) उक्त पाँचों का परस्पर में भेद। यह छओं उत्पत्ति रहित होने से अनादि कहे हैं, परन्तु इनमें चेतन के तो तीन भेद ही माने हैं।

चित्रदीप में चेतन के चार भेद

परन्तु विद्यारण्य स्वामी ने चित्रदीप में चेतन के चार भेद बताये हैं। जैसेकि आकाश के चार भेद कर सकते है—(१)घटाकाश (२) महाकाश, (३) जलाकाश, और (४) मेघाकाश। इसी प्रकार चेतन के भी चार भेदमान सकते हैं—(१) कूटस्थ (२) ब्रह्म, (३) जीव, और (४) ईश्वर। इनमें स्थूल-सूक्ष्म रूप शरीर का अधिष्ठान चेतन कूटस्थ, निरवच्छिन्न चेतन ब्रह्म देहरूप घट में स्थित बुद्धिरूप जल में चेतन का प्रतिबिम्ब जीव तथा मायारूप मेघस्थ जलकण के समान बुद्धि-वासनाओं मेंचेतन का प्रतिबिम्ब ईश्वर कहलाता है। सुषुप्ति में बुद्धि की सूक्ष्म अवस्था वासना कही जाती है। यदि बुद्धि-वासनाओं में ही चेतन के प्रतिबिम्ब को ईश्वर कहें तो बुद्धि-वासनाएं अनन्त हैं, इस-

लिए ईश्वर भी अनन्त होने चाहिए। परन्तु वैसा न होने से बुद्धि वासना विशिष्ट अज्ञान में चेतन का प्रतिबिम्ब ईश्वर कहलाता है। विज्ञानमय कोश को जीव कहते हैं और आनन्दमय कोश ही ईश्वर है। इस प्रकार चित्रदीप के अनुसार चेतन के चार भेद होते हैं।

बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद व आभासवाद

विद्यारण्य स्वामी के मत में प्रतिबिम्ब मिथ्या और पूर्वोक्त पक्षों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब के अभेद से सत्य है। विद्यारण्य के मत से मुखरूप बिम्ब के सन्निधान से दर्पण आदि में अनिर्वचनीय प्रतिबिम्ब उत्पन्न होता है। इसलिए जीव-ईश्वर के स्वरूपों का मिथ्यात्व सिद्ध है।

जीव-ब्रह्म-अभेद बोधक वाक्यों में बाधसमानाधिकरण

जीव-ब्रह्म का अभेद प्रतिपादन करने वाले वाक्यों में अभेद समानाधिकरण्य नहीं, वरन् बाधसमानाधिकरण्य होता है। जैसे स्थाणु में पुरुष भ्रम होने के पश्चात् स्थाणु का ज्ञान होजाय तब 'यह पुरुष स्थाणु है' ऐसा स्थाणु-पुरुष-अभेद कहने पर 'स्थाणु 'स्थाणु पुरुषाभाव वाला है' यह 'पुरुषाभाव स्थाणु है' इस प्रकार से बाध होता है। जिस मत में अभाव को अधिकरण से पृथक् अंगीकार किया है, उसमें 'स्थाणु पुरुषाभाव वाला है' ऐसा बाध और जिस मत में कल्पिताभाव अधिष्ठानरूप माना है, उसमें 'पुरुषाभाव स्थाणु है, ऐसा बाध होता है। इसी प्रकार 'जीव ब्रह्म है' इसका अर्थ है कि 'ब्रह्म जीव के अभाववाला है' अथवा यह अर्थ है कि 'ब्रह्म जीव का अभाव है। जो अभाव तीनों काल में हो वह बाध कहलाता है।

इस प्रकार कल्पित का सत्य अधिष्ठान से अभेद कहें तो अभेद समानाधिकरण्य विवक्षित नहीं होता, वरन् बाधसमानाधिकरण्य ही होता है ।

कूटस्थ-ब्रह्म के अभेद में अभेद समानाधिकरण्य

ब्रह्म से कूटस्थ का अभेद कहें तो अभेद समानाधिकरण्य ही विवक्षित होता है । जैसे कि महाकाश से जलाकाश का अभेद कहने में जल के बाध से हीं महाकाश से जलाकाश काबाध-समा धिकरण्य होता है और महाकाश से घटाकाश का अभेद कहें तो अभेद समानाधिकरण्य हीं संभव है और यही मुख्यसमा नाधिकरण्य भी है । इस प्रकार विद्यारण्य ने जीव का ब्रह्म से बाधसमानाधिकरण्य ही कहा है ।

विवरणकार के वाक्य से अविरोध

विवरणकार ने 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' इस वाक्य में 'अहं' शब्द से जीव का ब्रह्म से मुख्य समानाधिकरण्य कहा है और सर्व महावाक्यों में बाध समानाधिकरण्य को अनंगीकार किया है । विद्यारण्य ने विवरणकार के वाक्यों से संगति करते हुए यह समाधान किया है कि बुद्धिस्थ चिदाभास और कूटस्थका अन्योऽन्याध्यास होता है, क्योंकि चिदाभासविशिष्ट बुद्धि का अधि ष्ठान कूटस्थ है तथा अधिष्ठान-अध्यस्त का अन्योऽन्याध्यास स्वा-भाविक ही है । वहाँ अहं प्रतीति का विषय चिदाभास विशिष्ट बुद्धि तथा स्वयं प्रतीति का विषय कूटस्थ होता है । मैं स्वयं जानता हूँ' या 'तू स्वयं जानता है' अथवा 'वह स्वयं जानता है' इन सर्व प्रतीतियों में 'स्वयं' शब्द का अथ अनुगत और मैं—तू आदि शब्दों का अर्थ व्यभिचारी है । इनमें स्वयं शब्द का अर्थ

कूटस्थ अनुगत होने से अधिष्ठान है, जबकि 'मैं-तू' आदि का अर्थ चिदाभास विशिष्ट बुद्धिरूप जीव व्यभिचारी होने के कारण अध्यस्त है। इससे कूटस्थ में जीव का स्वरूपाध्यास और जीव में कूटस्थ का सम्बन्धाध्यास बनता है, जिससे अन्योऽन्याध्यास होने के कारण कूटस्थ और जीव परस्पर में नहीं जान पाते। इसीलिए ब्रह्म से कूटस्थ के मुख्य समानाधिकरण्य का व्यवहार जीव के प्रति करते हैं। क्योंकि जब तक जीव में कूटस्थ के धर्मों का आरोप न किया जाय तब मिथ्या जीव का सत्य ब्रह्म समानाधिकरण्य असंभव है। इसलिए स्वाश्रय अन्तःकरण के अधिष्ठान कूटस्थ के धर्म की विवक्षा के कारण ब्रह्म से जीव का मुख्य समानाधिकरण्य बताया है।

इस प्रकार विद्यारण्य ने चित्रदीप में विवरणकार के वचनों से अविरोध प्रकट किया है।

विवरणोक्त जीव-ब्रह्म का मुख्य समानाधिकरय

यदि विवरणग्रन्थ के आरम्भ और अन्त पर विचार करें तो विद्यारण्य स्वामी द्वारा उपर्युक्त अविरोध का प्रकार बन नहीं सकता, क्योंकि विवरणकार ने प्रतिबिम्बको बिम्ब का ही स्वरूप माना है। इसलिए प्रतिबिम्बत्वरूप जीवत्व के मिथ्या होते हुए भी प्रतिबिम्ब रूप जीव का स्वरूप मिथ्या न होने से जीव का ब्रह्म से मुख्य समानाधिकरण्य हो सकता है, क्योंकि प्रतिबिम्ब रूप जीव का स्वरूप सत्य है। परन्तु विद्यारण्य ने विवरण ग्रन्थ के प्रति अपना समन्वय जो अभिप्राय कहा है वह प्रौढिवाद है। विद्यारण्य का मत है कि 'प्रतिबिम्ब के मिथ्या मानने में भी जीव में कूटस्थता की विवक्ष से महावाक्यों में विवरण में कहा मुख्य समानाधिकरण्य होता है और वैसा हो तो मुख्यसमानाधिकरण्य के लिये ही प्रतिबिम्ब को सत्य मानना

व्यर्थ है।' इस प्रकार के प्रौढिवाद से ही विद्यारण्य स्वामी ने विवरणग्रन्थ अपना जो अभिप्राय व्यक्त किया है, वह ठीक नहीं, क्योंकि विवरणग्रन्थ का यह अभिप्राय है ही नहीं। 'प्रौढि' का अर्थ 'उत्कर्ष से' और 'वाद' का अर्थ 'कथन' इस प्रकार जो उत्कर्ष ने कहा जाय वह प्रौढ़िवाद कहा जाता है। तात्पर्य यह कि प्रतिबम्ब को असत्य मान कर भी म ावाक्यों में मुख्य-समानाधिकरण्य का प्रतिपादन हो सकता है, इस रूप में उन्होने उत्कर्ष व्यक्त किया है।

चेतन के चार भेदों का तात्पर्य

इस प्रकार विधारण्य के कथनानुसार अन्तःकरण में आभास जीव विज्ञानमय कोश स्वरूप और बुद्धि-वासना विशिष्ट अज्ञान में आभास ईश्वर आनन्दमय कोश स्वरूप है। परन्तु कूटस्थ और जीव का अन्योऽन्याध्यास हैं तथा ब्रह्म और ईश्वर का भी अन्योऽन्याध्यास होने से जीव में कूटस्थ धर्मों का आरोप करके कहीं तो पारमार्थिक ब्रह्मरूपता कही है और कहीं अध्यासिक ब्रह्मत्व की विवक्षा से ईश्वर में वेदान्त वेद्यत्वादि धर्म बताए हैं। इस प्रकार चित्रदीप में चेतन के चार भेदों की प्रक्रिया का वर्णन हुआ है।

प्रतिबिम्ब की ईश्वरता का खण्डन

परन्तु स्वामी विद्यारण्य के उक्त कथनानुसार बुद्धिवासना में प्रतिबिम्ब को अथवा आनन्दमय कोश को ईश्वरता नहीं कह सकते। बुद्धिवासना विशिष्ट अज्ञान में प्रतिबिम्ब को ईश्वर मानने वालों से यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या केवल अज्ञान ही ईश्वरभाव की उपाधि है? या वासनायुक्त अज्ञान अथवा केवल

वासना ही है। यदि प्रथम पक्ष मानें तब तो बुद्धिवासना विशिष्ट अज्ञान में प्रतिबिम्ब के प्रति ईश्वरता की मान्यता से विरोध होगा। यदि दूसरी पक्ष मानें तो यथार्थ में केवल अज्ञान को ही ईश्वरभाव को उपाधि मानना होगा, जोकि व्यर्थ है। यदि विद्यारण्य का कोई अनुयायी यह कहे कि 'केवल अज्ञान को ही ईश्वरभाव को उपाधि मानें तो ईश्वर में सर्वज्ञता असिद्ध होने के सर्वज्ञान के लाभार्थ बुद्धिवासना भी अज्ञान का विशेषण मानी है' यह कहना भी अयुक्त है। क्योंकि अज्ञान में स्थित सत्त्वांश की सर्वगोचर वृत्ति से ही सर्वज्ञता का लाभ हो सकता है, तब बुद्धिवासना को अज्ञान का विशेषण मानना ही व्यर्थ है, वरन् यह कहना उचित है कि अज्ञान में स्थित सत्त्वांश की वृत्ति से ही सर्वज्ञता हो सकता है, परन्तु बुद्धिवासना से सर्वज्ञता नहीं बन सकती। क्योंकि प्रत्येक बुद्धिवासना को निखिलपदार्थ गोचरता संभव न होने से सर्वज्ञता के लाभार्थ सर्व वासनाओं को ही अज्ञान का विशेषण अंगीकार करना होगा और प्रलयकाल के बिना अन्य किसी एक काल में सर्व वासनाओं का सद्भाव न हो सकने से सर्वज्ञता की सिद्धि वासनाओं से असम्भव है। इस प्रकार दूसरी बात भी असम्भव है।

यदि तीसरा पक्ष मानें तो यह पूछना होगा कि प्रत्येक वासना में प्रत्येक प्रतिबिम्ब ईश्वर है अथवा सर्व वासनाओं में एक ही प्रतिबिम्ब? इन दोनों में से प्रथम पक्ष कहें तो जीव की बुद्धि-वासना के अनन्त होने से उनमें प्रतिबिम्ब रूप ईश्वर भी अनन्त हो जांयगे और प्रत्येक वासना अल्पगोचर होने से उनमें जो प्रतिबिम्बरूप अनन्त ईश्वर होंगे, वे अल्पज्ञ ही होंगे। और यदि दूसरा पक्ष लें तो प्रलय के बिना सब वासनाओं का युगपत् होना संभव नहीं और अनेक उपाधियों में प्रतिबिम्ब भी अनेक हो

सकने से सभी वासनाओं में एक प्रतिबिम्ब का होना भी असंभव है।

इस प्रकार ईश्वर भाव की उपाधि केवल अज्ञान हो सकता है, इसलिए चित्रदीप में विद्यारण्य ने वासना का निष्फल अनुसरण किया है।

आनन्दमयकोश की ईश्वरता की असंभावना

इसी प्रकार आनन्दमयकोश को भी ईश्वरता नहीं कह सकते, क्योंकि जाग्रत्-स्वप्न में प्रतिबिम्बयुक्त स्थूल-सूक्ष्म अवस्था विशिष्ट अन्तःकरण विज्ञानमय कहलाता है और वह विज्ञानमय जीव ही सुषुप्ति में कारणरूप से लीन होकर आनन्दमय कहा जाता है। यदि उसी को ईश्वर मान लें तो अन्तःकरण की विलीनावस्था वाले आनन्दमय का यदि जाग्रत्-स्वप्न में अभाव हो जाय तो ईश्वर का अभाव भी होजाना चाहिए और तब अनन्त जीवों की अनन्त सुषुप्तियों में ईश्वर भी अनन्त ही होंगे।

सभी ग्रन्थकारों ने जीव के पंचकोश माने हैं और पंचकोश के विवेक में स्वयं विद्यारण्य ने भी जीव के पंचकोश अंगीकार किये हैं। तब भी यदि आनन्दमय को ही ईश्वर मान लें तो वे सर्व कथन अयुक्त होंगे। अतएव आन्दमयकोश में ईश्वरता असंभव है।

आनन्दमय की सर्वज्ञता का तात्पर्य

माण्डूक्योपनिषद् में यद्यपि आनन्दमय को सर्वज्ञ और सर्वेश्वर बताया है, तो भी उससे आनन्दमय कोश में ईश्वरता असिद्ध है, क्योंकि माण्डूक्योपनिषद् के अनुसार विश्व, तैजस और प्राज्ञ के भेद से जीव के तीन स्वरूप तथा विराट् हिरण्यगर्भ

और अव्याकृत के भेद से ईश्वर के भी तीन स्वरूप हैं। सर्व उपनिषदों में हिरण्यगर्भ में जीवरूपता और हिरण्यगर्भ रूप को प्राप्ति के लिए उपासना प्रसिद्ध है,एवं कल्पान्तर में उपासनाकर्त्ता जीव और हिरण्यगर्भ पदवी को पाता है। इसी प्रकार विराट् भाव की प्राप्ति के लिए जीव को उपासना से कल्पान्तर में विराट्रूप प्राप्ति होती है। विराट् के ऐश्वर्य से हिरण्यगर्भ का ऐश्वर्य उत्कृष्ट है और ईश्वर का ऐश्वर्य तो सभी से उत्कृष्ट है ही। पुराणों में प्रसिद्ध है कि विराट् हिरण्यगर्भ का पुत्र है, उसे भूख-प्यास की बाधा रहती है। इसलिए न तो विराट् में और न हिरण्यगर्भ में ही ईश्वरता कही जा सकती है। किन्तु सत्यलोक में रहने वाले और समष्टि सूक्ष्म का अभिमानी तथा सुख भोगने वाली हिरण्यगर्भ संज्ञक जीव तथा समष्टि स्थूल का अभिमानी विराट् संज्ञक जीव होता है।

हिरण्यगर्भ शब्द का अर्थ है अन्तर्यामीरूप से सूक्ष्म प्रपंच का प्रेरणा करने वाला और विराट शब्द का तात्पर्य है अन्तर्यामीरूप से स्थूल प्रपंच का प्रेरक और जब सूक्ष्म सृष्टिकाल में चेतन प्रतिबिम्ब गर्भित अज्ञान रूप अव्याकृत ही उसका प्रेरक हो, तब वह हिरण्यगर्भ नामक ईश्वर और जब स्थूल सृष्टिकाल में उसका प्रेरक हो तब वह विराट् शब्दों की जीवभाव और ईश्वरभाव में हिरण्यगर्भ और विराट् शब्दों की जीवभाव और ईश्वरभाव में प्रवृत्ति होने पर भी स्थूल-सूक्ष्म के अभिमानी जीव में विराट् और हिरण्यगर्भ शब्दों की शक्तिवृत्ति तथा स्थूल-सूक्ष्म के प्रेरक ईश्वर में विराट्-हिरण्यगर्भ शब्दों की गौणीवृत्ति मानी जाती है। क्योंकि जीवरूप हिरण्यगर्भ-विराट् का सूक्ष्म-स्थूल प्रपंच से स्वीयता सम्बन्ध होने के समान ही ईश्वररूप हिरण्यगर्भ-विराट् का उक्त प्रपंच से प्रेर्यता सम्बन्ध होने से हिरण्यगर्भस्थ

सूक्ष्म-सृष्टि सम्बन्धित्वरूप गुण के मिश्रण से ईश्वर में हिरण्यगर्भ शब्द की और विराट्स्थ स्थूल सृष्टि सम्बन्धितत्व रूप गुण के मिलने से ईश्वर में विराट् शब्द की गौणीवृत्ति होती है। इस प्रकार हिरण्यगर्भ और विराट् शब्दों के ईश्वर और जीव दोनों ही अर्थ बनते हैं इसलिए जहां जो अर्थ लग सके वहाँ उसी का ग्रहण करले। परन्तु गुरु सम्प्रदाय के बिना ही वेदान्त ग्रन्थों का अध्ययन करने वाले पुरुष पूर्वोक्त व्यवस्था का ज्ञान न होने से हिरण्यगर्भ-विराट् शब्दों से कहीं जीव और कही ईश्वर अर्थ बनता देखकर मोहित होजाते हैं।

माण्डूक्योपनिषद् ने उपर्युक्त तीन प्रकार के जीव और ईश्वर के अभेद चिन्तन का जो प्रकार बताया है, उसके अनुसार जिस अल्पबुद्धिपुरुष को महावाक्य के विचार से तत्व का साक्षात्कार न हो, उसे प्रणवचिन्तन का भी प्रकार लिखा है। उसमें विश्व-विराट् तैजस-हिरण्य-गर्भ और प्राज्ञ-ईश्वर का अभेद चिंतन बताया है। वहाँ ईश्वर के सर्वज्ञता आदि धर्म प्राज्ञरूप आनन्दमय में अभेद चिन्तन के लिए ही कहे हैं। जैसे कि विश्व विराट् के अभेद कथनार्थ वैश्वानर के उन्नीस मुख बताये हैं। यद्यपि वैश्वानर ईश्वर को कोई भोग न होने पर भी विश्व-विराट् का अभेद बताने के लिए ही विश्व के भोग-साधनों को वैश्वानर की भोग साधनता बताया है। विराट् को ही वैश्वानर कहते हैं। इस प्रकार माण्डूक्योपनिषद् के अनुसार भी ईश्वरता की सिद्धि आनन्दमय में नहीं होती है।

आनन्दमय को ईश्वरता में विद्यारण्य का मत

विद्यारण्य ने अपने 'ब्रह्मानन्द' ग्रन्थ में आनन्दमय कोश को ज: यक अवर विशेष ही वहा है। उसमें यह प्रसंग है कि

जाग्रत्-स्वप्न में भोगदायक कर्मों के वश से अन्तःकरण का घनी भाव विज्ञानमय और वही अन्तःकरण रूप उपाधि के सम्बन्ध से विज्ञानमय सुषुप्ति में विलीनावस्था को प्राप्त होकर आनन्दमय कहा जाता है।

इसी प्रकार विद्यारण्य को भी विज्ञानमय की अवस्था विशेष ही आनन्दमय और आनन्दमय कोश में जीवभाव ही होता है। पंचदशी में बिलक्षणता देखकर परम्परा वाक्यों से यह आनन्द-मय को ही ईश्वर समझा जा सकता है, परन्तु यथार्थ में ऐसा है, नहीं। यद्यपि पंचदशी में पंचविवेक और पंचदीप विद्यारण्य कृत और पंचानन्द भारतीतीर्थ कृत है, तो भी एक ग्रन्थ में ही आरम्भ-अन्त का विरोध न बनने से पंचदशी में भी आनन्दमय ईश्वरता विवक्षित नहीं होती। यद्यपि चित्रदीप के अनुसार आनन्दमय को ईश्वरता है, तो भी माण्डूक्योपनिषद् के समान वह कथन ईश्वर में अभेद चिन्तनार्थ ही है और विद्यारण्य का भी यथार्थ रूप से तो आनन्दमय की ईश्वरता में तात्पर्य सम्भव नहीं है। इस प्रकार विद्यारण्य ने चेतन के चार भेद चित्रदीप में कहे हैं।

चेतन के तीन भेदों का अंगीकार

विद्यारण्य ने दृग्दृश्य विवेक ग्रन्थ में कूटस्थ का जीव में अंत र्भाव किया है और जीव के भी पारमार्थिक, व्यावहारिक एवं प्रातिभासित के रूप में तीन भेद किये हैं। स्थूल-सूक्ष्म शरीरद्वय-अवच्छिन्न कूटस्थ चेतन पारमार्थिक जीव है, उसका ब्रह्म से मुख्य अभेद है। अविद्या से आवृत, कूटस्थ में कल्पित एवं अन्तः कारण में चिदाभास शरीरद्वय में अभिमानी व्यावहारिक जीव है और निद्रारूप अविद्या से आवृत तथा व्यावहारिक जीवरूप

अधिष्ठान में कल्पित प्रातिभासिक जीव है। जब ब्रह्मज्ञान के बिना ही जाग्रत् प्रपंच का बोध होने पर प्रातिभासिक प्रपंच निवृत्त हो जाता है, तब व्यावहारिक जीव का बोध होने पर प्रातिभासिक जीव भी नहीं रहता। इस प्रकार जीव में कूटस्थ का अन्तर्भाव अथवा ब्रह्म से अभेद है। इसलिए कूटस्थ के अतिरिक्त चेतन के तीन भेद ही है—जीव, ईश्वर और शुद्ध चेतन। यह पक्ष वार्तिक के अनुकूल और सर्व सम्मत है।

मोक्षदशा में जीव का शुद्ध ब्रह्म से अभेद

जीव के समान ईश्वर भी प्रतिबिम्ब रूप होने से पूर्वोक्त सर्व पक्षों के अनुसार जीव का मोक्षदशा में ईश्वर से अभेद नहीं बनता। क्योंकि जैसे उपाधि के अपसरण से एक का दूसरे प्रतिबिम्ब से अभेद नहीं, वरन् प्रतिबिम्ब का बिम्ब से अभेद अनुभव में आता है, वैसे ही मोक्षदशा में प्रतिबिम्ब रूप जीव का चेतन से अभेद होता है। परन्तु विवरणकार के अनुसार बिम्बरूप चेतन ईश्वर होने से जीव का ईश्वर से ही अभेद होना है।

प्रक्रिया-भेद एवं जीव-ईश्वर निरूपण

विवरणकार ने जीव और ईश्वर की उपाधि एक अज्ञान ही स्वीकार की है, उनमें अज्ञान में प्रतिबिम्ब जीव तथा बिम्ब ईश्वर है। जैसे कि दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है तब उसमें मुख की छाया नहीं होती और न अनिर्वचनीय या व्यावहारिक प्रतिबिम्ब की ही उत्पत्ति होती है, वरन् दर्पण से प्रतिहत हुई दर्पणगोचर चाक्षुष वृत्ति स्वग्रीवास्थ मुख को विषय करती है। इस प्रकार ग्रीवास्थ मुख में ही बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव की प्रतीति होती तथा वह ग्रीवास्थ मुख मिथ्या नहीं होता।

प्रकार ग्रीवास्थ मुख ही बिम्ब-प्रतिबिम्ब का स्वरूप ग्रीवास्थ मुख होने से बिम्ब-प्रतिबिम्ब तो सत्य और ग्रीवास्थ मुख में बिम्बत्व और प्रतिबिम्ब धर्म असत्य होते हैं तथा उन धर्मों का

अधिष्ठान मुख होता है।

उक्त दृष्टान्तानुसार बिम्ब के समान प्रतिबिम्ब का स्वरूप भी बिम्बरूप एवं सत्य होने से दर्पण देशीय अज्ञान की सन्निधि से चेतन में बिम्ब देशीय ईश्वर के समान प्रतिबिम्ब देशीय जीव का स्वरूप भी सत्य शुद्ध चेतन ही होने से यद्यपि महावाक्यों में मुख्य सामान्याधिकरण्य हो सकता है, तो भी बिम्बत्वरूप ईश्वरत्व और प्रतिबिम्बत्वरूप जीवत्व दोनों ही धर्म सत्य नहीं होते तथा उनका अधिष्ठान सत्य चेतन ही होता है।

उक्त प्रकार जीव-ईश्वर की उपाधि एक अज्ञान ही है तो दोनों में ही अज्ञता या सर्वज्ञता होनी चाहिए। तो भी जैसे दर्पणादि उपाधि के लघुत्व-पीतत्व आदि धर्मों का प्रतिबिम्ब में ही आरोप होता है, वैसे अज्ञानकृत आवरण और अल्पज्ञता आदि का रहना प्रतिबिम्बरूप जीव में ही हो सकता है, ईश्वर में तो स्वरूप प्रकाश से सर्वज्ञता ही होती है। इस प्रकार बिम्ब-प्रतिबिम्ब का अभेद होने से उनके धर्मों का भेद भी नहीं कह सकते, क्योंकि उक्त व्यवस्था तो तभी सम्भव होती जबकि बिम्ब-प्रतिबिम्ब का भेद यथार्थ में हो। तो भी ग्रीवास्थ मुख में दर्पणस्थत्वरूप एवं प्रतिबिम्बत्वरूप का भ्रम मात्र ही है और भ्रम से सिद्ध प्रतिबिम्बत्व की अपेक्षा से ही ग्रीवास्थ मुख में बिम्बत्व का व्यवहार-मात्र ही है। इस प्रकार दोनों धर्मों के एक ही मुख में आरोपित होने के समान ही धर्मों के भेद भी आरोपित होते हैं और भ्रान्ति से बिम्ब-प्रतिबिम्ब का भेद होने से उक्त व्यवस्था बन सकती है।

इस प्रकार विवरणकार के मतानुसार अज्ञान में प्रतिबिम्ब तो जीव और बिम्ब ईश्वर है। अज्ञान के अनिर्वचनीय होने से अज्ञान के सद्भाव काल में भी अज्ञान का परमार्थ से अभाव रहता है। इसलिए बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप चेतन के परमार्थ से शुद्ध चेतन ही होने के कारण ईश्वरभाव की प्राप्ति भी शुद्ध ब्रह्म को ही प्राप्त होना है।

अवच्छेदवाद द्वारा स्वमत निरूपण

किसी आचार्य का मत है कि अन्त:करण से अवच्छिन्न चेतन ही जीव और वही ईश्वर है। क्योंकि विवरणोक्त चेतन के प्रतिबिम्ब जैसा रूप-रहित चेतन का प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता। कूप, तड़ाग, वापी आदि जलगत आकाश में नीलता और व्यापकता का अभाव होते हुए भी, आकाश नीले और व्यापक होने का आभास होता है। इसलिए प्रतीत्यानुसार आरोपित व्यापकता विशिष्ट और नीलता विशिष्ट किन्तु रूप-रहित का भी प्रतिबिम्ब मानना चाहिए। यदि किसी प्रकार रूप-रहित आकाश का प्रतिबिम्बित होना बन भी जाय, तो भी आकाश में तो भ्रांति से आरोपित नीलता है भी, परन्तु चेतन में आरोपित रूप के न होने से चेतन में तो किसी प्रकार का भी प्रतिबिम्ब हो ही नहीं सकता।

रूप-रहित शब्द का रूप-रहित आकाश में प्रतिध्वनिरूप प्रतिबिम्ब कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि वैसा कहने पर रूप-रहित उपाधि में प्रतिबिम्ब संभव न होनेसे आकाश ही रूप-रहित न रहेगा और उसमें जो प्रतिध्वनि होती है, उसे शब्द का प्रतिबिम्ब भी नहीं कह सकते। क्योंकि यदि प्रतिध्वनि को शब्द का प्रतिबिम्ब मानलें तो आकाशवर्ति शब्द ही न रहेगा। यथार्थ

प्रतिध्वनि तो यह है कि भेरी-दण्ड आदि के संयोग से पहले पार्थिव शब्द उत्पन्न होकर फिर उस शब्द से उसके समक्ष देश-पाषाण आदि अवच्छिन्न आकाश में प्रतिध्वनिरूप तो शब्द ही हो सकता है, प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता। उस पार्थिव शब्द के उस प्रतिध्वनि का निमित्त कारण होने से ध्वनि के सदृश्य ही प्रतिध्वनि होती है। यदि प्रतिध्वनि को शब्द का प्रतिबिम्ब मान लें तो विद्यारण्य ने प्रतिबिम्ब को अनिर्वचनीय और विवरण-कार ने प्रतिबिम्ब को बिम्ब का स्वरूप कहा है, इन दोनों मतों में प्रतिध्वनि आकाश का गुण रहेगी ही नहीं। क्योंकि अनिर्वच-नीय प्रतिबिम्बवाद के अनुसार प्रतिध्वनि को पार्थिव शब्द का अनिर्वचनीय प्रतिबिम्ब मान लें तो व्यावहारिक आकाश का गुण प्रातिभासिक न हो सकने से प्रतिध्वनि कभी आकाश का गुण रहेगी ही नहीं। जबकि विवरण मतानुसार प्रतिध्वनि पार्थिव शब्द का प्रतिबिम्बरूप है और अपने बिम्ब से अभिन्न होने के कारण पृथिवी का गुण रहती है। इस प्रकार प्रतिध्वनि को शब्द का गुण मान लें तो वह आकाश का गुण कभी नहीं रह सकती।

पृथिवी, जल अग्नि और वायु के शब्द भिन्न-भिन्न होते हैं, परन्तु आकाश में तो प्रतिध्वनि के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार शब्द न होने से प्रतिध्वनि को प्रतिबिम्ब नहीं मान सकते। यदि मान लें। तो आकाश शब्द-रहित मानना पड़ेगा। परन्तु कोई शास्त्रकार आकाश को शब्द-रहित नहीं मानता। भूतविवेक में स्वामी विद्यारण्य का यह कहना है कि पृथिवी का शब्द कट-कट होता है। जल का शब्द चुल-चुल, अग्नि का शब्द भुक-भुक वायु का शब्द सी सी और आकाश का शब्द प्रतिध्वनि है। इन्हीं के समान अन्य ग्रन्थकार भी प्रतिध्वनि को ही आकाश का गुण

मानते हैं। इसलिए यह मानना ठीक है कि रूपहीन का प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता ।

यदि प्रतिबिम्बवादी यह कहें कि 'कूपादि के आकाश में आकाश की विशालता प्रतीत होती है, परन्तु उसमें कोई विशा-लता न होने से बाह्यदेशस्थ रूपहीन विशाल आकाश का ही प्रतिबिम्ब कूप जल में होना मानना होगा और इस प्रकार रूप-रहित चेतन का प्रतिबिम्ब भी हो सकता है।

यदि किसी प्रकार ऐसा मान लें तो भी प्रतिबिम्ब का संभव रूपवान उपाधि में ही हो सकता है, रूपहीन में नहीं। किन्तु यहां तो रूपवान कूपजल आकाश के प्रतिबिम्ब की उपाधि है और वहां अविद्या अन्तःकरण आदि तो रूपहीन हैं, तो रूपहीन चेतन का प्रतिबम्ब कैसे हो सकता है ?

इस प्रकार यह मानना होगा अन्तःकरण-अविच्छन्न चेतन जीव और अन्तःकरण-अनवच्छिन्न चेतन ईश्वर है अथवा अविद्या अवच्छिन्न चेतन जीव और माया अवच्छिन्न चेतन ईश्वर है।

अन्तःकरण-अवच्छिन्न चेतन जीव नहीं

यदि अन्तःकरण अवच्छिन्न चेतन को जीव और अन्तःकरण अनवच्छिन्न चेतन को ईश्वर मान लें तो ब्रह्माण्ड से बाह्यदेश में स्थित चेतन में ही ईश्वरता की प्राप्ति होगी । क्योंकि ब्रह्माण्ड में अनन्त जीवों के अनन्त अन्तःकरण व्याप्त होने से ब्रह्माण्ड के मध्य अन्तःकरण-अनवच्छिन्न चेतन का लाभ नहीं हो सकता । और ब्रह्माण्ड से बाह्यदेश में ही ईश्वर का सद्भाव मान लें तो श्रुति के उन वचनों से विरोध होगा जिनमें अन्तर्यामी-प्रतिपादन हुआ है 'यो विज्ञाने तिष्ठन्विज्ञानमन्तरो यमयति' अर्थात् 'बुद्धि में

रह कर जो बुद्धि के भीतर प्रेरणा करता है' इस वाक्यमें विज्ञान पद बोध्य जीवदेश में ईश्वर का सद्भाव प्रतिपादन किया है। अन्तःकरण अनवच्छिन्न को नहीं।

यदि अन्तःकरण अनवच्छिन्न चेतन को ही ईश्वर मान लें तो अन्तःकरण से सम्बन्ध का अभाव ही ईश्वरत्व की उपाधि सिद्ध होगी। परन्तु ईश्वर में जो सर्वज्ञता आदि हैं, वे उपाधि से ही हैं. अभावरूप उपाधि से सर्वज्ञता आदि धर्म कभी सिद्ध नहीं हो सकते।

तृप्तिदीप में विद्यारण्य का अभिप्राय

तृप्तिदीप में स्वामी विद्यारण्य का कथन है कि अन्तःकरण का सम्बन्ध तो उपाधि है ही अन्तःकरण के सम्बन्ध का अभाव भी उपाधि ही है। जैसे लौह-श्रृंखला से संचार रुकता है, वैसे ही स्वर्ण-श्रृंखला से भी रुकता है इसी प्रकार अन्तःकरण के संबंधरूप भावोपाधिसे जीव स्वरूप का और अन्तःकरण के संबंध भावरूप अभाव उपाधि से ब्रह्मस्वरूप का बोध होता है।

इस प्रकार विद्यारण्य ने अन्तःकरण-राहित्य को भी उपाधि कहा है, उसका तात्पर्य यह है कि अन्तःकरण के सम्बन्ध से जीव स्वरूप का बोध होने के समान ही अन्तःकरण-राहित्य भी ब्रह्म-बोध कराता है। इस प्रकार विद्यारण्य के कथन से भी अभाव-रूप उपाधि से ईश्वर में सर्वज्ञाता आदि की सिद्धि नहीं बनती।

अविद्यावच्छिन्न जीव का अंगीकार

उपर्युक्त प्रकार से माया-अवच्छिन्न चेतन ही ईश्वर सिद्ध होता है और ईश्वर उपाधि माया सर्व व्याप्त होने से ईश्वर में अन्तर्यामिता भी हो ही सकती है। अब यदि अन्तःकरण अव

च्छिन्न चेतन को जीव मान लें तो अन्त:करण के नित्य उत्पन्न होने, नष्ट होने से कर्त्ता-भोक्तारूप चेतन के भिन्न-भिन्न प्रदेश होकर किये हुए का नाश और न किये हुए की उपलब्धिरूप दोष उपस्थित होंगे। अभिप्राय यह कि सुषुप्ति में अन्त:करण का नित्य अभाव होजाता है और तब जाग्रत् में दूसरा ही अन्त:करण उत्पन्न होता है, यह सिद्धान्त की मान्यता है। अतएव जिस अन्त:करण प्रदेश में कम हुआ, उसी में भाग की सिद्धि नहीं हो सकती, जिससे किये हुए का नाश और न किये हुए की प्राप्ति बनेगी। इससे यही मानना ठीक है कि जीव अविद्यावच्छिन्न चेतन ही है, अन्त:कारणावच्छिन्न चेतन नहीं। इस प्रकार अनेक ग्रन्थकार अवच्छेदवाद का अंगीकार करते हैं।

एकजीववाद का निरूपण

सिद्धान्त मुक्तावली आदि का यह मत है कि सदेव असग, नित्ययुक्त और चिदानन्दघन ब्रह्म में कल्पित अविद्या आदि के संयोग से प्रतिबिम्बना या अवच्छिन्नता नहीं हो सकतो। क्योंकि अविद्या और उसका कार्य ब्रह्मचेतन जैसी सत्तायुक्त नहीं, वरन् सत्ताशून्य हैं और ब्रह्म की सत्ता से ही सत्तायुक्त जैसे लगते हैं। इसलिए उन अविद्या आदि से चेतन का कोई सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार सदा एक रस ब्रह्म में अवच्छिन्नता या प्रतिबिम्बतारूप जीवता नहीं हो सकती, वरन् अज्ञान तो कल्पित है ही, उसके कल्पित सम्बन्ध से ब्रह्ममें न हुए जीवत्वादि की प्रतीति होती है। जैसे कि यह दोहा है—

ज्यों अधिकृत कौतेय में राधापुत्र प्रतीति।
चिदानन्दघन ब्रह्म मेंजीवभाव तिहिं रीति ।।

अर्थात्—अविकारी कुन्तीपुत्र कर्ण में राधापुत्रता को भ्रम रूप प्रतीति होने के समान ही चिदानन्दघन ब्रह्म में जीवभाव का

भ्रम होता है। परन्तु प्रतिबिम्ब रूप या अवच्छेदरूप किसी जीव भाव का उपलब्धि संभव नहीं है। भाष्यकार और वार्तिककार ने बृहदारण्यक के कथन में कर्ण के दृष्टान्त से यही पक्ष प्रतिपादन किया है।

जैसे जीव के अज्ञान से कल्पित गुरु और शास्त्र उपदेश के हेतु बनते हैं, वैसे ही स्वप्न में कल्पित राजा के समान जीव द्वारा कल्पित ईश्वर भी फल का हेतु होता है। इस मत में एक जीववाद तथा जीव द्वारा कल्पित ईश्वर भी एक होने से अनेक ईश्वरों की आपत्ति भी संभव नहीं। यहाँ यह शंका उठ सकती है कि एकजीववाद मानने से तो शुकदेव-वामदेव आदि की मोक्ष के प्रतिपादक शास्त्र मिथ्या हो जाँयगे, क्योंकि विद्यमान जगत् में एकजीव भी विद्यमान है, तो तब तक वह जीव मुक्त न हो जाय, तब तक दूसरो की मुक्ति कैसे होगी। परन्तु इस मत में जो शास्त्र शुकदेवादि का मोक्ष-प्रतिपादन करते हैं, उनसे भी स्वप्न देखने वाले के स्वप्न में कल्पित अनेक पुरुषों के समान अनेक जीवों का आभास ही होता है, सिद्धि नहीं। जैसे स्वप्न में एक स्वप्न देखने वाले को अनेक पुरुषों की प्रतीति होने पर' उन अनेक में से कोई तो निर्जन वन में जाकर सिंहादि से प्राप्त दु:ख का अनुभव करता है और कोई राजमार्ग से चलता हुआ अपने नगर को जाता है। परन्तु स्वप्न देखने वाले को न तो वन में जाना या अपने नगर में पहुँचना आदि कुछ भी नहीं होता, वरन् वह तो केवल स्वप्न देखने वाले के आभास रूप जीवों को ही होती है। इसी प्रकार यथार्थ में तो ब्रह्मरूप परन्तु अज्ञान से कल्पित जीव को न तो कोई बन्ध होताहै और न मोक्ष ही, वरन् बन्ध मोक्ष की जो प्रतीति होती है, वह आभास मात्र ही है। जब उसकी कल्पित अविद्या निवृत्त होजाती है, तब तो वह बन्ध-मोक्ष-रहित, नित्यमुक्त ब्रह्मरूप ही है।

इसमें ऐसा कहें कि 'फिर किसके ज्ञान से अविद्या निवृत्ति रूप मोक्ष की प्राप्ति होगी, तो यह कहना युक्त होगा कि 'अपने ही ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति रूप मोक्ष हो सकता है, क्योंकि अपने ही अज्ञान से प्रपंचरूप बन्ध की प्राप्ति होती है।'

अथवा यह भी कह सकते हैं कि 'मोक्ष किसी के भी ज्ञान से संभव नहीं।' क्योंकि इस मत में आत्मा में बन्ध का अत्यन्त असद्भाव माना गया है। इसलिए 'नित्य मुक्त आत्मा का मोक्ष होगा या होगया' यह कह ही नहीं सकते। इसी अर्थ में मोक्ष प्रतिपादक वाक्यों को इस मत में अर्थवाद रूप माना है।

अद्वैत ग्रन्थों का तात्पर्य

नित्यमुक्त आत्म स्वरूप के ज्ञान से दुःखों की निवृत्ति और सुख की उपलब्धि के लिए कर्तव्यबुद्धि से जो अनेक प्रकार के क्लेश भोगे जाते हैं, उनकष्टों से बचना ही वेदान्त श्रवण का फल है, यह फल नहीं कि आत्मा में बन्ध का नाश होगा या परमानन्द की प्राप्ति रूप मोक्ष मिलेगी। क्योंकि आत्मा तो वेदान्त सुनने से पहले भी नित्ययुक्त ही है, उसमें बन्ध की किंचित् भी सम्भावना नहीं है। फिर भी मिथ्या बन्ध की प्रतीति होने से भ्रम से ही वेदान्त सुनने में प्रवृत्ति होती है, जो कि बन्ध-भ्रम से निवृत्त पुरुष को नहीं होती। यह तात्पर्य सर्व अद्वैत ग्रन्थों का है।

इस प्रकार सब ग्रन्थकारों ने जीव-ईश्वर के स्वरूप-निरूपण में बहुत विस्तार किया है। वहाँ जीव के स्वरूप में तो एक या अनेक होने के विषय में तो विवाद है भी, परन्तु ईश्वर के एक, सर्वज्ञ और नित्य-मुक्त होने में कोई में विवाद नहीं है। कोई भी अद्वैतग्रन्थ आवरण को नहीं मानता और जो ईश्वर में आवरण

कहे वह वेदान्त सम्प्रदाय से बाहर ही समझने चाहिए। यद्यपि वाचस्पति ने अनेक अज्ञान मानकर उनका जीवों के आश्रित होना तथा ब्रह्म को विषय करना कहा है। वहाँ जीवों के अज्ञान से कल्पित प्रपंच और ईश्वर भी अनेक अंगीकार किये हैं, तो भी जीवों के कल्पित वे ईश्वर भी सर्वज्ञ ही स्वीकार किये हैं और आवरण वहाँ भी नहीं माना है।

प्रतिबिम्ब का स्वरूप निरूपण

विवरणकार केअनुसार दर्पणादि उपाधि से प्रतिहत हुए नेत्र की ज्योति की ग्रीवास्थ मुख को विषय करती है। द्रष्टासे भिन्न पदार्थ का दर्पण से समक्षता रूप सम्बन्ध होने पर भी दर्पण-सम्बन्धी प्रतिहत नेत्र का दपण के सामने के पदार्थ से सम्बन्ध होने पर द्रष्टा से भिन्न उस पदार्थ का साक्षात्कार नेत्र अपने ही स्थान में करता है और अनेक पदार्थों के सामने होने पर प्रति-हतनेत्र से अनेक पदार्थों का अनेक-अनेक स्थान में साक्षात्कार होता है। परन्तु दर्पण के सामने के पदार्थ के उत्पन्न एव रूपवान होने पर उसमें प्रतिहत नेत्रजन्य साक्षात्कार की योग्यता संभव होने से नेत्र की वृत्ति हो दर्पण के सामने वाले पदार्थ के सम्मुख होती है, यह नियम नहीं कि निजगोलक में ही आती हो। इस प्रकार विवरणकार के मत में दर्पण की सन्निधि से ग्रीवास्थ मुख का ही साक्षात्कार होने पर भी उसमें पूर्वाभिमुखत्व आदि का भ्रम होने से ही ऐसा व्यवहार होता है कि 'दर्पण में मेरा मुख पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख है, वह मेरे मुख से भिन्न प्रतिबिम्ब रूप ही है।

उक्त पक्ष में यह शका हो सकती है कि यदि प्रतिहत नेत्र से ही बिम्बभूत मुख आदि का प्रत्यक्ष हो तो सूर्य के प्रकाश से नेत्र

का प्रतिरोध होने पर जल से प्रतिहत नेत्र द्वारा भी सूर्य-साक्षात्कार नहीं होना चाहिए अथवा जलदेश में सूर्य से भिन्न सूर्य के प्रतिबिम्ब का उत्पन्न होना ही समझना चाहिए। यदि उपाधि-सम्बन्धि नेत्र ज्योति की प्रतिहृति बिम्ब के प्रत्यक्षार्थ ही मानें तो जल के भीतर रेत का प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिए।

उक्त शङ्काओं का यह समाधान है कि आकाश में विद्यमान सूर्य के प्रकाश से ही नेत्र का अवरोध होता है, किन्तु जलादि उपाधि से प्रतिहत नेत्र का उस प्रकाश से अवरोध नहीं हो सकता। ऐसे ही यदि कोई नेत्रज्योति जल में घुमकर उसके भीतर की रेत को विषय करती है,तब उसी नेत्र की अन्य ज्योति किरण जल से प्रतिहत होकर विषय करती है, यह कल्पना दृष्टि के अनुसार ही है। इस प्रकार विवरणकार के मत में प्रतिबिम्ब का बिम्ब से सर्वथा अभेद है।

विद्यारण्य और विवरणमत में बिलक्षणता

स्वामी विद्यारण्यादि ने पारमार्थिक, व्यवहारिक और प्रातिभासिक के रूप में जीव के तीन भेद माने हैं। परन्तु विवरणकार के अनुसार तो बिम्ब से भिन्न प्रतिबिम्ब के न होने से जीव के तीन भेद हो ही नहीं सकते। इससे तीन प्रकार के जीवभेद मानने वाले ही बिम्ब-प्रतिबिम्ब का भेद अंगीकार करते हैं और उनके अनुसार ही दर्पणादि उपाधियों में अनिर्वचनीय प्रतिबम्ब उत्पन्न होता है। वे दर्पणादि को प्रतिबिम्ब के अधिष्ठान रूप उपादान और बिम्ब की सन्निधि को निमित्त कारण मानते हैं। यद्यपि निमित्त के अभाव से कार्याभाव नहीं होता और यहां बिम्ब का अपसरण होने पर प्रतिबिम्ब नहीं रहता, फिर भी निमित्त कारण दो प्रकार का मानते हैं। उनमें से कोई तो कार्य

से पहले से विद्यमान और कोई कार्य के समय विद्यमान निमित्त कारण होता है। जैसे की घटादि के निमित्त कारण कुलालदण्ड आदि तो कार्य से पहले से विद्यमान रहते हैं और घटादि का अस्तित्व होजाने पर उनकी अपेक्षा नहीं रहती। किन्तु यदि प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त कारण ज्ञान का विषय हो तो ज्ञान होने के समय विषय का अस्तित्व अपेक्षित होता है। क्योंकि विनष्ट घट से नेत्र-संयोग हो तो भी घटज्ञान असंभव होने से ज्ञान के समय विद्यमान घट ही निमित्त कारण हो सकते है।

ऐसे ही जहाँ दूरस्थ अनेक पदार्थों में एकत्वभ्रम और मंद अन्धकार में स्थित रस्सी में सर्पभ्रम हो तो एकत्व भ्रम का निमित्त दूरस्थ दोष और सर्पभ्रम का निमित्त मन्द अन्धकार होता है और इन दोनों दोषों का अभाव होजाय तो न एकत्व भ्रम रहता है और न सर्प-भ्रम ही। इसलिए यह दोनों दोष अपने-अपने अध्यास के कार्यकाल में स्थित निमित्त कारण होते हैं। इसी प्रकार बिम्ब का सन्निधान प्रतिबिम्बाध्यास के कार्यकाल में विद्यमान निमित्त कारण होता है, इसलिए बिम्ब का अपसरण होने पर कार्याभाव हो सकने से सन्निहित बिम्ब को प्रतिबिम्ब का निमित्त कारण और दर्पणादि को प्रतिबिम्ब के उपादान कारण कह सकते हैं। परन्तु विवरणकार के अनुसार प्रतिबिम्ब का स्वरूप बिम्ब से भिन्न नहीं, वरन् बिम्बरूप ग्रीवास्थ मुख में अनिर्वचनीय धर्म उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार चेतन के प्रतिबिम्बवाद में जो दो मत हैं, उनमें से विवरण-मतानुसार तो बिम्ब से अभेद होने के प्रतिबिम्ब का स्वरूप मिथ्या नहीं है, जबकि विद्यारण्य के मतानुसार दर्पणादि में अनिर्वचनीय मुखाभाव उत्पन्न होता है, इसलिए प्रतिबिम्ब का स्वरूप मिथ्या ही है।

यथार्थ में तो किसी भी विवेकी पुरुष का आग्रह न तो प्रतिबिम्बवाद में है, न आभासवाद में ही, वरन् चेतन में संसार धर्म हो नहीं सकता और जीव-ईश्वर में कोई भेद है ही नहीं। यही बोध करानेके लिए ही तत्व का अनेक प्रकार से दिग्दर्शन कराया जाता है। परन्तु जिज्ञासु को जिस मत से ब्रह्मात्मस्वरूप का ज्ञान हो सके उसके लिए वही पक्ष आदर के योग्य है।

ऐसा होते हुए भी बिम्ब-प्रतिबिम्ब के अभेद पक्ष के अनुसार तो ब्रह्मात्मज्ञान अनायास हो जाना संभव है। क्योंकि दर्पणादि में सुखादि का लौकिक प्रतिबिम्ब होने पर बिम्ब का स्वरूपसद्व एक रस रहता है और जो भेद का भ्रम होता है उसका कारण उपाधि की सन्निधि ही है। इस प्रकार सदा एकरस ब्रह्मचेतन के होते हुए भी अज्ञानादि उपाधि के सम्बन्ध से उसमें जीव-ईश्वर का भ्रमरूप आभास होता है।

यथार्थ में तो असंग चेतन में जीव-ईश्वर-भेद है ही नहीं। यद्यपि चेतन में कल्पित जीवत्वरूप और ईश्वरत्व रूप धर्म परस्पर भिन्न ही हैं तो भी जीव-ईश्वर रूप धर्मी न तो कल्पित हैं और न परस्पर भिन्न ही हैं। अतएव बिम्ब-प्रतिबिम्ब का अभेद वाद अद्वैत मत के प्रतिकूल है ही नहीं।

आभासवाद प्रतिबिम्बवाद में किंचित भेद

आभासवाद में प्रतिविम्ब के अनिर्वचनीय होने और उसके अधिष्ठान दर्पणादि के उपाधि होने के समान ही विवरणकारोक्त प्रतिबिम्बवाद में दर्पणस्थत्व तथा विपरीत देशाभिमुखत्व आदि तो धर्म अनिर्वचनीय और उनका अधिष्ठान मुखादि बिम्ब हैं। अतएव दोनों पक्षों में अनिर्वचनीयों का परिणामी उपादान तो अज्ञान ही कहा जा सकता है।

प्रतिबिम्ब की छायारूपता का अनंगीकार

किसी ग्रन्थकार ने छाया को प्रतिबिम्ब माना है,जो हो नहीं सकता। क्योंकि देह-वृक्षादि के द्वारा जितने देश में प्रकाश रुके, उतने देश में जो प्रकाश-विरोधी अन्धकार होता है, वह छाया कहलाता है। अधंकार का नीलरूप होता है, इसलिए छाया भी नीलरूप मानी जाती है। परन्तु मुक्तादि का प्रतिबिम्ब श्वेत, स्वर्ण का पीला और लालमणि का लाल वर्ण होता है। यदि प्रतिबिम्ब को छाया मान लें तो इन सभी प्रतिबिम्बों का वर्ण नीला ही होना चाहिए। ऐसा नहीं होता, इसलिए छाया को प्रतिबिम्ब नहीं कह सकते।

प्रतिबिम्ब की बिम्ब-भिन्न द्रव्यरूपता का निषेध

यदि कोई कहे कि अंधकार रूप छाया से प्रतिबिम्ब अभिन्न नहीं और जैसे मीमांसकों के अनुसार आलोक का अभाव अन्धकार नहीं, वरन् अन्धकार आलोक विरोधी भावरूप द्रव्य है। क्योंकि उसमें क्रिया और नीलरूप है और गुण-क्रिया का रहना द्रव्य में ही संभव है। इस प्रकार जैसे अन्धकार दसवाँ द्रव्य है, वैसे ही पृथिवी या जलादि से भिन्न प्रतिबिम्ब को भी द्रव्य समझना चाहिए।

इस प्रकार प्रतिबिम्ब को स्वतंत्र द्रव्य मानने वालों से यह प्रश्न किया जा सकता है कि प्रतिबिम्बरूप द्रव्य नित्य है या अनित्य? यदि नित्य कहें तो आकाशादि के समान उत्पत्ति-नाश से हीन होने के कारण उसके उत्पत्ति-नाश की प्रतीति नहीं होनी चाहिए। यदि अनित्य कहें तो कार्यद्रव्य के उपादान देश में रहने से प्रतिबिम्ब के उपादान कारण दर्पणादि होंगे। परन्तु

दर्पणादि में प्रतिबिम्बरूप द्रव्य का सद्भाव मान लें तो यह शंका होगी कि प्रतिबिम्ब वर्ति रूप, गुण, धर्म और अवयव बिम्ब के समान सत्य हैं या मिथ्या ? यदि प्रतिबिम्ब में रूपाधि का व्यावहारिक अभाव मानें और इन्हें प्रातिभासिक ही मानलें तो उसका व्यावहारिक द्रव्य स्वरूप मानना व्यर्थ होगा और यदि उसके रूपादि को व्यावहारिक मानें तो अल्प परिणाम के दर्पण के महत्परिणाम के अनेक प्रतिबिम्ब उत्पन्न नही हो सकेंगे। इसी प्रकार प्रतिबिम्ब को व्यावहारिक द्रव्य कहें तो उपदान रूप दर्पण में दर्पणसदृश्य रूप वाले एक-से प्रतिबिम्ब ही उत्पन्न होने चाहिए, जबकि एक दर्पण में अनेक रूपवाले बहुत-सेप्रतिबिम्ब उत्पन्न होते हैं।

यथार्थ में तो एक रूप वाले उपासना से अपने प्रकार के रूप वाले अनेक उपयोगी कार्य उत्पन्न नही हो सकते और दर्पण के बीच में या उसके अति निकट कोई ऐसा पदार्थ दिखाई नहीं देता जिससे यह कह सके कि अनेक प्रकार के रूप वाले प्रतिबिम्ब उत्पन्न होते हैं। इसलिए प्रतिबिम्ब को किसी भी प्रकार से व्यावहारिक द्रव्य नहीं कह सकते। अथवा दर्पण के अतिनिकट प्रतिबिम्ब का कोई अन्य उपादान दिखाई नहीं देता, वरन् एक मात्र दर्पण ही उपादान हो सकता है, परन्तु उसके उपादानरूप की सिद्धि नहीं हो सकती इस प्रकार 'प्रतिबिम्ब बिम्ब से भिन्न व्यावहारिक द्रव्य है' यह पक्ष भी नहीं।

उपर्युक्त प्रकार या तो यह कह सकते हैं कि सन्निहित दर्पण आदि के निमित्त से मुखादि में अनिर्वचनीय धर्मों की उत्पत्ति होती है। अथवा यह कह सकते हैं कि सन्निहित मुखादि के निमित्त से दर्पणादि में अनिर्वचनीय प्रतिबिम्ब उत्पन्न होते हैं। यदि

विचार पूर्वक देखें तो यह दोनों पक्ष ही युक्ति संगत है।

बोधजन्य प्रतिबिम्बाध्यास की अव्यवहारिकता

उक्त प्रकार अज्ञान को उपादान मानते हुए जगत् के साधारण कारण मूलाज्ञान को प्रतिबिम्बत्व आदि धर्मों अथवा धर्मी का उपादान कहें तो उसके कार्य आकाशादि के समान प्रतिबिम्बत्वादि धर्म या प्रतिबिम्बरूप धर्मी को भी व्यावहारिक सत्य मानना होगा। परन्तु इन्हें पहले कहे प्रकार से अनिर्वचनीय ही मानते है, इससे मूलाज्ञान तो उन अनिर्वचनीयों का उपादान हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार विवरण मतानुसार प्रतिबिम्बत्वादि धर्मों का उपादान यदि मुख-अवच्छिन्न चेतन में स्थित अज्ञान को मान लें और विद्यारण्य के मतानुसार अनिर्वचनीय प्रतिबिम्बों का उपादान दर्पण-अवच्छिन्न चेतन में स्थितअज्ञान को अंगीकार कर लें तो उन अनिर्वचनीय कार्यों में सत्यता की आपत्ति के न रहते हुए भी अनिर्वचनीय की निवृत्तिअधिष्ठान के ज्ञान से ही होती है।

वहाँ पूर्वोक्त प्रकार से प्रतिबिम्बाध्यास के अधिष्ठान मुखावच्छिन्न चेतन या दर्पणावच्छिन्नचेतन हैं और उनके अधिष्ठान का ज्ञान भी मुख का ज्ञान या दर्पण का ज्ञान ही है। परन्तु इन दोनों ज्ञानों के उत्तर काल में भी प्रतिबिम्बों की प्रतीति सभी के अनुभव में आ चुकी है। अतएव उन दोनों चेतनों का आवरक अवस्था का अज्ञान भी प्रतिबिम्बाध्यास का उपादान नहीं बन सकता।

एक ग्रन्थकार द्वारा उक्त शङ्का का समाधान

किसी एक ग्रन्थकार ने उक्त शङ्का का इस प्रकार समाधान किया है कि सीप-रौप्यादि के अध्यासों में यद्यपि अधिष्ठान का

बिवेक होने पर अज्ञान की आवरण और विक्षेपशक्ति के अंशद्वय का निवारण होजाता है, तो भी अनुभवानुसार प्रतिबिम्बाध्यास के अधिष्ठान-ज्ञान से अज्ञानावरण शक्तिरूप अंश ही निवृत्त होता है। अतएव उसके निवृत्त होने पर भी उस अज्ञान का जो विक्षेप क्षण में भी प्रतिबिम्बादि और उनके ज्ञान तो बने ही रहते हैं। इस प्रकार प्रतिबिम्बाध्यास उपाधि-अवच्छिन्न चेतनवर्ति तूला-ज्ञान के ही कार्य हो सकते हैं।

अन्य ग्रन्थकारों द्वारा समाधान

अन्य ग्रन्थकारों के मत में दर्पण आदि का उपादान मूलाज्ञान ही प्रतिबिम्बाध्यासों का उपादान होने से दर्पणादि का ज्ञान होने पर भी प्रतिबिम्बों का आभास होता रहता है। यद्यपि ब्रह्मज्ञान होने पर चेतनावरक अज्ञान और उसके कार्यों का निवारण हो जाता है, परन्तु दर्पण आदि के ज्ञान से दर्पणादि अवच्छिन्न चेतनावरक अज्ञान निवृत्त हो जाता है, फिर भी ब्रह्म-स्वरूप का आवरक अज्ञान निवृत्त नहीं होता। इस प्रकार प्रति-बिम्बाध्यासों का उपादान यदि मूलाज्ञान को मान लें तो दर्प-णादि का ज्ञान होने पर भी प्रतिबिम्बाध्यास हो सकते हैं, मूला-ज्ञान का अर्थ है ब्रह्मात्मस्वरूप का आच्छादक अज्ञान और तूला ज्ञान का अभिप्राय है उपाधि-अवच्छिन्न चेतन का आच्छादक अज्ञान इनके भेद-अभेद पर आगे विचार करेंगे।

दोनों अज्ञानों के भेद पर विचार

उक्त प्रकार से मूलाज्ञान को प्रतिबिम्बाध्यास का उपादान मान लें तो दर्पणादि की भाँति प्रतिबिम्बादि भी व्यावहारिक होने

चाहिए तो भी ब्रह्मज्ञान के बिना ही धर्मों और प्रतिबिम्बों में मिथ्यात्व बुद्धि होने से उन्हें प्रातिभासिक ही समझना चाहिए किंतु मूलाज्ञान को उक्त अध्यासों का उपादान मान लें तो उनमें प्राति-भासिकता असम्भव होती. क्योंकि ब्रह्मज्ञान से दूर होने योग्य मूलाज्ञान का कार्य व्यावहारिक और ब्रह्मज्ञान के बिना दूर हो जाने वाले तूलाज्ञान का कार्य प्रातिभासिक माना गया है।

परन्तु व्याहारिक-प्रातिभासिक का भेद ऐसे करें कि अज्ञान के अतिरिक्त किसी दोष से जन्य न हो, वरन् केवल अज्ञान से ही उत्पन्न हो वह व्यावहारिक और अज्ञानातिरिक्त दोष से जन्य हो वह प्रातिभासिक होता है। क्योंकि दर्पणादि उपाधि से मुख का सम्बन्ध होता है तब ब्रह्मचेतनवर्ति मूलाज्ञान का प्रतिबिम्बत्वादि धर्म रूप या प्रतिबिम्बादि धर्मी रूप परिणाम होता है। परन्तु अधिष्ठान दोनों पक्षों में ब्रह्मचेतन ही माना गया है। इस प्रकार अज्ञान से भिन्न दोषजन्य प्रतिबिम्बाध्यास व्यावहारिक होना सम्भव नहीं है

उक्त अध्यासों के उपादानरूप में तूलाज्ञान की मान्यता

पहिले कहा गया है कि विद्यारण्य-मत के अनुसार अनिर्वच-नीय प्रतिबिम्ब का उत्पन्न होना मान लें तो दर्पणादि-अवच्छिन्न चेतन अधिष्ठान और दर्पणादि-अवच्छिन्न चेतनवर्ति अज्ञान उपा-दान है। ऐसे ही विवरण-मतानुसार प्रतिबिम्बत्वादि धर्मों का उत्पन्न होना माना ले तो मुखावच्छिन्न चेतन अधिष्ठान होगा और मुखावच्छिन्न चेतनस्थ अज्ञान उपादान होजायगा इस प्रकार अधिष्ठान उपादानका भेद-कथन उक्त अध्यासों का उपादान तूला-ज्ञान को मान कर ही किया गया है, अन्य उद्देश्य से नहीं।

मूलाज्ञान की उपादानता से अधिष्ठान का अभेद

परन्तु, दोनों ही पक्षों में मूलाज्ञान को उपादान माननेपर अधिष्ठान भेद नहीं बन सकता और यथार्थ में तो मूलाज्ञान का ही उक्त दोनों अध्यासों का उपादान मानना ही ठीक है। क्योंकि उनका उपादान यदि तूलाज्ञान को मानें और दर्पणादि के ज्ञान से अज्ञान की आवरण-शक्ति के अंश की निवृत्ति ही अंगीकार करके विक्षेप शक्ति के अंश की स्थिति मान लें तो ब्रह्मज्ञान से भी ब्रह्मस्वरूपावरक मूलाज्ञान का केवल आवरण-शक्ति के अंश का ही नष्ट होना मानना पड़ेगा। इसी प्रकार सीप आदि के ज्ञान से सीप आदि-अवच्छिन्न चेतन की आवरण शक्ति रूप तूलाज्ञान अंश का नाश अंगीकार करना होगा। तब व्यावहारिक और प्रातिभासिक दोनों प्रकार के विक्षेपों का हेतु विक्षेपशक्ति रूप अज्ञानांश के शेष रहने से बिदेह मोक्ष में भी उक्त दोनों प्रकार के विक्षेपों के सद्भाव से समूचे विश्व का अनुच्छेद ही रहने से आवरण शक्तिरूप अज्ञानांश के मिटने पर विक्षेप शक्तिरूप अज्ञानांश का शेष रहना संभव नहीं है।

तूलाज्ञानवादी का मत वर्णन

प्रतिबिम्बाध्यास के उपादान तूलाज्ञान वादियों का यह कथन है कि आवरण-शक्ति रूप अज्ञानांश के मिटने पर विक्षेपशक्तिरूप अज्ञानांश का शेष रहना अस्वाभाविक है। पर, विक्षेपशक्तिरूप अज्ञानांश तभी शेष रहता है, जबकि उसकी निवृत्ति में कोई प्रतिबन्धक हो। जैसे कि ब्रह्मज्ञान से आवरण शक्तिरूप अज्ञानांश के नष्ट होने पर भी उसके नाश में प्रारब्धकर्म प्रतिबन्धकहुआ कहते है और विशेष शक्तिरूप अज्ञानांश उसी समय तक शेष रहता है, जिस समय तक प्रारब्ध कर्मों का क्षय नहीं होता।

जब प्रारब्ध रूप प्रतिबन्धक नष्ट होजाता है तब विक्षेपशक्ति रूप अज्ञानांश की निवृत्ति भी स्वाभाविक रूप से होजाती है भेद इतना ही है कि आवरणशक्ति रूप अज्ञानांश तो महावाक्यजन्य प्रमावृत्ति से निवृत्ति हो जाने पर भी प्रारब्धवश देह के रहनेतक पूर्व ब्रह्माकार वृत्त का रहना तो संभव नहीं और विक्षेप वृत्ति के लिए मरने से पहिले काल में महावाक्य विचार विधान नहीं है, क्योंकि मरने से पहले जो मूर्च्छाकाल होता है, उसमें महा-वाक्य का विचार भी नहीं किया जा सकता। इसलिए आवरण शक्ति के नाश का हेतु तत्वज्ञान और विक्षेपशक्ति की निवृत्ति का हेतु तत्वज्ञान, उसके संस्कार सहित चिन्तन मानते हैं।

इस प्रकार मूलाज्ञान की विक्षेपशक्ति के नाश में प्रतिबन्धक जैसे प्रारब्ध कर्म होते हैं, वैसे ही प्रतिबिम्बाध्यासों में विक्षेप शक्ति के नाश में प्रतिबन्धक मुखादि बिम्बों से दर्पणादि उपाधियों का सम्बन्ध ही होता है और उसके होने पर आवरणांश नष्ट होने पर भी प्रतिबिम्बादि विक्षेप नष्ट नहीं होते। फिर बिम्बोपाधि के सम्बन्धरूप प्रतिबन्धक की निवृत्ति हो जाने पर विक्षेप की भी निवृत्ति होजाती है। परन्तु सीप-चाँदी आदि अध्यासों में आवरण के नष्ट होने पर विक्षेप निवृत्ति में जब कोई प्रतिबन्धक शेष नहीं रहता, तब विक्षेप भी शेष नहीं रह पाता। इस प्रकार विक्षेप की निवृत्ति में प्रतिबन्धक के अभाव सहित अधिष्ठान का ज्ञान ही हेतु होता और मोक्ष दशा में प्रारब्धरूप प्रतिबन्धक नष्ट हो जाता है, जिससे संसार का उपलम्भ भी नहीं हो सकता।

इस प्रकार आवरण शक्ति के नष्ट होने के अनन्तर भी विक्षेप शक्ति का सद्भाव मानने पर पूर्वोक्त दोषाभाव से तूलाज्ञान को ही प्रतिबिम्बाध्यासों का उपादान अंगीकार करना चाहिए।

उक्तमत का खण्डन

उक्त कथन भी युक्ति-सगत नहीं, क्योंकि यज्ञदत्त को देवदत्त के मुख और दर्पनादि उपाधि का वास्तविक प्रत्यक्ष होने के उत्तर क्षण में भी, दर्पण से देवदत्त के मुख का सम्बन्ध रहने पर यज्ञदत्त को देवदत्त के मुख में जो बिम्ब प्रतिबिम्बादि धर्मों का अध्यास रहता है, यह विवरणकार का मत है और विद्यारण्य के मत से दर्पण में देवदत्त के मुख का प्रतिबिम्बाध्यास रहता है, जो कि न रहना चाहिए। क्योंकि उक्त अध्यासों के निवृत्त होने में बिम्बोपाधि का सम्बन्ध ही प्रतिवन्धक होने और अधिष्ठान रूप मुख या दर्पण के ज्ञान के समय उक्त प्रतिबन्धक का अभाव होने से प्रतिबन्धक के अभाव सहित अधिष्ठान ज्ञान होता है। क्योंकि दोनों मतों में अध्यासों के आकार का भेद होने तथा उसके हेतु विक्षेपशक्ति विशिष्ट अज्ञानाश का निवारण होने से उपादानाभाव से उक्त स्थल में देवदत्त के मुख का प्रतिबिम्ब भ्रम यज्ञदत्त को नहीं होना चाहिए, परन्तु ऐसा होता है। जब कि प्रतिबिम्ब के अध्यास का उपादान ब्रह्मचेतन में स्थित मूलाज्ञान ही मान लें तो उक्त उदाहरण में देवदत्त के मुख और दर्पण का ज्ञान होने पर भी ब्रह्मरूप अधिष्ठान का अभाव होने और मूलाज्ञानरूप उपादान का सद्भाव होने से उक्त अध्यास हो सकता है। इसलिए मूलाज्ञान को ही प्रतिबिम्बाध्यास का उपादान मानना चाहिए।

मूलाज्ञान की उपादानता के पक्ष में शङ्कासमाधान

परन्तु उक्त पक्ष में यह शङ्का हो सकती है कि यदि प्रतिबिम्बाध्यास का उपादान ब्रह्मचेतनस्थ मूलाज्ञान को ही मानें तो बिना ब्रह्मज्ञान के प्रतिबिम्बाध्यास का निवारण ही नहीं होना

चाहिए। क्योंकि अधिष्ठान का यथार्थ ज्ञान होने से ही अज्ञान के दूर होने पर भ्रम निवृत्ति होता है और उक्त पक्ष में ब्रह्मचेतन ही प्रतिबिम्बाध्यास का अधिष्ठान अंगीकार किया है। तब यदि मुख दर्पण आदि के ज्ञान से मूल अज्ञान की भी निवृत्ति मान लें तो उपादानाभाव से मुख-दर्पण आदि व्यावहारिक पदार्थों का अभाव होना चाहिए। और यदि मूलाज्ञान को उपादान मान लें तो उपादान के विद्यमान होने में मुखादि के ज्ञान से बिम्बोपाधि के निवृत्तिकाल में भी प्रतिबिम्बाध्यास का निवारण नहीं होना चाहिए।

इसका समाधान यह है कि आवरणशक्ति और विक्षेपशक्ति के भेद से अज्ञान दो प्रकार के अंश वाला है और प्रतिबन्धक-हीन अधिष्ठान के ज्ञान से शेष रहा अज्ञान नष्ट होता है। परन्तु जब तक प्रारब्ध कर्म प्रतिबन्धक रहते हैं तब तक ब्रह्मरूप अधि-ष्ठान का ज्ञान होने पर भी विक्षेप के हेतु अज्ञानांश का निवारण नहीं होता। जैसे जहाँ घटादि अनात्मपदार्थ गोचर ज्ञान हो तो अज्ञान की निवृत्ति न होने पर भी जब तक घटादि का स्फुरण रहता है तब तक अन्धकारावृत घर के एक स्थान में प्रकाश से अन्धकार के सकुचित होने के समान ही अज्ञानजन्य आवरण भी संकुचित होजाता है। इसी प्रकार मुख और दर्पणादि के प्रत्यक्ष से ब्रह्माच्छादक मूलाज्ञान का निवारण न होने पर भी मुख-दर्प-णादि के ज्ञान से अज्ञानोत्पन्न प्रतिबिम्बाध्याय रूप विक्षेप का अज्ञानरूप उपादान में जो विलय होता है, वह संकोच ही है। उपादान में विलय ही कार्य की सूक्ष्मावस्था है। इस प्रकार अधिष्ठान के ज्ञानाभाव से अज्ञान के निवृत्त हुए बिना प्रतिबिम्बा-ध्यास की बाधरूप निवृत्ति हो सकने से भी, मुख-दर्पणादि के ज्ञान से प्रतिबन्धकाभाव होने से कार्य का उपादान में विलयरूप निवारण होता है।

एकदेशी के प्रकार से बाध का लक्षण

किन्हीं एकदेशी के मतानुसार इस प्रकार संसारदशा में प्रतिबिम्बाध्यास का बाध संभव नहीं। इस मत में अभाव के निश्चय को बाध नहीं माना है, क्योंकि 'मुख से दर्पणस्थत्व नहीं है' या 'दर्पण में मुख नहीं है' इस प्रकार के विवरणकार और विद्यारण्य के मतभेद से दोनो प्रकार के अध्यासों के अभाव का अनुभव सर्व अविद्वानों को भी है। तो भी संसारदशा में इनका वाध कहना नहीं बनता। इसलिए जो लोग ब्रह्मज्ञान के बिना प्रतिबिम्बाध्यासों का बाध नहीं मानते, उनके मत में ता केवल अधिष्ठान शेष ही वाध है। उक्त प्रकार संसारदशा में प्रतिबिम्बाध्यासों के अभाव का निश्चय होने पर भी अज्ञान की सत्ता से अधिष्ठान का शेष नहीं, वरण अधिष्ठान तो अज्ञान-विशिष्ट ही रहता है। इस प्रकार इस मत में अधिष्ठान ज्ञान न होने और प्रतिवन्धकहीन मुख-दर्पण आदि के प्रत्यक्ष से बन्धरूप अज्ञान की निवृत्ति न होने पर भी अपने उपादान में कार्य का विलय संकोच होता है। उपादानरूप से कार्य की स्थिति सूक्ष्मावस्था कहलाती है।

ब्रह्मज्ञान के बिना प्रतिबिम्बाध्यास का बाध

अनेक ग्रन्थकारों ने माना है कि ब्रह्मज्ञान के बिना और मूलाज्ञान के नष्ट हुए बिना भी मूलाज्ञानजन्य प्रतिबिम्बाध्यास का बाध हो सकता है। उनका तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व-निश्चय या अभाव-निश्चय ही बाध कहलाता है। वहाँ अनेक स्थानों में तो जिस पदार्थ के अभाव या मिथ्यात्व का निश्चय होने पर अधिष्ठान मात्र ही शेष रहता है, अज्ञान नहीं, इसीलिए किसी ने केवल अधिष्ठान के शेष को बाध कहा है, परन्तु अधि-

ष्ठान मात्र का शेष ही बाध का लक्षण नहीं हो सकता। यदि बाध का केवल यही लक्षण हो तो स्फटिक में लाली आदि सोपाधिक भ्रम हैं, वहाँ अधिष्ठान ज्ञान के अनन्तर भी जपापुष्प और स्फटिक के परस्पर सम्बन्धरूप प्रतिबन्धक के होते हुए भी लाली के अध्यास की निवृत्ति नहीं होनी चाहिए। वैसे ही प्रारब्ध कर्मों के प्रतिबन्धक रहते हुए विद्वान के भी देहादि की निवृत्ति नहीं होती और यदि अधिष्ठान शेष को ही बाध का लक्षण कहें तो इश दशा में भी देह की निवृत्ति होजानी चाहिए थी। इस प्रकार इन दोनों स्थलों में कार्य विशिष्ट अज्ञान और अधिष्ठान दोनों के एक स्थान से रहने से और केवल अधिष्ठान शेष के अभाव मात्र से बाधरूप व्यवहार नहीं बनना चाहिए। परन्तु श्वेत स्फटिक के प्रत्यक्ष तो लालिमा के अध्यास का और जीवन्मुक्ति को ब्रह्म-साक्षात्कार होने पर देह के रहते हुए भी संसार का बाध हो जाता है। इस प्रकार विक्षेपमय अधिष्ठान में बाध-व्यावहार का निरूपण सभी ग्रन्थकारों ने किया है, वहां अध्यस्त में मिथ्यात्व का अथवा अभाव का निश्चय होना ही बाध्य का स्वरूप बन सकता है।

इस प्रकार प्रतिबन्धकहीन मुख और दर्पणादि का ज्ञान होने से मुख में प्रतिबिम्बत्व आदि धर्मों का या दर्पण में प्रतिबिम्बादि धर्मों के मिथ्यात्व या अभाव का निश्चय होता है। अतएव यह कहना असंगत है कि बिना ब्रह्मज्ञान के प्रतिबिम्बों के अध्यासों का बाध नहीं होता।

प्रत्यक्षज्ञान से भी प्रतिबिम्बाध्यासों की निवृत्ति

जैसे अधिष्ठान के ज्ञान से अध्यास का बाध निवृत्ति होता है, वैसे ही मुख-दर्पण आदि के प्रत्यक्ष ज्ञान से भी प्रतिबन्धक शून्य

काल में प्रतिबिम्बों का निवृत्त होना अनुभव में आता हैं। अतएव अधिष्ठानज्ञान के समान प्रतिबन्धक के अभाव सहित मुख-दर्पण आदिकाज्ञान भी अध्यास की निवृत्तिकाहेतु होना मानना चाहिए और मुख दर्पणादि का ज्ञान प्रतिबिम्बाध्यास के निवारण का कारण हो सकता है । क्योंकि अज्ञान का विरोधी समान ज्ञान ही है, भिन्न विषयक ज्ञान नहीं । इसलिए मुख-दर्पणादि ज्ञान का विरोध मुख-दर्पणादि-अवच्छिन्न चेतनवर्ति तूलाज्ञान से है,ब्रह्मा-च्छादक मूलाज्ञान से नहीं । इसलिए मुखदर्पणादि का विरोध ब्रह्मज्ञान के विरोधी मूलाज्ञान से नहीं और मुख-दर्पणादि के ज्ञान से प्रतिविम्ब के अध्यास का उपादान मूलाज्ञान निवृत्त नहीं भी होता, तो भी मूलाज्ञान के निवृत्ति न होने पर भी पूर्व ज्ञान की निवृत्ति उसके विरोधी ज्ञान से होना अनुभवसिद्ध ही है ।

मूलाज्ञान की निवृत्ति के बिना भी प्रतिबिम्बाध्यास का नाश

अभिप्राय यह हैकि रस्सी के अज्ञान से सर्प-भ्रमहोने परदण्ड भ्रम होजाय तो दण्ड के ज्ञान से सर्प के उपादान तूलाज्ञान का तो निवारण नही भी होता, क्योंकि अज्ञान की निवृत्ति अधिष्ठान के प्रत्यक्ष ज्ञान से ही सभव है । इसलिए रस्सी के ज्ञान बिना रस्सी चेतनस्थ अज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती । क्योंकि यदि दण्डज्ञान से रस्सी चेतनस्थ अज्ञान का निवारण हो सकता होतो उपादान के न होने से दण्डाध्यास का स्वरूप बन ही नहीं सकता। तो भी अज्ञान के मिटे बिना दण्डज्ञान से सर्पज्ञान की निवृत्ति के समान 'मुख में प्रतिबिम्ब नहीं है' अथवा 'दर्पण में मुख नहीं है' ऐसा मुख-दर्पण का ज्ञान प्रतिबिम्बाध्यास का विरोधी होता है,

इसलिए भी प्रतिबिम्बाध्यास के उपादान मूलाज्ञान के नष्ट हुए बिना प्रतिबिम्बाध्यास तो नष्ट हो ही जाता है। यदि उक्त ज्ञान से मूलाज्ञान का नष्ट होना कहें तो मूलाज्ञान के जो कार्य मुख-दर्पणादि व्यावहारिक पदार्थ है, वे भी नहीं रहने चाहिए। इस लिए मूलाज्ञान के निवारण बिना भी विरोधी विषयक होने के कारण मुख-दर्पणादि के ज्ञान ही प्रतिबिम्बाध्यास को नष्ट करने वाले हो जाते हैं। जैसे भाव और अभाव में परस्पर विरोध होता है, वैसे ही उनके ज्ञानों में भी परस्पर विरोध समझना चाहिए। जैसे स्थाणु में स्थाणुत्व ज्ञान के अनन्तर पुरुषत्व भ्रम हो तो 'स्थाणुत्व नहीं हैं' ऐसे विरोधी भ्रमज्ञान से भी पूर्व प्रमा ज्ञान का निवारण हो जाता है तथा घटयुक्त भूतल में घटाभाव का भ्रमज्ञान होने के अनन्तर घट-इन्द्रिय सयोग होने पर 'भूतल घट युक्त है'ऐसे विरोधी प्रमाज्ञान से पहले भ्रमज्ञान मिट जाता है। वैसे ही रस्सी में सर्पज्ञान के बाद दण्डज्ञान होजाय तोउससे सर्पज्ञान मिट जाता है। इस प्रकार कहीं विरोधी भ्रमज्ञान से प्रमाज्ञान की, कहीं विरोधी प्रमाज्ञान से भ्रमज्ञान की और कहीं एक भ्रमज्ञान से द्वितीय भ्रमज्ञान नष्ट हों जाता है। परन्तु, एक भ्रम से दूसरे भ्रम की अथवा भ्रम से प्रमा की निवृत्ति होती हो, तो भ्रमोपादान अज्ञान के सद्भाव में ही पहले ज्ञान निवृत्त हो जाते हैं, जबकि प्रमा से भ्रम ज्ञान मिटे तो अधिष्टान का यथार्थ ज्ञान प्रमारूप होता है, इसलिए वह अज्ञान युक्त भ्रम को मिटाता है।

इस प्रकार अधिष्ठान-ज्ञान के बिना तथा मूलाज्ञान की निवृत्ति के बिना भी मुख-दर्पणादि के ज्ञान से भी पहला ज्ञान मिट जाता है। परन्तु अधिष्ठान के यथार्थ ज्ञान मात्र से पहले ही भ्रमज्ञान के मिटने का कोई नियम नहीं, वरन् अन्य भ्रमज्ञान से भी पहले

के भ्रमज्ञान का निवृत्त होना संभव है। फिर [illegible] अधिष्ठान के यथार्थ ज्ञान के बिना अज्ञान की निवृत्ति न हो [illegible] केवल अधि-ष्ठान की विशेष प्रभा से ही अज्ञान का निवारण हो जाता है। यहाँ विवरणकार के मतानुसार तो मुख में प्रतिबिम्बत्व, दर्पण-स्थत्व और प्रत्यमुखत्व होने का अध्यास होता और उसका विरोधी मुख में प्रतिबिम्बत्वादि नहीं है' ऐसा ज्ञान होता है।

विद्यारण्य के मत में 'दर्पण में मुख है' यह अभ्यास और 'दर्पण में मुख नहीं' ऐसा विरोधीज्ञान होता है। नैयायिकों ने भी भाव-अभाव में परस्पर विरोध मानकर उनके ज्ञानों का भी विषय विरोध से विरोध अंगीकार किया है। इस प्रकार मूला-ज्ञान को प्रतिबिम्बाध्यासों का उपादान मानने पर भी बिम्बो-पाधि के सन्निधानरूप प्रतिबन्धयुक्त समय में बिना मूलाज्ञान के मिटे भी केवल मुख-दर्पणादि के ज्ञान से ही उक्त प्रतिबिम्बा-ध्यास नष्ट हो सकते हैं।

पंचपादिकानुसार प्रतिबिम्बाध्यास का उपादान होने की तूलाज्ञान को मान्यता

इस पक्ष में यह शंका हो सकती है कि भाष्यकार के मत में पद्मपादाचार्य नामक एक सर्वज्ञ विद्वान् हुए हैं, उन्होंने शारीरक भाष्य की टीका पंचपादिका' नाम से की है। उस टीका में निम्न मत व्यक्त किया गया है।

'सर्प-चांदी आदि भ्रमों में रस्सी-सीप के ज्ञान से सर्प-चांदी आदि का उपादान अज्ञान मिटता है, जिससे सर्प-चांदी आदि के अध्यास भी मिट जाते हैं। यदि रस्सी-सीप आदि के ज्ञान को सर्प-चांदी आदि के नाश में साक्षात् कारण मान लें तो 'उपादान

के नाश से भावकार्य नष्ट हो जाता है' यह नियम भंग होजायगा। परन्तु यदि यह मान ले कि 'अधिष्ठान के ज्ञान से अज्ञान नष्ट होता है और अज्ञान नष्ट होने से अध्यास भी नष्ट हो जाता है' तो उक्त नियम में बाध नहीं बनता ।

अंधकार के समान अज्ञान में भी भावरूपता होते हुए भी अनादि होने के कारण अज्ञान कार्य संभव न होने से अज्ञान का नाश तो अधिष्ठानज्ञान से ही हो सकता है, परन्तु भावकार्य सर्पादि अध्यासों का नाश उपादानरूप अज्ञान के मिटे बिना संभव ही नहीं है। वेदान्तानुसार घटध्वस का निवारण अंगीकार किया गया है, परन्तु अभाव पदार्थ का उपादान कारण न होने से उपापान के नष्ट हुए बिना भी घटध्वंस रूप कार्य नष्ट होता है, तो भी घटध्वंस भावकार्य नहीं हो सकता।

इस प्रकार भावकार्य के नष्ट होने में उपादान के नाश का नियत हेतुता के सरक्षणार्थ पंचपादिका में अज्ञान की निवृत्ति से ही अध्यास की निवृत्ति में अधिष्ठान को हेतुरूप माना है और अज्ञान-निवृत्ति को छोड़कर केवल अधिष्ठान ज्ञान को ही अध्यास निवृत्ति प्रत्यक्षहेतु नहीं माना है। परन्तु मूलाज्ञान को प्रतिबिम्बाध्यास का उपादान मान लें तो पूर्वोक्त प्रकार से अज्ञान मिटे बिना ही प्रतिबिम्बाध्यास का मिटना मानना होगा जिसके कारण उक्त पंचपादिका के बचन से विरोध होता है और तूलाज्ञान को उक्त अध्यास का उपादान मान लें तो विरोध नहीं होता। क्योंकि उनके मत में विवरणकार के अनुसार तो मुखावच्छिन्न चेतन में स्थित अज्ञान धर्माध्यास का उपादान होता है और विद्यारण्य के अनुसार दर्पणावच्छिन्न चेतन में स्थित अज्ञान धर्मी अध्यास का हेतु बनता है। प्रतिबन्धकहीन समय में मुख-ज्ञान या दर्पण-ज्ञान से क्रमशः वे अज्ञान मिटकर

उपादानरूप अज्ञान की निवृत्ति से प्रतिबिम्बाध्यास का निवारण होता है इस प्रकार तूलाज्ञान को प्रतिबिम्बाध्यास का उपादान अंगीकार करना पंचपादिका—सम्मत है और मूलाज्ञान को उपादान मानना उसके विरुद्ध। इस भाँति यह तूलाज्ञान को प्रतिबिम्बाध्यासों का उपादान अंगीकार करने वालों का पूर्वपक्ष कहा गया है।

उक्त शंका का निराकरण

उक्त वचनों के अनुसार तूलाज्ञान को प्रतिबिम्बाध्यास का उपादान मान लेने पर भी पंचपादिका के वाक्यों से विरोध का निराकारण नहीं बनता। यथा—

यज्ञदत्त को दर्पण-सम्बन्ध शून्य देवदत्त के मुख का या देव-दत्त मुख-रहित दर्पण का प्रत्यक्ष होने पर उत्तर क्षण में देवदत्त मुख का दर्पण से सम्बन्ध हो तो प्रतिबिम्बाध्यास होता है। परन्तु मूलाज्ञान को उपादान मान लें तो मुख—दर्पण के ज्ञान मूलाज्ञान का निवारण नहीं होता, वरन् मुखज्ञान से मुख अव-च्छिन्न चेतनस्थ अज्ञान की और दर्पण-ज्ञान से दर्पण-अवच्छिन्न चेतनवर्ति अज्ञान का ही निवारण होने से मुख-दर्पण साक्षात्कार के उत्तर क्षण में भी मुख-दर्पण के सन्निधान से पुनः प्रतिबिम्बा-ध्यास हो सकता है। क्योंकि मुख और दर्पण के साक्षात्कार से तूलाज्ञान के *आवरण-शक्ति-विशिष्ट* अंश के नष्ट होजाने पर भी निक्षेपशक्ति विशिष्ट अंश के निवृत्त न होने से तूलाज्ञान वादी के ढग से भी विशिष्ट ज्ञात अधिष्ठान में अध्यास हो सकने पर भी यहाँ उसका यह कहना नहीं बनता कि मुख-दर्पण का परस्पर वियोग होने पर प्रतिबन्धक के अभाव सहित अधिष्ठान ज्ञान से अज्ञान के निवारण द्वारा ही अध्यास का निवारण हुआ है, वरन्

यही कहना होगा कि अज्ञान के मिटे बिना ज्ञान से अध्यास का साक्षात् निवारण होता है। क्योंकि रस्सी के ज्ञान से सीप का अज्ञान नष्ट नहीं होता और इसीलिए ज्ञान से केवल अज्ञान नष्ट नहीं होता वरन् ज्ञान के समान विषयक अज्ञान ही नष्ट होता हैं जबकि यज्ञदत्त को अध्यास से पहले ही देवदत्त के मुख और दर्पण का सामना हुआ हो तब उसी से आवरण का नष्ट होना स्वयं सिद्ध होने से मुख-दर्पण में पहिले अज्ञानजन्य आवरण और उसमें ज्ञान की विषयता नहीं है। अतएव तूलावादी को यहाँ 'अज्ञान का विरोधी समानविषयक ज्ञान' अथवा 'अज्ञान की 'अज्ञान का विरोधी समानविषय ज्ञान' अथवा 'अज्ञान की निवृत्ति बिना अध्यास की निवृत्ति का असंभव' इन दोनों नियमों का नाश मानना होता है। इस प्रकार तूलाज्ञान को प्रतिबिम्बाध्यास का उपादान मान लें तो भी पचपादिका से विरोध का निराकरण नहीं होता।

तूलाज्ञान में स्वप्न की उपादानता

तूलाज्ञान में स्वप्न की उपादानता कहने का यह कारण है कि आवरण-विक्षेप शक्ति युक्तता अज्ञान का लक्षणहै और स्वप्नावस्था में जाग्रत्द्रष्टा-दृश्य का आवरण अनुभवसिद्ध है, इसलिए निद्रा अज्ञान की अवस्था विशेष है। जैसे कोई ब्राह्मण जाति का देवदत्त नामक पुरुष जाग्रत्-काल में अपने पिता आदि के मरणोपरान्त उनका दाह-श्राद्ध आदि करके धन-सम्पत्ति एवं पुत्रादि के सहित सोवे तब स्वप्न में स्वयं को क्षत्रितजातीय यज्ञदत्त नामक बाल्यावस्था को प्राप्त और अन्न-वस्त्रादि के अभाव से पीड़ित होकर स्वयं को अपने पिता आदि की गोद में रोता हुआ अनुभव करे। यहाँ यदि मूलाज्ञान से जाग्रत्काल के स्वाभाविक द्रष्टा-दृश्य का आवरण कहें तो वे जाग्रत्काल में भी आवृत्त होने

चाहिए। क्योंकि मूलाज्ञान के अतिरिक्त जाग्रत् काल में किसी अन्य आवरणकर्त्ता की प्रतीति नहीं होने से यह मानना होगा कि निद्रा ही स्वप्न में आवरण करती ओर निद्रा ही स्वप्न के पदार्थाकार परिणाम को प्राप्त होने से निद्रा आवरण-विक्षेपशक्ति विशिष्ट तथा निद्रा में अज्ञान के लक्षण घटित होते हैं, इसलिए वह अज्ञान की अवस्था विशेष होती है। परन्तु तूलाज्ञान आदि वाला है, क्योंकि मूलाज्ञान द्वारा आगन्तुकाकार विशिष्ट हुए उपाधि-अवच्छिन्न चेतन का किंचित् आवरण हो तब वही अवस्थाऽज्ञान या तूलाज्ञान कहलाती है। इस प्रकार आगन्तुका-कार विशिष्ट होने के कारण तूलाज्ञान सादि है और जाग्रत्— भोग के सेतुभूत कर्मों का उपराम हो जाना ही तूलाज्ञान के उत्पन्न होने में निमित्त कारण है। इस प्रकार मूलाज्ञान का ही आकार विशेष होने के कारण तूलाज्ञान का उपादान मूलाज्ञान ही है व्यावहारिक द्रष्टा में निद्रारूप तूलाज्ञान से आवृत्त प्राति-भासिक द्रष्टा को अध्यस्त तथा व्यावहारिक दृश्य में निद्रा से आवृत्त प्रातिभासिक दृश्य को अध्यस्त समझना चाहिए। इससे प्रातिभासिक द्रष्टा का अधिष्ठान व्यावहारिक द्रष्टा होता है और प्रातिभासिक दृश्य का अधिष्ठान होता है व्यावहारिक दृश्य परन्तु जब जाग्रत्-भोग के सामने कर्म होते हैं, तब जाग्रत् के पुनः खड़े होने पर ब्रह्मज्ञान शून्य पुरुषों को भी द्रष्टा-दृश्य का होने वाला व्यावहारिक ज्ञान ही स्वप्न के अधिष्ठान का ज्ञान होता है। उससे तूलाज्ञान रूप उपादान मिटकर प्रातिभासिक द्रष्टा दृश्य का भी निवारण हो जाता है।

इस पक्ष में यह शंका हो सकती है कि पूर्वोक्त प्रकार से जाग्रत् द्रष्टा और स्वप्न-द्रष्टा का भेद है ही, तो फिर अन्य द्रष्टा के अनुभव हुए की दूसरे को स्मृति होती हो तो देवदत्त ने जो अनुभव किया, उसकी स्मृति यज्ञदत्त को भी होनी चाहिए। परन्त

स्वप्न में अनुभव किये की स्मृति तो जाग्रत्-काल में ही होती है, अतएव द्रष्टा का भेद मानने से स्मृति संभव नहीं हो सकती।

उक्त शंका का समाधान

उपर्युक्त शंका का यह समाधान है कि अन्य के अनुभूत की स्मृति अन्य को नहीं होती और अपने अनुभूत की स्मृति अपने को ही होती है। परन्तु देवदत्त यज्ञदत्त का परस्पर तादात्म्य नहीं और जाग्रत्-द्रष्टा में स्वप्न द्रष्टा अध्यस्त है, इसलिए उसमें उसका तादात्म्य है, क्योंकि अध्यस्त पदार्थ का स्व-अधिष्ठान में तादात्म्य तो है ही। इस प्रकार स्वप्नद्रष्टा जाग्रत्-द्रष्टा के तादात्म्य से युक्त है और उसके अनुभव किये हुए की स्मृति जाग्रत्-द्रष्टा को होती है, परन्तु यज्ञदत्त में देवदत्त के अनुभव किये हुए की स्मृति की आपत्ति यज्ञदत्त को नहीं होती। इस प्रकार निद्रारूप तूलाज्ञान ही स्वप्नाध्यास का उपादान सिद्ध होता है।

व्यावहारिक जीवजगत् स्वप्न का अधिष्ठान

व्यावहारिक द्रष्टा भी दृश्य के समान अनात्म होने के कारण जड़ होता है, इसलिए पूर्वोक्त मत असंगम है। व्यावहारिक द्रष्टा में सत्ता-स्फूर्तिप्रदानता स्वरूप अधिष्ठानता नहीं बनती, वरन् स्वप्न प्रपंच का अधिष्ठान चेतन मानना चाहिए। अतएव सर्प चाँदी का अधिष्ठान रस्सी-सीप कहा है वहाँ इस कथन का अभिप्राय रस्सी-अवच्छिन्न चेतन और सीप-अवच्छिन्न चेतन के अधिष्ठान में होना ही है अनेक ग्रन्थों ने स्वप्न प्रपंच का अधिष्ठान चेतन कहा होने से अहङ्कार-अवच्छिन्न चेतन या अहंकार अवच्छिन्न चेतन स्वप्न का अधिष्ठान मानना ही संगत है।

तूलाज्ञान में अहंकार-अवच्छिन्न चेतन की उपादानता और जाग्रत-बोध से निवृत्ति

उन दोनों में से अहंकारावच्छिन्न चेतन को अधिष्ठान मानें तो मूलाज्ञान से चेतन का आवरण नहीं हो सकेगा, और तब अहंकारावच्छिन्न चेतन का आच्छादक तूलाज्ञान ही स्वप्न का उपादान बन सकेगा और ब्रह्मज्ञान के बिना जाग्रत् का बोध होने पर उसका निवारण हो सकेगा।

अथवा प्रतिबिम्बाध्यास के निरूपण में बताई गई रीति से जाग्रत्-बोध को विरोधी ज्ञान अंगीकार करके उसके स्वप्नाध्यास की निवृत्ति मान सकते हैं। परन्तु विरोधीज्ञान से आवरण हेतु अज्ञान मिट नहीं सकता वरन् विक्षेप हेतु अज्ञानांश का ही नाश होता है। यदि विरोधी ज्ञान से अशेष ज्ञान की निवृत्ति कहें तो दण्ड के ज्ञान से सर्प के ज्ञान की निवृत्ति के स्थान में उपादान और हेतु के न होने से दण्ड-भ्रम ही संभव न होगा क्योंकि यहाँ यदि विक्षेप अंश भी अशेष रूप से निवृत्त होजाय तो दण्ड के भी विक्षेप होने से उसका उपलम्भ सम्भव नहीं। इस प्रकार यही मानना ठीक है कि एक अज्ञान में अनन्त विक्षेपों की जो अनन्त शक्तियाँ होती हैं, उनमें से एक का ही विरोधी ज्ञान से नाश होता है और अपर शक्तियों के शेष रही आने से कालान्तर में उसी अधिष्ठान में पुनःअध्यास हुआ करता है। इस प्रकार जाग्रत्-बोध से अतीत स्वप्न का बाध होने पर भी आगामी स्वप्नविक्षेप हेतुक शक्ति के अवशिष्ट रहने से दिनान्तर में स्वप्नाध्यास पुनः होने के कारण अहङ्कार अनवच्छिन्न चेतन भी स्वप्न का अधिष्ठान बन सकता है।

देह के अन्तर्देशस्थ में ही अधिष्ठानता का अंगीकार

परन्तु अहंकार-अनवच्छिन्न चेतन को स्वप्न का अधिष्ठान मान लें तो भी देह के अन्तर्देशस्थ चेतन का ही अधिष्ठान होना संभव है। यदि बाह्यदेशस्थ चेतन को अधिष्ठान मान लें तो प्रत्येक घटादि की प्रतीति सभी को होने के समान ही प्रत्येक स्वप्न की प्रतीति भी सभी को होनी चाहिए और घटादि एवं सर्प-चांदी आदि की प्रत्यक्षता में इन्द्रिय व्यापार की अपेक्षा होने के समान ही स्वप्न की प्रत्यक्षता में भी इन्द्रिय व्यापार अपेक्षित होना चाहिए । परन्तु यदि देह के अन्तर्देशस्थ चेतन ही स्व—प्नाध्यास मान लें तो वह प्रमाता-संबंधी होने के कारण सुखादि के इन्द्रियव्यापार बिना ही प्रत्यक्ष होने के समान स्वप्नाध्यास का भी इन्द्रियव्यापार के बिना ही प्रत्यक्ष होना संभव है। इस प्रकार अहङ्कारावच्छिन्न या अहङ्कार-अनवच्छिन्न चेतन स्वप्न का अधिष्ठान होता है, यह दोनों ही मत मान्य हैं।

अहङ्कार-अनवच्छिन्न में स्वप्नाधिष्ठान की योग्यता

यदि कहें कि अहंकारानवच्छिन्न चेतन स्वप्न का अधिष्ठान है तो उसमें दो भेद है। अविद्या में प्रतिबिम्ब रूप जीव चेतन और अविद्या में बिम्बरूप ईश्वर चेतन दोनों ही अहङ्कार-अनव-च्छिन्न हैं और व्यापक होने के कारण उन्हें देह के अन्तः कह सकते है। क्योंकि चेतन में बिम्ब–प्रतिबिम्ब का कोई भी भेद स्वाभाविक नहीं होता। यदि यह स्वाभाविक होता तो अन्तर्दे-शस्थ एक चेतन में ही दो विरुद्ध धर्मों की आश्रता नहीं हो सकती। परन्तु यथार्थ में तो बिम्ब-प्रतिबिम्बतारूप-ईश्वर-जीवता के उपाधिकृत होने से एक ही चेतन में अज्ञान के सम्बन्ध से

कल्पित बिम्बता-प्रतिबिम्बता के कारण देहस्थ एक ही चेतन में बिम्बता-प्रतिबिम्बता रूप दो प्रकार का व्यवहार होता है।

इस भांति यदि उस एक ही अन्तर्देशस्थ चेतन में स्वप्नाध्यास की अधिष्ठानता का अवच्छेदक अन्तःकरण को मान लें, तब तो अहङ्कार-अवच्छिन्न चेतन में अधिष्ठानता सिद्ध होसकती है और उसे अवच्छेदक न मानें तो अहकार-अनवच्छिन्न चेतन में अधिष्ठानता सिद्ध होती है। जैसे एक ही देवदत्त में पुत्र की दृष्टि से विवक्षा होने पर वह पिता और जनक की दृष्टि से विवक्षा होने पर वह पुत्र कहलाता है। इस प्रकार एक ही व्यक्ति में पितृता और पुत्रता रूप दो विरुद्ध धर्मों के व्यवहार के समान एक ही अन्तर्देशस्थ चेतन में अहंकार-अवच्छिन्नत्व और अनच्छिन्नत्व एवं बिम्बत्व और प्रतिबिम्बत्वरूप विरुद्ध धर्मों का व्यवहार बन सकता है।

इस प्रकार अविद्या में प्रतिबिम्बरूप जीव चेतन या बिम्बरूप ईश्वर चेतन में स्वप्न की अधिष्ठानता स्वीकार करके अहंकार-अनवच्छिन्न चेतन में स्वप्नाध्यास मान लें तो भी देहदेशस्थ अन्तःचेतन प्रदेश में ही स्वप्न की अधिष्ठानता हो सकती है, यही मान्यता ठीक है।

अधिष्ठानता वर्णन में गौडपादादि से विरोध

यदि बाह्य-अन्तः सामान्य देशस्थ चेतन में स्वप्न की अधिष्ठानता अंगीकार करें तो गौडपादाचार्य और भाष्यकारादि के वाक्यों से विरोध बनेगा। क्योंकि गौडपादाचार्य ने माण्डूक्य—कारिका के वैतथ्य प्रकरण में इस प्रकार वर्णन किया है कि 'स्वप्न के हाथी पर्वत आदि की उत्पत्ति के योग्य देशकाल के न होने से स्वप्न के पदार्थ सत्य नहीं है।'

गौडपादाचार्य के कथन का व्याख्यान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि 'क्षण-घटिकादि समय में और सूक्ष्म नाड़ी देश में व्यावहारिक हाथी-पर्वत आदि की उत्पत्ति असंभव होने से स्वप्न के पदार्थ वितथ ही है।'

इस प्रकार इन्होंने भी देह के अन्तर्देश में ही स्वप्न की उत्पत्ति बताई है। इसलिए साधारण चेतन में अधिष्ठानता मानें तो सूक्ष्म देश में उनकी उत्पत्ति बताना अयुक्त होने से देह के अन्तर्देशस्थ अहंकार-अनवच्छिन्न चेतन में स्वप्नाध्या मानना ही ठीक है।

प्रतिबिम्ब रूप जीवचेतन में अधिष्ठानता

अविद्या में प्रतिबिम्बरूप जीव चेतन और बिम्बरूप ईश्वर चेतन, यह दोनों हीं यद्यपि अहंकार अनवच्छिन्न चेतन हैं और दोनों ही मतभेद से स्वप्न के अधिष्ठान होने संभव हैं, तो भी अविद्या में प्रतिबिम्ब रूप जीव चेतन को ही स्वप्न का अधिष्ठान अंगीकार करना उचित है। क्योंकि प्रत्यक्ष अध्यास का संभव तो प्रत्यक्ष अधिष्ठान में ही है। परन्तु ईश्वर चेतन को स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान मानें तो शुद्ध ब्रह्म के सदृश्य ईश्वर चेतन का ज्ञान भी परोक्ष रूप से अर्थात् शास्त्रादि के द्वारा हो सकता है। इसलिए अधिष्ठान की प्रत्यक्षता न बनने से अध्यास की भी प्रत्यक्षता नहीं हो सकती।

अविद्या में प्रतिबिम्बरूप जीव चेतन अहंकार-अवच्छिन्न रहकर अहमाकार वृत्ति का विषय बनता है, परन्तु अहंकार-अनवच्छिन्न जीव चेतन अहमाकार वृत्ति का विषय न होता हुआ भी आवृत्त नहीं रहता और इसीलिए स्वयं प्रत्यक्ष होने से उसमें प्रत्यक्षताध्यास भी हो सकता है।

संक्षेप शारीरक का मत

संक्षेप शारीरक में अध्यास की प्रत्यक्षता के लिए अधिष्ठान की प्रत्यक्षता तीन प्रकार की मानी है उनमें सर्प-चाँदी की आदि अध्यासों की प्रत्यक्षताका उपयोगी रस्सी-सीप आदि की प्रत्यक्षता इन्द्रिय-जन्य होती है । आकाश में नीलता आदि अध्यास की प्रत्यक्षता के उपयोगी आकाश की प्रत्यक्षता मन से होती है और स्वप्नाध्यास की प्रत्यक्षता की उपयोगी अधिष्ठान की प्रत्यक्षता तो स्वभावसिद्ध है ही ।

इस प्रकार संक्षेपशारीरक के मत में स्वतः प्रत्यक्ष में स्वप्नाध्यास होने से जीवचेतन को ही स्वप्न का अधिष्ठान समझना चाहिए ।

उक्त पक्ष में शंका-समाधान

यद्यपि यह शंका होती है कि यदि अनावृत होने के कारण जीव-चेतन को स्वयं प्रकाश स्वभाव वाला मानलें तो अविद्या के व्यापक होने से उसमें जो प्रतिबिम्ब रूप जीव चेतन है, वह भी व्यापक ही होगा और ऐसा होने पर उसका सदा घटादि से सम्बन्ध रहना ही चाहिए । इस अवस्था में नेत्रादि से जन्य वृत्ति की अपेक्षा के बिना ही घटादि की प्रत्यक्षता होनी चाहिए यदि जीव चेतन से सम्बन्धी की प्रत्यक्षता भी वृत्ति की अपेक्षा मान लें स्वयं प्रत्यक्ष जीवचेतन से स्वप्नाध्यास की प्रत्यक्षता कहना नहीं बनेगा ।

उक्त आपत्ति होते हुए भी स्वप्नाध्यास का अधिष्ठान जीव-चेतन तथा घटादि का अधिष्ठान ब्रह्मचेतन है । इसलिए स्वप्न के पदार्थों का स्व-अधिष्ठान जीवचेतन में तादात्म्य सम्बंध होता

है और घटादि का अधिष्ठान ब्रह्मचेतन है, इसलिए उनका तादात्म्य सम्बन्ध जीवचेतन से नहीं, वरन् ब्रह्मचेतन से होता है, पर, नेत्रादि से जन्य वृत्ति के द्वारा ही घटादि के जीवचेतन का सम्बंध होने के कारण वृत्ति से पहले के समय में घटादि से जीव चेतन का सम्बन्ध प्रत्यक्षता का सम्पादक नहीं हो सकता। इस-लिए वृत्ति की अपेक्षा से घटादि से जीवचेतन के विलक्षण संबंध की हेतुरूप प्रत्यक्षता होती है। परन्तु स्वप्नाध्यास में जो संबंधी पदार्थों का वृत्ति के बिना ही प्रकाश होता है वह जीवचेतन के अधिष्ठानतारूप से ही सम्भव है, यह मत प्रकाशात्मचरण नामक आचार्य का है।

इस प्रकार प्रतिबिम्बरूप जीवचेतन ही स्वप्न का अधिष्ठान है और उसके स्वरूप प्रकाश से ही स्वप्न का प्रकाश होना मानते हैं।

नृसिंहाश्रमाचार्य के मत का निरूपण

आकाशगोचर मानस वृत्ति के विचार में नृसिंहाश्रमाचार्य ने अद्वैतदीपिका में उल्लेख किया है कि यद्यपि रूप-रहित आकाश-गोचर चाक्षुषवृत्ति नहीं हो सकती, तो भी आकाश में फैला हुआ आलोक रूपवान होता है, इसलिए चाक्षुष वृत्ति आलोकाकार हो सकती है। जैसे चाक्षुष वृत्ति से प्रमाता का आलोक-अवच्छिन्न चेतन से भेद नहीं होता, वैसा ही आलोक-देशस्थ आकाश-अव-च्छिन्न चेतन से भी अभेद रहता है। इस प्रकार चाक्षुष वृत्ति का विषय अलोकाकार है तो आकाश की प्रत्यक्षता भी नेत्रजन्य ही कहलाता है।

परन्तु संक्षेप शारीरिक के अनुसार आकाश में मानस प्रत्यक्ष का अभिप्राय है कि आकाश स्वयं ही रूप-रहित है, अतः चाक्षुष

वृत्ति भी आकाशाकार नहीं हो सकती। यदि अन्य आकार वृत्ति से समान देशवर्ति अन्य का प्रत्यक्ष मान ले तो घट की रूपाकार वृत्तिसे घट के छोटे-बड़े आदि परिणाम भी प्रत्यक्ष होने चाहिए और आलोकाकार वृत्ति से आलोक देशवर्ति पवन का भी चाक्षुष प्रत्यक्ष होना चाहिए। अतएव आलोककार चाक्षुष वृत्ति से आकाश की प्रत्यक्षता न हो सकने के कारण आकाश को प्राप्त मान प्रत्यक्षता ही हो सकती है।

दोनों मतों को मानते हुए अद्वैतदीपिका की रीति को युक्ति संगतता

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो अद्वैतदीपिका की मान्यता के अनुसार यद्यपि अन्याकार वृत्ति से अन्य की प्रत्यक्षता प्रसिद्ध नहीं है और उसका मानना दोषयुक्त है। तो भी फल के प्रभाव से कहीं अन्याकार वृत्ति के द्वारा अन्य की प्रत्यक्षता मान लेने पर उक्त दोष का निराकरण होजाता है। इसी प्रकार संक्षेप—शारीरक की मान्यतानुसार यद्यपि बाह्य पदार्थों में प्रत्यक्ष अन्तःकरण गोचरता प्रसिद्ध नहीं और उसका मानना भी सदोष है, तो भी फल के प्रभाव से कहीं बाह्य पदार्थों में अन्याका नेत्रवृत्ति सहित की हुई अंतःकरण की गोचरता मान ले तो अन्तःकरण मात्र में बाह्य पदार्थ गोचरता नहीं मानने वाले नियम में बाधारूप दोष नहीं आयेगा।

इस प्रकार दोनों ही कथन बन सकते है, तो भी अद्वैतदीपिका का मत ही अधिक युक्त है। क्योंकि संक्षेपशारीरक के अनुसार आलोकाकार चाक्षुष वृत्ति को कारणता मानने पर अन्त करण में बाह्यपदार्थगोचर प्रत्यक्ष की कारणता माननी पड़ती है, जबकि अद्वैतदीपिका के मत से अन्तःकरण में स्वतन्त्र बाह्य

प्रत्यक्ष की करणता मानने की आवश्यकता नहीं है, यह इस मत में लाघव है। यदि चक्षु में सहकारिता अंगीकार न करके केवल अन्तःकरण को ही आकाश-प्रत्यक्ष का हेतु स्वीकार करलें तो बन्द नेत्र को भी आकाश का मानस प्रत्यक्ष होजाना चाहिए और अंतःकरण तो ज्ञान का उपादान है ही, इसमें करणता कभी कह नहीं सकते । अतएव संक्षेप शारीरक में जो आकाश प्रत्यक्ष को मानस कहा, वह प्रौढ़िवाद ही हो सकता है।

इस प्रकार अध्यास की प्रत्यक्षता के हेतु अधिष्ठान की प्रत्यक्षता इन्द्रिय से अथवा स्वरूप के प्रकाश से होना ही कहा जा सकता है। इस प्रकार मतभेद से स्वप्न का उपादान तूला-ज्ञान या मूलाज्ञान से रूप में द्विविध ही माननी ठीक है।

सर्प-चांदी आदि के उपादान रूप में तूलाज्ञान का अंगीकार

सर्व मतो में सर्प-चादी आदि अध्यासों का उपादान--कारण तूलाज्ञान ही अंगीकार किया गया है और रस्सीं आदि के ज्ञान से ही उसका मिटना माना है। क्योंकि रस्सी आदि के ज्ञान ने अज्ञान निवृत्ति होने से सर्पादि की निवृत्ति होजाती है। इसमें शंका हो सकती है कि एक बार जानी हुई रस्सी में उपादान--भाव से कालान्तर में सर्प का भ्रम नहीं होना चाहिए। इस शंका का समाधान वृत्ति-प्रयोजन-निरूपण में करेंगे।

स्वप्न के अधिष्ठानरूप आत्मा की स्वयं प्रकाशता

स्वप्न के अधिष्ठान की स्वयं प्रत्यक्षता से स्वप्न की प्रत्यक्षता पहले कही है और स्वयंज्योति ब्राह्मण में भी -यहाँ यह पुरुष

स्वयं ज्योति होता है' यह स्वप्न के प्रसंग में कहा गया है। इसका यह अभिप्राय है—

यद्यपि आत्मा अवस्थात्रय में ही स्वयं प्रकाश है, तो भी स्वयं प्रकाश उसे कहते हैं जिसे अपने प्रकाश में किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा न हो और जो सब का प्रकाश करता हो। इस लक्षणानुसार जाग्रत्-अवस्था में सूर्य आदि और चक्षु आदि प्रकाशकों के होते हुए आत्मा में अन्य प्रकाश-रहिततारूप स्वयं प्रकाश का निर्धारण नहीं हो सकता।

सुषुप्ति-अवस्था में किसी स्थूलदर्शी ज्ञान की प्रतीति न होने से न्यायमत वालों ने सुषुप्ति में ज्ञान-सामान्य का अभाव माना है। इसलिए वहां भी आत्मा के स्वयंप्रकाश का निर्धारण संभव नहीं। स्वप्न में स्वयंप्रकाश आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकाश का सद्भाव मिलता ही नहीं है, जिसे स्वप्नप्रपंच का प्रकाशक कह सके, अतएव श्रुति द्वारा स्वप्नावस्था में ही आत्मा का स्वयंप्रकाश होना कहा गया है।

स्वयं प्रत्यक्ष आत्मा से स्वप्न की प्रत्यक्षता

यदि स्वप्न-अवस्था में भी अन्तःकरण और इन्द्रियों का संचार होना मानें तो स्वप्न में भी प्रकाशान्तर-निरपेक्षता के न होने से आत्मा में स्वयं प्रकाशता का निर्धारण होना असम्भव हो जायगा। परन्तु यथार्थ में तो स्वप्न में इन्द्रिय व्यापार के बिना आत्मा ही स्वयंप्रकाश होता है। क्योंकि स्वप्न में हाथ में दण्ड लेकर ऊँट-भैंस आदि को ललकारता हुआ और नेत्र से आम्रादि वृक्षों को देखता हुआ घूमता है, तो भी हाथ नेत्र और पाँव आदि निश्चल प्रतीत होते हैं। अतएव स्वप्न में व्यावहारिक इन्द्रियों

का व्यापार होना तो संभव नहीं है और प्रातिभासिक इन्द्रियों को मान्य नहीं किया जा सकता। यदि स्वप्न में प्रातिभासिक इन्द्रियाँ मानें तो श्रुति ने जो स्वप्न में आत्मा को प्रकाशान्तर का अभाव होने के कारण स्वयंप्रकाश रूप बताया है, उस वचन का भंग होगा। यदि स्वप्न में प्रातिभासिक इन्द्रियाँ मानें तो ज्ञान होने के समय ही उनके उत्पन्न होने से, वे ज्ञान के साधन नहीं हो सकते। अतएव स्वप्न में इन्द्रियाँ और इन्द्रिय-व्यापार के बिना केवल अन्तःकरण ज्ञान के साधन नहीं माने जा सकते, तत्वदीपिका के मत में यद्यपि स्वप्न में अन्तःकरण को हाथी आदि रूप परिणाम को प्राप्त होता है तथापि ज्ञान के समकालीन होने से स्वप्न के ज्ञान-कर्मादि व्यापारों में भी ज्ञानसाधनता नहीं हो सकती। इसलिए स्वप्न में अन्तःकरण और इन्द्रिय-व्यापार के बिना आत्मप्रकाश मात्र ही प्रत्यक्ष साधन होता है।

इस प्रकार स्वतः प्रत्यक्ष आत्मा से स्वप्न का प्रत्यक्ष होता है और स्वप्न में जो हाथ आदि में जिस चाक्षुषता की प्रतीति होती है, उसे भी हाथी आदि के समान अध्यस्त होना ही समझना चाहिए। जाग्रत् में घटादि की चाक्षुषता व्यावहारिक और सर्प-चाँदी आदि की चाक्षुषता प्रातिभासिक होती है।

दृष्टिसृष्टि और सृष्टिदृष्टि में भेद-कथन

दृष्टिसृष्टिवाद में किसी भी अनात्मपदार्थ की सत्ता अज्ञात नहीं, वरन् सभी अनात्म पदार्थों की सत्ता ज्ञात ही मानी जाती है, अतएव रस्सी में सर्प के समान जब तक अनात्म वस्तु साक्षि-भास्य मात्र हैं, तब तक उनमें होने वाली इन्द्रियजन्यज्ञान की विषयता की प्रतीति भी अध्यस्त ही है।

दृष्टि सृष्टिवाद में दो भेद माने गए हैं। सिद्धान्त मुक्तावलि आदि में कहा है कि दृष्टि अर्थात् ज्ञानस्वरूप की ही सृष्टि होती हैं, ज्ञान से भिन्न कोई सृष्टि है ही नहीं। किन्तु आकार ग्रन्थों के अनुसार दृष्टि अर्थात् ज्ञान के समय अनात्म पदार्थों की सृष्टि होती है, ज्ञान से पहले नहीं होती। इस दृश्य की अज्ञात-सत्ता कभी नहीं होती, सदा ज्ञात सत्ता ही होती है।

ज्ञान से पहले के पदार्थों की सत्ता मानने को 'अज्ञातसत्ता' और ज्ञानसे पहले के पदार्थों की सत्ता न मानकर उनकी समकालीन सत्ता मानने को 'ज्ञात सत्ता' कहते हैं। अज्ञात सत्ता ही व्यावहारिक सत्ता है और ज्ञात सत्ता का अर्थ है प्रातिभासिक सत्ता। इस भाँति दृष्टि सृष्टिवाद दो प्रकार का है।

सृष्टि दृष्टिवाद का निरूपण

अनेक ग्रन्थकारों ने स्थूलदर्शी (मोटी वुद्धि वाले) पुरुषों के अनुसार सृष्टिदृष्टिवाद का कथन किया है। उनके मत में पहले सृष्टि और उसके उत्तरक्षण में प्रमाणसम्बन्ध से दृष्टि होती है। सृष्टि-दृष्टि पद का अर्थ भी यह है कि सृष्टि के पश्चात् दृष्टि हो। इस पक्ष में अनात्म पदार्थों की अज्ञात सत्ता और सर्प-रौप्यादि से विलक्षण अनात्म घटादि की व्यावहारिक सत्ता कही गई है। दृष्टि-सृष्टिवाद में तो प्रमाण का विषय कोई भी अनात्म वस्तु नहीं होती, वरन् वेदान्तरूप शब्द प्रमाण का विषय केवल शुद्ध ब्रह्म ही होता है। इस मत में सभी जड़ पदार्थ साक्षिभास्य हैं, उनमें चाक्षुषतादि का भास भ्रमरूप और प्रमाण-प्रमेय का विभाग स्वप्न के समान अध्यस्त है। जबकि सृष्टि-दृष्टिवाद में सर्व घटादि अनात्म पदार्थ प्रमाण के विषय एवं गुरुशास्त्रादिभी भ्रमरूप सर्प-चांदी आदि से विलक्षण व्यावहारिक हैं।

यद्यपि व्यावहारिक चांदी आदि से कटकादि रूप प्रयोजन सिद्ध होता है, जबकि वह प्रयोजन प्रातिभासिक से सिद्ध नहीं होता। तो भी अधिष्ठान के ज्ञान से दोनों को समान रूप से निवृत्ति होती है। सत्-असत् विलक्षणत्वरूप अनिर्वचनीयत्व की दोनों में समानता है और स्वाधिकरण में त्रैकालिक अभाव भी दोनों में समान ही है। अतएव, जैसे प्रातिभासिक पदार्थ मिथ्या हैं, वैसे ही व्यावहारिक पदार्थ भी। इस प्रकार सृष्टि-दृष्टिवाद से भी अद्वैत को कोई हानि नहीं पहुँचती।

उक्त पक्षों में मिथ्या पदार्थों के मिथ्यात्व में द्वैतवाद का आक्षेप

उक्त प्रसंग में यह शंका हो सकती है कि दृष्टिसृष्टिवाद में और सृष्टि-दृष्टिवाद में सभी पदार्थ-मिथ्या माने है, इसमें तो कोई विवाद है नहीं, परन्तु मिथ्या पदार्थों में जो मिथ्यात्व धर्म कहा है, उसमें द्वैतवादियों का यह आक्षेप होता है कि प्रपंच में मिथ्यात्व धर्म मिथ्या है या सत्य ? यदि सत्य कहें तो चेतन से भिन्न अनात्म धर्म में सत्यता आजायगी, जिससे अद्वैत की हानि होगी और मिथ्या कहें तो मिथ्या पदार्थ अपने विरोधी पदार्थ का प्रतिक्षेपक नहीं होता, इसलिए प्रपंच के मिथ्याभूत मिथ्यात्व धर्म से प्रपंच को सत्यता का प्रतिक्षेप भी नहीं हो सकता। जैसे एक ही ब्रह्म में दो धर्म रहते है—सप्रपंचत्व और निष्प्रपंचत्व तो उनमें सप्रपंचत्व कल्पित और निष्प्रपंचत्व पारमार्थिक होगा। इस प्रकार ब्रह्म के दोनों धर्मोंवाला होने पर भी मिथ्याभूत सप्रपंचत्व धर्म से निष्प्रपंचत्व प्रतिक्षेपित नहीं हो सकता।

इस भांति से प्रपंच में मिथ्यात्व के कल्पित और अमिथ्यात्व के पारमार्थिक होने से प्रपंच में पारमार्थिक सत्यत्व का सद्-

भाव बनता है, जिससे अद्वैतमत की मान्यता में बाधा उपस्थित होती है।

अद्वैत दीपिका द्वारा उक्त आक्षेप का समाधान

अद्वैत दीपिका ग्रन्थ में उक्त आक्षेप का समाधान इस प्रकार किया गया है कि घटादि में 'घट सत्य है' ऐसी जो सत्यता भासित होती है वह अधिष्ठानगत सत्यता ही है। अथवा घटादि में अधिष्ठानगत सत्यता का अनिर्वचनीय सम्बन्ध उत्पन्न होता है। क्योंकि घटादि में कोई अपनी सत्ता तो है नहीं, अधिष्ठान-गत सत्यता ही भासित होती है, इसी से घटादि में सत्-असत् से विलक्षणता रूप मिथ्यात्व धर्म ही श्रुति सम्मत है। सद्विलक्षण मिथ्यात्व के होने से इस मिथ्यात्व का असद्विलक्षण सत्यत्व से विरोध और इस मिथ्यात्व से उस सत्यत्व का प्रतिक्षेप होता है।

यदि ;कोई द्वैतवादी यह कहे कि मिथ्यात्व धर्म में सत्यता न मानें तो मिथ्याभूत मिथ्यात्व से प्रपंच की सत्यता का प्रति-क्षेप नहीं हो सकता। यदि ऐसा संभव हो तो मिथ्याभूत सप्रपंच से ब्रह्म की निष्प्रपंचता का प्रक्षेप भी होना चाहिए।

उक्त कथन भी संगत नहीं। क्योंकि प्रमाण सिद्ध एक धर्म से ही स्वसमान सत्ता वाले धर्मी के स्वविरोधी धर्म का प्रतिक्षेप होते हुए भी धर्मी की विषम सत्ता हो तो उसके विरोधी धर्म का प्रतिक्षेप संभव नहीं, यह नियम है। जैसे ब्रह्म तो पारमा-र्थिक है और ब्रह्म का सप्रपंचत्व व्यावहारिक, इसलिए ब्रह्म-रूप धर्मी सप्रपंचत्व के समान सत्तावाला नहीं होता और न सप्रपंचत्व से ब्रह्म के निष्प्रपंचत्व का प्रतिक्षेप ही होता है। परन्तु मिथ्यात्व भी व्यावहारिक प्रपंच में तो व्याव-

हारिक हो समझना चाहिए। क्योंकि व्यावहारिक प्रपंच आगं-
तुक दोनों से शून्य, केवल अविद्या से उत्पन्न और मिथ्या ही
है। अतएव प्रपंच और मिथ्यात्व दोनों के ही व्यावहारिक होने
से तथा प्रपंच के मिथ्यात्व के समान सत्तावाला होने से, उसके
सत्य का प्रतिक्षेप मिथ्यात्व से भी होजाता है।

यदि समसत्ता को छोड़कर विरोधी धर्म का केवल सत्यधर्म
से ही प्रतिक्षेप मान लें तो 'चाँदी सत्य है' ऐसी सीपगत चाँदी
में सत्यत्व की जिसे प्रतीति हो, उसे चाँदी के मिथ्यात्व से उस
सत्यता का प्रतिक्षेप नहीं हो सकता, क्योंकि कल्पित चाँदी में
जो मिथ्यात्व धर्म हो, वह भी कल्पित ही होगा, सत्य नहीं हो
सकता। इसलिए विरोधी धर्म के प्रतिक्षेप में प्रतिक्षेपक धर्म
की सत्यता [आवश्यकता नही होती, वरन् जो धर्म जिस धर्मी
में विरोधी हो वह धर्मी प्रतिक्षेपक धर्म के समसत्त मात्र ही
होना चाहिए।

इस प्रकार ब्रह्म के निष्प्रपंचत्व के प्रतिक्षेप की आपत्ति
सप्रपंचत्व से नहीं हो सकती, वरन् प्रपंच के व्यावहारिक मिथ्या-
त्व से उसके सत्यत्व का प्रतिक्षेप हो सकता है।

मिथ्यात्वधर्म में द्वैतवादियों का आक्षेप

प्रकारान्तर से द्वैतवादियों का आक्षेप इस प्रकार है कि यदि
प्रपंच में मिथ्यात्व धर्म को मिथ्या मानने पर भी प्रपंच के पार-
मार्थिक सत्यत्व का प्रतिक्षेप नहीं बनता, क्योंकि विरोध समसत्ता
वाले धर्मों में ही संभव है, विषम सत्ता वाले धर्मों में नही। यदि
विषम सत्ता वाले धर्मों में भी विरोध हो तो सीप के प्रातिभा-
सिक मिथ्या चांदी के तादात्म्य से व्यावहारिक सत्य चाँदी के
भेद का प्रतिक्षेप भी होना चाहिए।

इस प्रकार प्रपंच के व्यावहारिक मिथ्यात्व से उसके पारमार्थिक सत्यत्व का प्रतिक्षेप नहीं हो सकता। इसलिए प्रपंच के सत्य होने से अद्वैत संभव नहीं है।

इस शंका का पूर्वोक्त समाधान

उक्त शंका का समाधान वही है जो पहले कह चुके हैं। यदि वैसा न मानें तो प्रातिभासिक सर्प-चाँदी आदि के मिथ्यात्व से उनके सत्यत्व का प्रतिक्षेप भी नहीं होना चाहिए। अतएव प्रमाण से निश्चय का प्रतिक्षेप भी नहीं होना चाहिए। अतएव प्रमाण से निश्चय हुए धर्म से विरोधी धर्म की प्रतिक्षेपकता में प्रयोजक प्रमाण निर्णीतत्व ही है। जैसे सीप में चाँदी का मिथ्यात्व प्रमाण निर्णीत एवं विरोधी सत्यत्व का प्रतिक्षेपक है, वैसे ही प्रपंच का मिथ्यात्व भी श्रुति आदि प्रमाणों से निर्णीत है तथा उसके द्वारा प्रपंचसत्यत्व का ही प्रतिक्षेप होता है। परन्तु सीप में प्रातिभासिक चाँदी का तादात्म्य भ्रमसिद्ध है और निर्णीत नहीं होने से उससे व्यावहारिक चाँदी के भेद का प्रतिक्षेप नहीं हो सकता। जबकि सीप में चांदी का भेद ही प्रमाण से निर्णीत है, जिससे कि सीप में चांदी के तादात्म्य का प्रतिक्षेप होता है।

द्वैतवादी द्वारा प्रपंच के मिथ्यात्व को व्यावहारिक मानकर उसके धर्मी प्रपंच को पारमार्थिक कहा गया है, वह किसी प्रकार भी संगत नहीं है। क्योंकि व्यावहारिक धर्म का आश्रय तो व्यावहारिक धर्मी ही हो सकता है। इससे सिद्ध हुआ कि द्वैतवादी का दूसरा आपेक्ष भी ठीक नहीं।

अद्वैतदीपिकोक्त समाधान की संभव-असंभवता

इस प्रकार अद्वैतदीपिका ग्रन्थ के प्रकार से धर्मी के प्रतिक्षेपक धर्म के सत्ता वाला होने और प्रतिक्षेपक धर्म से उसके

विरोधी धर्म का प्रतिक्षेप होना बनता है। परन्तु इस नियम को मान लेने पर प्रपंच के सत्यत्व का प्रपंच के मिथ्यात्व से प्रतिक्षेप होता है, किन्तु ब्रह्म के निष्प्रपंचत्व का सप्रपंचत्व से प्रतिक्षेप नहीं हो सकता। परन्तु सत्ताभेद मान लें तो अद्वैतदीपिका द्वारा कहा हुआ समाधान बन सकता है। इसके विपरीत यदि घटादि में केवल ब्रह्मरूप सत्ता की ही प्रतीति होती है, उनमें और व्यावहारिक-प्रातिभासिक रूप में सत्ता का भेद नहीं हो सकता, ऐसी एक ही सत्ता मानने पर उक्त समाधान हो ही नहीं सकता।

उक्त समाधान का निश्चलदासजी द्वारा समाधान

अस्मद्भाव से उक्त आक्षेप का समाधान यह है कि प्रमाण-निर्णीत धर्म से अपने विरोधी धर्म का प्रतिक्षेप होते हुए भी दोनों ही धर्म प्रमाण-निर्णीत हों तो अपर धर्म प्रतिक्षिप्त नहीं होता। जैसे प्रपंच का मिथ्यात्व श्रुति आदि द्वारा निर्णीत है और प्रपंच के सत्यत्व में कोई श्रुति-वचन प्रमाणभूत भी नहीं है, वरन् श्रुति-वचनों से उस सत्यत्व के न होने का ही भास होता है। अतएव दोनों धर्मों के पुराण द्वारा निर्णीत न होने से प्रपंच के मिथ्यात्व से उसके सत्यत्व में बाधा आती है। यद्यपि 'घट सत्य है' इस भाँति के प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रपंच में सत्यत्व की प्रतीति होती है। तो भी अपौरुषेय श्रुति वाक्य से पुरुष-प्रत्यक्ष के सबल न होने से प्रपंच का सत्यत्व प्रमाण-निर्णीत नहीं माना जा सकता। परन्तु ब्रह्म के सप्रपंचत्व और निष्प्रपंचत्व दोनों के ही प्रमाण से सिद्ध होने के कारण श्रुति का तात्पर्य निष्प्रपंचत्व-प्रतिपादन में ही होता है। क्योंकि ब्रह्म का सप्रपंचत्व-प्रतिपादन अद्वैत निष्प्रपंच ब्रह्मबोध का उपयोगी होने से यथार्थ में तो सप्रपंचत्व-प्रतिपादन में श्रुति का तात्पर्य

न होने से सप्रपंचत्व को कल्पित ही समझना चाहिये, वह कभी पारमार्थिक हो नहीं सकता। फिर भी आगंतुक दोषों से रहित केवल अविद्याजन्य होने से व्यावहारिक ही सिद्ध होता है, प्रातिभासिक भी सिद्ध नहीं होता।

इस प्रकार न तो सप्रपंचत्व ही श्रुति प्रमाण से निर्णीत है और न निष्प्रपंचत्व ही, इसलिए सप्रपंचत्व का बाध निष्प्रपंचत्व से होता है, क्योंकि ब्रह्म के सप्रपंचत्व प्रतिपादक श्रुतिवचन का तात्पर्य केवल व्यावहारिक संप्रपंचत्व में ही है, इसलिए वह सप्रपंचत्व संकुचित और सदा नहीं रहने वाला है। उसका भाव तो विद्या से पहले अविद्याकाल में ही रहता है। इसलिए उसका निष्प्रपंचत्व से बाध तो होता है, किन्तु उसके द्वारा निष्प्रपंचत्व का प्रतिक्षेप नहीं हो सकता। इस प्रकार द्वैतवादी का आक्षेप युक्ति संगत नहीं है।

अन्य ग्रन्थकार की उक्ति से उक्त आक्षेप का समाधान

नृसिंहाश्रमाचार्य आदि ग्रन्थकारों ने उसका समाधान यह किया है कि तत्व के साक्षात्कार से स्वाश्रय गोचर जिस धर्म का बाध न हो, उससे अपने विरोधी धर्म का प्रतिक्षेप तो होता है, पर, तत्वसाक्षात्कार से स्वाश्रयगोचर जिस धर्म का बाध हो, उससे स्व-विरोधी धर्म का प्रतिक्षेप नहीं होता। जैसे मिथ्यात्व के आश्रय प्रपंच के अधिष्ठान ब्रह्मगोचर तत्व के साक्षात्कार से प्रपंच का बाध नहीं, वरन् प्रपंच में मिथ्यावत्व बुद्धि की दृढ़ता होती है। अतएव प्रपंच का मिथ्यात्व त अपने विरोधी सत्यत्व का प्रतिक्षेप कर देता है। परन्तु सत्प्रपंचत्व के आश्रय ब्रह्म के साक्षात्कार से सप्रपंचत्व बाधित होता है। इसलिए ब्रह्म के निष्प्रपंचत्व का सप्रपंचत्व से उल्लंघन नहीं हो पाता।

अथवा जैसे सीप में अपना तादात्म्य है और कल्पित चाँदी का भी अपने अधिष्ठान सीप में तादात्म्य है, वहां सीप के साक्षात्कार से सीपतादाम्य तो बाधित नहीं होता, परन्तु सीप-तादात्म्य से सीप विरोधी सीप भेद का प्रतिक्षेप तो होता ही है और सीप-साक्षात्कार से सीप में चाँदी तादात्म्य का बाध तो होता है, पर उस चाँदी तादात्म्य से चांदीविरोधी चाँदी के भेद का प्रतिक्षेप नहीं बनता। इसी प्रकार प्रपंच के मिथ्याभूत मिथ्यात्व से सत्यत्व का प्रतिक्षेप तो होता है, पर, ब्रह्म के सप्रपंचत्व से निष्प्रपंचत्व का प्रतिक्षेप संभव नहीं है।

इस प्रकार यह द्वैतमत के समाधान कहे गए, जिज्ञासुओं को द्वैतवादियों के वचनों से दूर रहना चाहिए।

प्रपंच के सत्यत्व का पंचविध प्रतिक्षेप

पहले कहा गया है कि प्रपंच के मिथ्यात्व से उसके सत्यत्व का प्रतिक्षेप होता है। मतभेद से सत्यत्व का प्रतिक्षेप पांच प्रकार का है। तत्वशुद्धिकार के अनुसार 'घट सत्य है' इत्यादि प्रत्यक्षज्ञान का विषय जो घटादि अधिष्ठान सत्स्वरूप चेतन होता है, उसमें अध्यस्त रूप घटादि अपने अधिष्ठान से पृथक् रहकर भ्रमवृत्ति के ही विषय बनते हैं। जैसे कि सीप-चाँदीत्वादि इदमाकार चाक्षुषवृत्ति के विषय होते हैं, परन्तु सर्प-चाँदी आदि नहीं। सर्प-चाँदी आदि तो भ्रमवृत्ति के ही विषय माने जाते हैं। वैसे ही नेत्रादि प्रमाणजन्य सर्वज्ञानी का विषय घटादिगोचर नहीं, वरन् अधिष्ठान रूप सत्ता होती है। क्योंकि प्रमाण के अज्ञातगोचर होने से अधिष्ठान चेतन में ही अज्ञातत्व का रहना सम्भव है, और उसी में अज्ञानजन्य आवरण भी हो सकता है। जब कि घटादि जड़ पदार्थ स्वसत्ता-रहित हैं; इसलिए उनमें

अज्ञातत्व और अज्ञानकृत आवरण न होने से प्रमाणगोचरता नहीं हो सकती। इसलिए घटादि तो सर्प चांदी आदि के समान केवल भ्रममात्र के विषय होते है, नेत्रादि प्रमाणजन्य वृत्ति का विषय तो उनका अधिष्ठान सत्स्वरूप चेतन ही होता है। इस प्रकार सर्व प्रमाणों का विषय सत्स्वरूप चेतन ही है, जिसमें तादात्म्य के अध्यास से अनेक भेद विशिष्ट घटादि की जो प्रतीति होती है, वह भ्रमरूप ही होने से घटादि में जो सत्ता है, वह किसी भी प्रमाण का विषय नहीं है और इसी से घटादि के मिथ्यात्व का अनुवाद श्रुति-स्मृत आदि ने किया है।

इस प्रकार तत्त्वशुद्धिकार ने नेत्रादि की प्रमाणगोचर अधिष्ठान सत्ता में ही बताई है और घटादि को नेत्रादि प्रमाणगोचर नहीं कहा है। इस प्रकार उनके द्वारा प्रपंच के सत्यत्व का तिरस्कार हुआ है।

मोक्ष के साधन के विषयक विचार

असत्य वस्तु के निवारण में कर्म का उपयोग न होने से कर्म मात्र से या कर्म समुच्चय के ज्ञान से अनर्थ की निवृत्ति नहीं हो सकती, वरन् वह तो केवल ज्ञान से ही संभव है। यह अभिप्राय अद्वैत ग्रन्थों में स्पष्ट निर्णीत है। यद्यपि अनेक श्रुतियों में कर्म समुच्चय के ज्ञान से मोक्ष का प्राप्त होना माना गया है। तो भी भाष्यकार ने अनेक स्थलों पर ज्ञान और कर्म के समुच्चय का निषेध किया है। उनका सिद्धान्त है कि मोक्ष का साक्षात् साधन कर्म नहीं, ज्ञान ही है और ज्ञान का भी साधन कर्म ही हो सकता है।

वाचस्पति के मत में कर्म ज्ञान का साधन नहीं, वरन् जिज्ञासा का साधन है। क्योंकि कैवल्य शाखा में आश्रम कर्म

विविदिषा कहा है। परन्तु सूत्रकार ने तीसरे अध्याय में सब कर्मों की अपेक्षा ज्ञान में ही मानी है। इस प्रकार श्रुति और भाष्य दोनों ही वचनों से कर्म जिज्ञासा के और जिज्ञासा द्वारा ज्ञान के साधन हैं। यदि कर्म को ज्ञान का साधन मानें तो ज्ञान के उत्पन्न होने तक कर्मानुष्ठान की प्राप्ति होने के कारण साधन-युक्त कर्मत्याग रूप संन्यास लुप्त होजायगा।

इस प्रकार वाचस्पति के मत में कर्म विविदिषा के साधन हैं और विवरणकार के मत में ज्ञान के साधन हैं। परन्तु दोनों ही मतों में विविदिषा से पहले कर्म का और बाद में संन्यासमय श्रवणादि का अनुष्ठान समान ही माना गया है। विविदिषा के पश्चात् कर्म की कर्त्तव्यता किसी के मत से भी पुष्ट नहीं होती।

संक्षेपशारीक के कर्त्ता का मत है कि विद्या में काम्य और नित्य सभी शुभकर्मों का उपयोग सिद्ध है। क्योंकि कैवल्य शाखा के अनुसार 'यज्ञेन विविदिषन्ति' अर्थात् यज्ञ से ज्ञान की इच्छा करते हैं, इसमें 'यज्ञ' शब्द का प्रयोग तो नित्य और सामान्य काम्य कर्मों में होता है तथा 'धर्मेण पापमनुदति' इत्यादि से धर्म के द्वारा पाप का नाश होना भी प्रतीत होता है। इसलिए ज्ञान के बाधक पाप आदि की निवृत्ति द्वारा नित्य कर्मों का भी विद्या में ही उपयोग हो सकता है।

संन्यास की ज्ञान साधनता

इस प्रकार जब तक तीव्र जिज्ञासा न हो तब तक सभी शुभ कर्मों के किये जाने और वैराग्य की दृढ़ता के साथ तीव्र जिज्ञासा उत्पन्न होने पर साधन सहित उन सभी कर्मों को त्याग करने

का निमय है। क्योंकि शुभ कर्मों से पाप का निवारण होने के समान ही संन्यास से ज्ञान के बाधक पाप का निवारण होता है। वहाँ ज्ञान के बाधक पाप अनेक प्रकार के होते हैं, जिनमें से कोई तो कर्म से निवृत्त होजाता है और कोई पाप संन्यास से ही निवृत्त हो सकता है। इस प्रकार कर्म और संन्यास दोनों ही पाप के निवारक होने के कारण ज्ञान के हेतु होने से क्रमश: दोनों ही करने के योग्य है।

विवरणकार के मत में संन्यास के बिना विक्षेप नष्ट होना संभव नहीं होने से ज्ञान के बाधक विक्षेप का निवारण ही संन्यास का दृष्ट फल है। इसलिए ज्ञान के बाधक पाप का निवा-रण या ज्ञान के हेतु पुण्य का उदय संन्यास का अदृष्ट फल नहीं हो सकता। क्योंकि जहाँ दृष्ट फल न हो सकता हो। वहीं अदृष्ट फल की कल्पना होती है। परन्तु संन्यास का दृष्टफल का विक्षेप का निवारण हो सकता है, तब उसका अन्य दृष्टफल बताना अयुक्त ही है।

क्षत्रिय-वैश्य के अधिकार का विचार

क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के पुरुषों को संन्यास तथा श्रवण का अधिकार है या नहीं ? इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का मत है कि क्षत्रिय और वैश्य को संन्यास एवं ब्रह्म श्रवण का अधिकार नहीं है। क्योंकि संन्यास-विधायक अनेक वाक्यों में 'ब्राह्मण' पद का ही प्रयोग मिलता है, इसलिए ब्राह्मणमात्र का ही अधि-सिद्ध होता है।

कुछ ग्रन्थकारों के मत में संन्यास में तो ब्राह्मण का ही अधिकार है, परन्तु श्रवण में क्षत्रिय और वैश्य दोनों का ही अधिकार है। परन्तु कुछ अन्य ग्रन्थकारों के मत में जैसे श्रवण

में अधिकार है, वैसे ही संन्यास में भी अधिकार है। वार्तिककार का कथन है कि अनेक श्रुतियों में 'द्विज' पद का उपलक्षण 'ब्राह्मण' पद ग्रहण करने से संन्यास का अधिकारी ब्राह्मण ही है, तो भी संन्यास-विधायक जाबालश्रुति में 'ब्राह्मण' पद नहीं है, वरन् वैराग्य सम्पत्ति वाले के लिए ही संन्यास का निर्देश है। 'ब्राह्मणः क्षत्रियोः वापि वैश्यो वा प्रव्रजेद् गृहात्' अर्थात् 'ब्राह्मण' क्षत्रिय या वैश्य घर का त्याग कर जा सकते हैं' ऐसा स्मृति से स्पष्ट कथन मिलता है।

शूद्र के अधिकार पर विचार

अनेक ग्रन्थकारों ने वेद को अध्ययन उपनयन होने पर ही करने का प्रतिपादन किया है और शूद्र के लिए उपनयन की विधि नहीं कही है। इसलिए वेदश्रवण में शूद्र का अधिकार न होते हुए भी इतिहास पुराणादि के श्रवण में शूद्र का अधिकार स्वीकार किया गया है, यथा—'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्' अर्थात् चारों वर्णों को श्रवण करावे' इस कथन से यह स्पष्ट है।

मनुष्यमात्र को तत्वज्ञान का अधिकार

यदि जन्मान्तर के संस्कारवश शूद्रादि को भी मोक्ष की जिज्ञासा होजाय, तो उन्हें भी पौरुषेय वचनों से ज्ञान की प्राप्ति होजाती है, जिससे कार्यसहित अविद्या की निवृत्ति रूप मोक्ष संभव है। इसलिए देवताओं और दैत्यों के ही समान सभी मनुष्यों को तत्वज्ञान का अधिकार मान्य है। क्योंकि भक्ति और ज्ञान का उदय तो मनुष्यमात्र में ही हो सकता है।

तत्वज्ञान से अज्ञान के निवारण में शंका

अद्वैत ग्रन्थों का सिद्धान्त है कि तत्वज्ञान से कार्य-सहित अज्ञानका निवारण होता है। यहाँ जीव-ब्रह्म का अभेद देखने वाले

अन्तःकरण की वृत्ति ही तत्वज्ञान मानी गई है। परन्तु अन्तः-करण तो अज्ञान का कार्य है, इसलिए उसकी वृत्ति रूपी तत्व-ज्ञान भी अज्ञान का ही कार्य होजायगा। इसलिए तत्वज्ञान के अज्ञान की निवृत्ति होना कैसे मान सकते हैं ?

उक्त शंका का समाधान

कारण-कार्य के परस्पर अविरोध होने का नियमतों सामान्य है और समान विषयक ज्ञान-अज्ञान के परस्पर विरोध का नियम विशेष होने से विशेष निमय द्वारा सामान्य नियम का बाध होना स्वाभाविक है। जैसे कि वस्त्र और अग्नि के मिलने से वस्त्र नष्ट होता है। अर्थात् जहाँ संयोग है, वहाँ उस संयोग के दो उपादान कारण भी हैं और वस्त्र तो संयोग का उपादान कारण है हो, तो भी वस्त्र और अग्नि के संयोग का नाश्य-नाशक भाव रूपी विरोध प्रत्यक्ष है, अविरोध नहीं। इस प्रकार कार्य और कारण का परस्पर अविरोध ही होता हो, यह नहीं कह सकते। इस प्रकार कार्य-कारण का भी नाश्य-नाशक भाव रूपी विरोध प्रसिद्ध है और इसी प्रकार अविद्या से उत्पन्न अन्तःकरण की वृत्ति रूपी तत्वज्ञान के द्वारा कार्य सहित अज्ञान का नष्ट होना संभव है।

अविद्या का लेश विषयक विचार

यदि शंका करें कि तत्वज्ञान से अविद्या का सर्वथा नष्ट होना संभव हो तो उससे जीवन्मुक्त के शरीर का भी अभाव हो जायगा ? क्योंकि उपादान कारण रूप अविद्या के नष्ट होजाने पर कार्यरूप शरीर ही कैसे रह सकता है ?

इस विषय में सर्वज्ञात्म मुनि का मत है कि तत्वज्ञान होने पर ज्ञानी को देहादि प्रतिभासित नहीं होते और जीवन्मुक्ति का प्रतिपादन करने वाले वचनों का अपने लिए अभिप्राय नहीं है, वरन् वे वचन श्रवणविधि के लिए अर्थवाद मात्र ही हैं। उनका अभिप्राय श्रवण में रुचि को वृद्धि के लिए ही होता है। उनका यह आशय नहीं है कि ज्ञान होने के उपरान्त ज्ञानी का देह रहता है या उसे देह का प्रतिभास होता है। यथार्थ में तो तत्वज्ञान होते ही ज्ञानी की विदेहमोक्ष होती है। इस प्रकार परान्त अविद्या का लेश रहना संभव नहीं है।

परन्तु यह मत ज्ञानी के अनुभव के विपरीत सिद्ध होती है। क्योंकि अविद्या का निवारण करने वाले तत्व ज्ञान से अविद्या का निवारण होने के उपरान्त तत्वज्ञान का निवारण होता है। परन्तु, उक्त मत को मानने से अविद्या को न मानें तो तत्वज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि वहाँ तो तत्वज्ञान से इतर अनात्म वस्तु का शेष नहीं रहना चाहिए, तब केवल चेतन के असंग होने के कारण उसमें नाश की संभावना नहीं बन सकती और न तत्वज्ञान में ही अपना नाशत्व संभव है। अतएव वैसा मानें तो तत्वज्ञान नष्ट ही नहीं होगा।

पंचपादिका के रचयिता पद्मापादाचार्य के मत में ज्ञान अज्ञान मात्र का विरोधी है और ज्ञान का अज्ञान के कार्य से विरोध न होने के कारण तत्वज्ञान से अज्ञान का ही निवारण हो सकता है तथा अज्ञान के निवारण से अनन्तर अज्ञान रूप उपादान का अभाव होने से उसके कार्य का निवारण भी स्वतः ही होजायगा। परन्तु शरीरादिरूप कार्य के निवारण में प्रारम्भ कर्म बाधक होता है। अतएव ऊपर कहे प्रकार से अविद्या का लेश भी रहने तक जीवन्मुक्त को शरीरादि की प्रतीत होना भी

असंभव नहीं होता। परन्तु प्रारब्ध रूप बाध का अभाव हो जाने पर शरीरादि का ही नहीं, तत्वज्ञान का भी निवारण होजाता है। इनके अनुसार प्रारब्ध के अभाव के साथ ही अविद्या का निवारण ही तत्वज्ञान के निवारण में कारण होता है।

तत्वज्ञान के दो साधन

जिस तत्वज्ञान के द्वारा अविद्या का निवारण होना कहा, उसके दो साधन हैं—श्रवणादि एवं निर्गुण ब्रह्म की अहंग्रह उपासना। इनमें से श्रवणादि साधन उत्तम अधिकारी के लिए हैं, और निर्गुण ब्रह्म की अहंग्रह उपासना मध्य अधिकारी के लिए होती है। अद्वैत ग्रन्थों में यह सिद्धान्त सर्व मान्य है।

परन्तु अनेक ग्रन्थकारों के मत में, दोनों पक्षों में तत्वज्ञान का कारणरूप प्रमाण वृत्ति का प्रवाह ही है। जैसे निर्गुण ब्रह्माकार वृत्ति रूपी उपासना मध्यम अधिकारी के लिए है, वैसे ही मनन के उपरान्त निदिध्यासन रूप वृत्ति-प्रवाह उत्तम अधिकारी के लिए ब्रह्म-प्रत्यक्ष का करण है। यद्यपि छओं प्रकार के प्रामाणों में वृत्ति-प्रवाह के न होने से उसमें प्रमा का करणत्व असंभव होने पर सगुण या निर्गुण ब्रह्म के ध्यान अथवा साक्षात्कार का करण सब श्रुतितों में वर्णित है।

ऊपर कह चुके हैं कि वृत्ति का प्रवाह (प्रसंख्यान) का प्रमाण जन्य नहीं हैं। तब वृत्ति के प्रवाह से उत्पन्न ब्रह्मज्ञान ही प्रमाण जन्य कैसे हो सकता है? और जब ब्रह्मज्ञान प्रमाणजन्य नहीं है, तब उसमें प्रमात्व का होना भी असम्भव ही है। तो भी सम्वादी भ्रान्ति के तुल्य ब्रह्मज्ञान के बिना विषय का प्रतिबन्ध न होने के कारण उसमें प्रमात्व हो ही सकता है और निदिध्या-

सन रूप वृत्ति-प्रवाह का मूल शब्द प्रमाण होने से प्रामाणजन्य ब्रह्मज्ञान प्रमात्व का असभव नहीं हो सकता।

अद्वैत ग्रन्थों का सिद्धान्त

अद्वैत ग्रन्थों का प्रमुख सिद्धान्त है कि महावाक्य से उत्पन्न ज्ञान के उत्तर काल में वृत्ति का प्रवाह अपेक्षित नहीं, वरन् महा वाक्य के द्वारा ही अद्वैत ब्रह्म का प्रत्यक्ष होता। यद्यपि मन के सर्व ज्ञानों में सहकारी होने से निदिध्यासन से उत्पन्न एकाग्रता-युक्त मन भी ब्रह्मज्ञान में सहायक है तो भी शब्द ही ब्रह्मज्ञान के कारण मन नहीं, वरन् वेदान्त वाक्य रूपी शब्द ही हैं। क्योंकि अन्त:करण वृत्ति ज्ञान का उपादान होने के कारण ज्ञान का आश्रय भी है, अत: मन ज्ञान का कर्त्ता होते हुए भी उसका करण नहीं हो सकता। कैवल्य, शाखा में तो मन में ब्रह्मज्ञान के करणत्व का निषेध होने से शब्द में भी उसका करणत्व श्रुति सम्मत नहीं है। क्योंकि श्रति का तात्पर्य लक्षणावृत्ति से ही ब्रह्मगोचर ज्ञान के होने में है, वृत्ति से ज्ञान होने में नहीं है। इस प्रकार शक्ति वृत्ति से शब्द में ब्रह्मज्ञान के करणत्व का निषेध होते हुए भी लक्षणावृत्ति से शब्द में ब्रह्मज्ञान का कर्णत्व सम्भव होने से ब्रह्म को औपनिषदत्व भी कह सकते हैं। ब्रह्म साक्षात्कार को मानस मानने वाले विद्वानों के मत में भी शब्द से ही ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान मान्य होने से और मतद्वय में ब्रह्मज्ञान शब्द को करत्व अपेक्षित होने में शब्द ही ब्रह्मप्रत्यक्ष का कारण हो सकता है, मन नहीं हो सकता।

ज्ञान एवं विषय की अपरोक्षता

कुछ ग्रन्थकार ज्ञान और विषय दोनों ही में अपरोक्षता का व्यवहार मानते हैं। उनके अनुसार जहाँ नेत्र से घट दिखाई दे

वहाँ घट प्रत्यक्ष है और उसका ज्ञान भी परन्तु ज्ञान में प्रत्यक्षता प्रमाण के अधीन नहीं हो सकती। क्योंकि यदि इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमानादि से उत्पन्न ज्ञान अप्रत्यक्ष होता हो तो ज्ञान में प्रत्यक्षता-अप्रत्यक्षता प्रमाण के अधीन हो सकती थी, परन्तु ग्रन्थकारों ने तो इन्द्रियजन्य ज्ञान मात्र में ही प्रत्यक्षता का निषेध किया है। इसलिए यह कहना चाहिए कि प्रत्यक्ष अर्थ-गोचर ज्ञान ही प्रत्यक्ष कहा जाता है और ऐसे ज्ञान में प्रत्यक्षता प्रमान के अधीन न होकर विषय के अधीन है। अतएव प्रत्यक्ष विषय का ज्ञान प्रत्यक्ष ही हो सकता है, वह चाहे प्रमाणान्तर से उत्पन्न हो अथवा इन्द्रिय से उत्पन्न हो, इस प्रकार सुख-दुःखादि ज्ञान, स्वप्न ज्ञान या ब्रह्मज्ञान इन्द्रियजन्य न होते हुए भी प्रत्यक्ष होने के कारण ज्ञान में प्रत्यक्षत्व इन्द्रियजन्यता रूप नहीं, वरन् प्रत्यक्ष अर्थगोचरता रूप ही है।

वृत्ति का प्रयोजन वर्णन

ग्रन्थ के आरम्भ में वृत्ति का स्वरूप, वृत्ति का कारण और वृत्ति का फल क्या-क्या हैं ? ऐसे तीन प्रश्न प्रस्तुत हुए थे, उनमें से अन्तःकरण और अविद्या का प्रकाश रूपी परिणाम वृत्ति कह-लाती है, यह वृत्ति का साधारण रूप बताया गया और फिर यथार्थता- अयथार्थता आदि के भेद से वृत्ति का विशष रूप बत-लाया गया और फिर प्रमाणों के निरूपण से वृत्ति के कारण का स्वरूप कथन किया गया।

तीसरे प्रश्न का उत्तर

जीव को तीनों अवस्थाओं का सम्बन्ध और पुरुषार्थ की प्राप्ति वृत्ति से ही होती है और तीनों अवस्थाओं के सम्बन्ध से

ही संसार होने के कारण उसको संसार प्राप्ति का हेतु होने के साथ ही मोक्ष प्राप्ति का हेतु भी वृत्ति ही है।

कोई ग्रन्थकार आवरण के अभिभव को वृत्ति का प्रयोजन बताते हैं। परन्तु इस विषय में विभिन्न मत हैं। उनमें से एक यह भी है कि जैसे जुगनू के प्रकाश से महार अन्धकार के किसी एक अंश का क्षय होता है, वैसे ही वृत्ति से अज्ञान का कोई एक अंश संकुचित हो जाता है। आवरण के अभिभव का अर्थ यही है।

आवरण के अभिभव की अमान्यता

जीव चेतन की उपाधि समष्टि अज्ञान मानने वाले पक्ष में घटादि से चेतन का संतत सम्बन्ध होने के कारण चेतन के संबंध से आवरण का अभिभव किस प्रकार बन सकता है ? क्योंकि ब्रह्मचेतन आवरण का बाधक न होकर, साधक ही है। यदि आवरण का अभिभव ईश्वर चेतन से मानें तो 'मैंने यह जाना' ऐसा जीव का आवरण अभिभावात्मक व्यवहार न होकर यह व्यवहार होना चाहिए कि 'ईश्वर ने जान लिया' क्योंकि जीव-ईश्वर का व्यवहारिक भेद होने से ईश्वर की जानी हुई वस्तु जीव की जानी हुई नहीं हो सकती। फिर यदि जीव चेतन से सम्बन्धित आवरण का अभिभव कहने लगें तो इस पक्षमें घटादि से जीव चेतन का सतत सम्बन्ध बनता है क्योंकि जीव चेतन की उपाधि मूलाज्ञान में आरोपित प्रतिबिम्बता विशिष्ट चेतन ही जीव कहलाता है और घटादि से मूलाज्ञान का सम्बन्ध सतत होने से और उनसे जीव चेतन का भी सतत सम्बन्ध होने के कारण यदि चेतन के सम्बन्ध से आवरण का अभिभव हो सकता हो घटादि के आवरण का अभिभव भी सदा ही रहना चाहिए।

ऐसे ही वृत्ति से आवरण का अभिभव कहने पर परोक्ष वृत्ति से भी आवरण का अभिभव मानना पड़ेगा।

अतएव अपरोक्ष वृत्ति या अपरोक्ष वृत्ति विशिष्ट चेतन से आवरण का अभिभव अंगीकार किया जाना चाहिए। जैसे जुगनू की चमक घोर अन्धकार के किसी खण्ड का क्षण भर के लिए संकोच कर पाती है और जुगनू का अभाव होते ही वहाँ फिर अन्धकार होजाता है, वैसे ही अपरोक्ष वृत्ति या अपरोक्षवृत्ति विशिष्ट चेतन के द्वारा भी मूलाज्ञान का कोई एक अंश किसी क्षण के लिए नष्ट होकर वृत्ति का अभाव होने के कारण अज्ञान पुनःयथावत् बढ़ जाता है।

इसलिए अपरोक्षवृत्ति का प्रयोजन अज्ञानांश का नाश है और परोक्ष वृत्ति का प्रयोजन है असत्व-आपादक अज्ञान के अंश को नष्ट करना। इसलिए उक्त पक्ष में कहा गया है कि उक्त प्रकार से वृत्ति का प्रयोजन आवरण का नष्ट करना है।

द्वितीय पक्ष का यह कथन कि वृत्ति का प्रयोजन जीव चेतन का विषय से सम्बन्ध ही है। उसके विषय में कहते हैं कि मूला-ज्ञान में जीव को प्रतिबिम्ब मानने वाले पक्ष में जीव चेतन का घटादि से सदा सम्बन्ध होते हुये भी जीव-चेतन के सामान्य सम्बन्ध से विषय का प्रकाश न होकर जीव चेतन का विषय से विशेष सम्बन्ध होने पर ही विषय का प्रकाश होता है तथा वृत्ति का प्रयोजन भी वही सम्बन्ध है। यद्यपि विषय से जीव चेतन का सदा सम्बन्ध होते हुए भी वह सम्बन्ध विषय के प्रकाश में कारण नहीं होती, वरन् वृत्ति विशिष्ट जीवचेतन का विषय से सम्बन्ध होने पर ही विषय का प्रकाश हो सकता है अतः प्रकाश का हेतुरूप जो सम्बन्ध है वह वृत्ति होता तथा विषय से जीव

चेतन का प्रकाश का हेतु रूप सम्बन्ध अभिव्यंजक और अभि-व्यंग्य भाव स्वरूप ही होता है। इसलिए घटादि से जीवचेतन का ऐसा भाव रूप सम्बन्ध वृत्ति के ही अधीन होता है। इस प्रकार जीवचेतन के घटादि से विलक्षण सम्बन्ध की हेतु वृत्ति ही है और वही सम्बन्ध विषय को प्रकाशित करता है। जीव-चेतन को विभ मानने वाले पक्ष में विलक्षण सम्बन्ध को उत्पन्न करने वाली वृत्ति ही है और उस वृत्ति का प्रयोजन इस सम्बन्ध को जुटाना है।

अन्त:करण विशिष्ट चेतन को जीव का स्वरूप मानने वाले पक्ष में वृत्ति के बिना, घटादि से जीवचेतन का कुछ भी सम्बन्ध न रहते हुए भी इन्द्रिय के विषय सम्बन्ध से घटादि देश में अन्त: करण की वृत्ति के जाने पर ही घटादि से जीवचेतन का सम्बन्ध हो सकता है, क्योंकि जब तक वृत्ति बाहर गमन न करे तब तक अन्तर में विद्यमान जीव का बाहर अवस्थित घटादि से सम्बन्ध सम्भव नहीं।

दोनों पक्षों में विलक्षणता कथन

इस प्रकार जीव का अज्ञान की उपाधि से होना मानने वाले पक्ष में विषय से जीवचेतन का सदा सम्बन्ध होते हुए भी अभि-व्यंजक-अभिव्यंग्य भाव रूप वह सम्बन्ध सदा नहीं होता, जिसके लिए वृत्ति होती है। इस प्रकार वृत्ति के फल और प्रयोजन के सम्बन्ध में दोनों में विलक्षणता स्पष्ट है।

उक्त विलक्षणता कथन की अयुक्तता

परन्तु मतभेद से उक्त विलक्षणता का कथन युक्त नहीं है, क्योंकि जिस पक्ष में अन्त:करण जीव की उपाधि है, उसमें भ

जीवभाव की उपाधि अज्ञान इष्ट है ही,नहीं तो प्राज्ञरूप जीव का अभान होने से प्रथम मत में जीव भाव की उपाधि सभी के मत में अज्ञान है और द्वितीय मत है, अन्तःकरण विशिष्ट में ही कर्त्तात्वादि का अभिमान संभव है, अज्ञान विशिष्ट में संभव नहीं है। अतः अन्तःकरण अवच्छिन्न चेतन को ही जीव कहा है। जिस पक्ष में जीव को अज्ञान में प्रतिबिम्ब रूप स्वीकार किया है,उसमें भी अन्तःकरण विशिष्ट चेतन को प्रमाता माना है, अज्ञानविशिष्ट चेतन को नहीं। यद्यपि उस पक्ष में विषय से जीव चेतन का सदा सम्बन्ध है, जबकि प्रमातृ चेतन का वैसा सम्बन्ध नहीं, तो भी विषय का प्रकाश जीवचेतन के सम्बन्ध से न मानकर प्रमातृ-चेतन के ही सम्बन्ध से माना है। उसचेतन के सम्बन्ध से भी विषय में ज्ञाततादि व्यवहार या जीवचेतन में ज्ञाततादि का अभिमान नहीं होता, वरन् विषय में ज्ञाततादि व्यवहार और उस व्यवहार का अभिमान प्रमाता के सम्बन्ध से ही होता है और उस प्रमाता के भिन्नदेश में रहने से प्रमाता का विषय से सतत सम्बन्ध न होकर वृत्ति के अधीन ही होता है।

इस प्रकार जीव की उपाधि को व्यापक कहें या परिच्छिन्न परन्तु वृत्ति के अधीन प्रमाता का विषय से सम्बन्ध दोनों पक्षो में समान ही हैं।

चार चेतन का कथन

प्रमाता का विषय से सदा सम्बन्ध न होने से चेतन के चार भेद कहे जाते हैं—(१) प्रमातृचेतन, (२) प्रमाणचेतन, (३) विषयचेतन, और (४) फल चेतन। यदि विषय से प्रमाता का सतत सम्बन्ध हो तो प्रमातृचेतन और विषयचेतन का विभाग कहना युक्त नहीं होगा। क्योंकि उक्त चारों चेतनों में प्रमातृ-चेतन अन्तःकरण विशिष्ट चेतन को कहते हैं। अन्तःकरण विशिष्ट चेतन ही 'प्रमातृ चेतन' और वृत्ति-अवच्छिन्न चेतन ही 'प्रमाण

चेतन कहा जाता है। घटादि अवच्छिन्न चेतन को 'विषय चेतन' कहते हैं और वृत्ति के सम्बन्ध से घटादि में होने वाला चेतन का प्रतिबिम्ब ही 'फल चेतन' कहलाता है।

इस प्रकार प्रमातृ चेतन व्यापक नहीं, परिच्छिन्न है। विषय के प्रकाश में उसी का सम्बन्ध हेतु है। अब जीवचेतन को विभु मानने पर भी विषय से प्रमाता का सम्बन्ध तो वृत्तिजन्य ही माना जायगा। इस प्रकार विषय सम्बन्ध में दोनों ही मतों में कोई विलक्षता प्रतीत नहीं होती।

अवस्थाओं का लक्षण

इस प्रकार जाग्रत् अवस्था में पहले कहे हुये प्रयोजन वाली अन्तःकरण की वृत्ति इन्द्रिय से उत्पन्न होती है। इसके विपरीत जो इन्द्रिय से उत्पन्न न होने वाली विषयगोचर अन्तःकरण की प्रत्यक्ष वृत्ति हैं, उसकी अवस्था ही स्वप्नावस्था कहलाती है। क्योंकि स्वप्न में ज्ञान और ज्ञेय अन्तःकरण से ही होते हैं।

सुषुप्ति अवस्था अज्ञान के प्रत्यक्ष परिणाम रूप सुखगोचर तथा अविद्यागोचर वृत्ति की ही अवस्था को कहते हैं। यद्यपि 'मैं नहीं जानता' इस जाग्रत् अवस्था में भी अविद्यागोचर वृत्ति होती तो है, परन्तु वह अविद्या की वृत्ति न होकर अन्तःकरण की ही होती है। अतएव जाग्रत् में सुषुप्ति के लक्षण की अति व्याप्ति नहीं हो सकती। जाग्रत् में प्रतिभासित रजताकार वृत्ति अविद्या गोचर न होकर अविद्या का परिणाम ही है। इसी प्रकार जाग्रत् में होने वाली सुखाकार वृत्ति प्रातिभासिक नहीं, वरन् अन्तःकरण का ही परिणाम है। इस प्रकार अविद्यागोचर और सुख-गोचर अविद्यावृत्ति की जो अवस्था है उसी को सुषुप्ति अवस्था समझना चाहिये।

वृत्तिभेद से अवस्था भेद

सुषुप्ति अवस्था में अविद्या की वृत्ति में स्थित साक्षीअविद्या और स्वरूप सुख दोनों का ही प्रकाश करता है। इस अवस्था में जिस अज्ञानांश का परिणाम सुखाकार होता है उसी में अन्तःकरण लीन रहता है। जाग्रत् में उसी अज्ञानांश का परिणाम अन्तःकरण रूप होने से अनुभूत सुख की स्मृति अन्तःकरण की वृत्ति से होती है और उपादान तथा कार्य में भेद न होने से अनुभव में तथा स्मरण में व्यधिकरणत्व नहीं होता।

इस प्रकार जीव की तीन अवस्था होती हैं। इन अवस्थाओं का भेद भीं वृत्ति से ही है। जाग्रत् और स्वप्न में अन्तःकरण की और सुषुप्ति में अज्ञान की वृत्ति होती है। परन्तु जाग्रत् में इन्द्रियजन्य वृत्ति होती है जबकि स्वप्न में वृत्ति इन्द्रिय से उत्पन्न नहीं होती।

वृत्ति का प्रयोजन मोक्ष

इस प्रकार अवस्था का अभिमान बन्धक रूप है और भ्रमज्ञान ही अभिमान है। उसे भी वृत्ति विशेष ही कहना चाहिए। परन्तु अन्तःकरण की वृत्ति 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप हो तो उससे अज्ञान का प्रपंच सहित निवारण होजाता है और वह अज्ञान का निवारण ही मोक्ष है,इसलिए वृत्ति का परम प्रयोजन मोक्ष ही है।

इस प्रकार अज्ञान का प्रपंच सहित निवारणादि सब अनिर्वचनीय और उसका बार है अधिष्ठान स्वरूप मोक्ष। उसी को परमानन्द अद्वैत रूप परम पुरुषार्थ समझना चाहिए।

॥ वृत्ति प्रभाकर सम्पूर्ण ॥

अ. भा. ओंकार परिवार की स्थापना

ॐ परमात्मा का सर्वश्रेष्ठ व स्वाभाविक नाम है। इसे मन्त्र शिरोमणि, मन्त्र सम्राट, मन्त्र राज, बीजमन्त्र और मन्त्रों का सेतु आदि उपाधियों से विभूषित किया जाता है। इसे श्रेष्ठतम् महानतम् और पवित्रतम् मन्त्र की संज्ञा भी दी जाती है। सारे विश्व में इसकी तुलना का कोई मन्त्र नहीं है। ॐ सभी मन्त्रों को अपनी शक्ति से प्रभावित करता है। सभी मन्त्रों की शक्ति ओंकार की ही शक्ति है। यह शक्ति और सिद्धिदाता है। भौतिक व आत्मिक उत्थान के लिए कोई भी दूसरी श्रेष्ठ व सरल साधना नहीं है।

सभी महर्षिमुनि ॐ की शक्ति और साधना से ही अपना आत्मिक उत्थान करते रहे हैं। परन्तु आज आश्चर्य है कि ॐ का अन्य मन्त्रों की तरह व्यापक प्रचार नहीं है। इस कमी का अनुभव करते हुए अ० भा० ओंकार परिवार की स्थापना की गई है। आप भी अपने यहाँ इसका एक प्रचार केन्द्र स्थापित करें। शाखा स्थापना का सारा साहित्य निःशुल्क रूप से प्रधान कार्यालय, बरेली से मँगवा लें, आपको केवल इतना करना है कि स्वयं ओंकारोपासना आरम्भ करके ४ अन्य मित्रों व सम्बन्धियों को प्रेरित करें और सभी संकल्प पत्र व शाखा स्थापना का प्रार्थना पत्र प्रधान कार्यालय को भिजवा दें। इस वर्ष २७००० साधकों द्वारा ६०० करोड़ मन्त्रों के जप का महापुरश्चरण पूर्ण किया जाना है। आशा है ओंकार को जन-जन का मन्त्र बनाने के इस श्रेष्ठतम् आध्यात्मिक महायज्ञ में सम्मिलित होकर महान् पुण्य के भागी बनेंगे।

विनीत :—

संस्कृति संस्थान **चमनलाल गौतम**

ख्वाजाकुतुब, वेदनगर, बरेली–२४३००३ (उ.प्र.)

एक मौन व्यक्तित्व का मौन समर्पण

—★—

डा० चमनलाल गौतम-एक व्यक्ति का नहीं वरन् ऐसे विशाल धार्मिक संस्थान का नाम है जो सतत् २४ वर्षों से ऋषि प्रणीत आर्ष साहित्य के शोध, प्रकाशन और व्यापक साहित्य प्रचार का कार्य देश विदेश में करता रहा है। यह उनकी तप साधना का ही परिणाम है कि किसी भी आर्थिक सहयोग के बिना वेद, उपनिषद्, दर्शन, स्मृतियाँ, पुराण व मन्त्र-तन्त्र आदि साधनात्मक साहित्य की ३०० से अधिक पुस्तकों को प्रकाशित करके घर-घर में पहुंचाने की पवित्रतम साधना कर रहे हैं। मन्त्र-तन्त्र, योग, वेदान्त व अन्य धार्मिक विषयों पर १५० खोज पूर्ण ग्रन्थों का लेखन, सम्पादन एक ऐसा अविस्मरणीय व असाधारण कार्य है जिस पर उनके अथक श्रम, गम्भीर अध्ययन, तप, प्रतिभा और मौलिक सूझ-बूझ की स्पष्ट छाप दिखाई देती हैं। स्वस्थ साहित्य की रचना और प्रचार का उनकी जीवन योजना का यह पहला चरण पूरा हुआ।

पिछले २४ वर्षों से लगातार चल रही आध्यात्मिक साधना के महा-पुरश्चरण का दूसरा चरण भी समाप्त हो रहा है। तीसरे चरण आध्यात्मिक साधनाओं और अनुभूतियों के विश्वव्यापी विस्तार का शुभारम्भ अ० भा० ओंकार परिवार की स्थापना के साथ बसन्तपञ्चमी की परम पवित्र बेला के साथ हो गया है। अतः उनका शेष जीवन तीसरे चरण की सफलता, ओंकार परिवार की शाखाओं के व्यापक विस्तार के माध्यम से करोड़ों व्यक्तियों को ओंकार साधना में प्रविष्ट करके उच्च आध्यात्मिक भूमिका में प्रशस्त करना, ओंकार अथवा उच्च आध्यात्मिक साहित्य की रचना व प्रचार-प्रसार को समर्पित है।

—स्वामी सत्य भक्त